मध्य एशिया तथा चीन में भारतीय संस्कृति

[पश्चिमी एशिया, अफगानिस्तान, मध्य एशिया, चीन,
तिब्बत, कोरिया और जापान]

5541

लेखक

सत्यकेतु विद्यालंकार डी. लिट. (पेरिस)
(गोविन्दबल्लभ पन्त पुरस्कार, मोती लाल नेहरू पुरस्कार तथा
मंगलाप्रसाद पारितोषिक द्वारा सम्मानित)

प्रकाशक

श्री सरस्वती सदन, मसूरी

विक्रय केन्द्र—ए-१/३२ सफदरजंग एन्क्लेव, नई दिल्ली-१६

तीसरा संस्करण १९८०] [मूल्य २० रुपये

प्रकाशक :
श्री सरस्वती सदन, मसूरी
एवम्
ए-१/३२, सफदरजंग एन्कलेव
नई दिल्ली-१६

मुद्रक .
अजय प्रिंटर्स
दिल्ली-३२

प्रस्तावना

प्राचीन काल मे भारत के सास्कृतिक साम्राज्य का क्षेत्र अत्यन्त विशाल था। एशिया के प्राय· सभी देश उस समय भारत के धर्म तथा संस्कृति से प्रभावित थे। अफगानिस्तान तब भारत का उसी प्रकार से अग था, जैसे कि काश्मीर, कलिङ्ग (उडीसा) और आध्रप्रदेश आदि थे। मध्य एशिया मे तब बहुत-से भारतीय उपनिवेशो की सत्ता थी, जिनमे खोतन तथा कुची प्रधान थे। वर्तमान समय मे राजनीतिक दृष्टि से मध्य एशिया के दो भाग हैं, चीनी तुर्किस्तान (सिंगकियाग) और रूसी तुर्किस्तान, जिसमे उजबक, खिरगिज आदि के समाजवादी सोवियत गणराज्य विद्यमान हैं। मध्य एशिया के इन दोनो भागो के निवासी अब इस्लाम को अपना चुके है, और भारतीय सस्कृति से उनका विशेष सम्पर्क नही रहा है। पर प्राचीन काल मे यहाँ भारतीय धर्मों का प्रचार था, सस्कृत ग्रन्थो का पठन-पाठन होता था, लिखने के लिये ब्राह्मी तथा खरोष्ठी लिपियो का प्रयोग किया जाता था, और राजकीय कार्यों तथा परस्पर व्यवहार के लिये सस्कृत भाषा प्रयुक्त की जाती थी। गत वर्षों मे मध्य एशिया मे पुरातत्त्व-सम्बन्धी जो खोज हुई है, उससे रेत की ढेरियो के नीचे दबे हुए बहुत-से स्तूप, गुहामन्दिर तथा चैत्य प्रकाश मे आये है, और सस्कृत के कितने ही हस्तलिखित ग्रन्थ तथा अभिलेख भी उपलब्ध हुए है। शक, युइशि, हूण आदि जिन विविध जातियो ने मध्य एशिया के भारतीय राज्यों पर आक्रमण किये, भारतीयो के सम्पर्क मे आकर उन्होने भी इस देश के धर्म, भाषा और सस्कृति को अपना लिया।

भारत के धर्मप्रचारक चीन, तिब्बत, मगोलिया, कोरिया और जापान भी गये, और वहाँ जाकर उन्होने अपने धर्म का प्रचार किया। इन देशो की भाषाएँ सीख कर सस्कृत के ग्रन्थो का उन्होने वहाँ की भाषाओ में अनुवाद किया, और वहाँ अनेक विद्यापीठो तथा अनुवाद-सस्थानो की स्थापना की। बौद्ध धर्म के जो बहुत-से ग्रन्थ आज सस्कृत व पालि भाषाओं मे उपलब्ध नही हैं, वे उनके चीनी तथा तिब्बती अनुवादो मे प्राप्य है। भारत के विद्वानो और धर्मप्रचारको ने चीन, तिब्बत, मगोलिया आदि सुदूर देशो मे भारत का जो विशाल सास्कृतिक साम्राज्य स्थापित किया था, वह वस्तुत अनुपम था और वह वर्तमान समय मे भी विद्यमान है।

विदेशो मे भारतीय सस्कृति की सत्ता के सम्बन्ध मे खोज का प्रधान श्रेय फ्रेञ्च तथा जर्मन विद्वानो को है। यही कारण है, जो इस विषय की पुस्तकें अग्रेजी मे बहुत कम लिखी गई है, और भारतीय पाठको को अपने देश के इस गौरवमय सास्कृतिक साम्राज्य का विशेष परिचय नही है। मैंने प्रयत्न किया है, कि मध्य एशिया, चीन, तिब्बत आदि मे भारतीय सस्कृति की सत्ता के सम्बन्ध मे जो सामग्री अब तक प्रकाश मे आयी है, उसे सक्षिप्त एवं सुपाठ्य रूप से हिन्दी मे प्रस्तुत करूँ। मुझे आशा है, इस पुस्तक द्वारा भारतीय सस्कृति के गौरवमय प्राचीन इतिहास का एक अध्याय पाठको के सम्मुख आ जाएगा और इस सम्बन्ध मे अधिक जानकारी प्राप्त करने की जिज्ञासा भी उनमे उत्पन्न हो जायगी।

इस पुस्तक मे जो अनेक चित्र दिये गये है, उनकी प्राप्ति के लिये मैं नेशनल म्यूजियम, नई दिल्ली तथा भारतीय पुरातत्त्व विभाग के प्रति आभार प्रगट करता हू।

—सत्यकेतु विद्यालंकार

/

सहायक ग्रन्थ

Andrews, F. H : Wall Paintings from Ancient Shrines in Central Asia

Bagchi, P. C. : India and Central Asia

Bagchi, P. C · India and China

Bagchi, P C · Le Canon Bouddhique en China (2 vols.)

Barthoux, J. : Les Fouilles de Hadda

Chakravarti, N P : India and Central Asia

Chou Hsiang-Kuang · Indo-Chinese Relations.

Foucher, A L'Art Greco-Bouddhique du Gandhar

Ghoshal, U N : Ancient Indian Culture in Afghanistan.

Godard A, Godard Y, Hackin J : Les Antiquites Bouddhiques de Bamiyan

Grousset, R. : In the Footsteps of the Buddha

Hackin, J. . The Colossal Buddhas at Bamiyan

Hackin, J · Researches Archeologiques a Begram

Hackin, J Carl J : Diverses Researches Archeologiques en Afghanistan,

Kshanika Saha · Buddhism and Buddhist Literature in Central Asia.

Le Coq, Albert Von : Buried Treasures of Chinese Turkistan (Translated by Anna Barwell)

Mcgovern, W M : The Early Empires cf Central Asia

Pelliot P Mission en Asie Centrale

Rowland B · The Art and Architecture of India

Stein Sir Aurel Innermost Asia

Stein Sir Aurel . Serindia

Stein. Sir Aurel · Ancient Khotan.

Sylvain Levi : The Mission of Wang Hieuen-tse (translated by S P Chatterjee)

Zurcher E The Buddhist Conquest of China (2 vols)

राहुल साकृत्यायन बौद्ध सस्कृति

राहुल साकृत्यायन . मध्य एशिया का इतिहास

विषय सूची

चित्र-सूची

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन. ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवा ।।

पहला अध्याय

विषय प्रवेश

(१) बृहत्तर भारत का क्षेत्र—अफगानिस्तान और मध्य एशिया

ब्रिटिश शासन मे जो भारत-भूमि थी, वह इस समय तीन राज्यो मे विभक्त है। ये राज्य है, भारत, पाकिस्तान और बगलादेश। राजनीतिक दृष्टि से ये राज्य अब एक-दूसरे से पृथक् हैं, पर ऐतिहासिक, भौगोलिक और सास्कृतिक दृष्टियो से इनकी एकता से इन्कार नही किया जा सकता। इन तीनो राज्यो का अब तक का इतिहास एक रहा है, और इनके बीच की जो सीमाएँ निर्धारित की गई हैं, वे भूगोल की दृष्टि से स्वाभाविक नही है। भविष्य मे इन राज्यो का विकास चाहे पृथक् रूप से हो, पर विगत काल मे इनका विकास एक देश के समान और एक ढग से हुआ है। अत बृहत्तर भारत का वृत्तान्त लिखते हुए हम भारत-भूमि के वर्तमान राजनीतिक विभाग की उपेक्षा कर भारत की उन्ही सीमाओ को दृष्टि मे रखेंगे, जो कि पाकिस्तान के निर्माण से पूर्व इस देश की थीं। यही नही, ब्रिटिश युग के भारत के अतिरिक्त कतिपय अन्य भी ऐसे प्रदेश है, जिनका प्राचीन काल मे भारत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि ये प्रदेश प्राचीन काल मे भारत-भूमि के उसी ढग से अग थे, जैसे कि बलोचिस्तान और काश्मीर थे। इन प्रदेशों मे नेपाल और अफगानिस्तान को अन्तर्गत किया जा सकता है।

सिन्ध नदी के पश्चिम मे स्वात (सुवास्तु) पजकोरा (गौरी) और कुनार नदियाँ काबुल (कुभा) नदी मे मिलती है, और फिर यह कुभा नदी सिन्ध मे आ मिलती है। स्वात, पजकोरा, कुनार और काबुल नदियो से सिंचित यह प्रदेश प्राचीन काल मे पश्चिमी गान्धार देश कहलाता था और इसकी राजधानी पुष्कलावती थी। इस पुष्कलावती नगरी के भग्नावशेष स्वात और काबुल नदियो के सगम पर उपलब्ध हुए है। पश्चिमी गान्धार से और आगे पश्चिम की ओर चलने पर हिन्दूकुश पर्वत के साथ का प्रदेश प्राचीन समय मे कपिश देश कहलाता था। कपिश के पश्चिम-उत्तर मे आजकल बदख्शाँ और बल्ख है, जिन्हे प्राचीन काल मे कम्बोज और वाह्लीक देश कहते थे। ये विविध प्रदेश अब भारत के अन्तर्गत नही है, पर प्राचीन समय मे ये भारत के ही अग थे, और इनमें भी भारतीय आर्यों के विविध राज्य विकसित हुए थे। भारत के चक्रवर्ती सम्राटो का यह प्रयत्न रहता था, कि इन सबको जीत कर अपने साम्राज्य मे सम्मिलित करें। चन्द्रगुप्त मौर्य और गुप्तवंशी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य जैसे प्रतापी सम्राट् अपने इस प्रयत्न मे सफल भी हुए थे।

वैदिक युग मे अफगानिस्तान भारत का उसी प्रकार से अग था, जैसे कि सप्त-सैन्धव और गगा-यमुना का प्रदेश। अफगानिस्तान की कुभा (काबुल), क्रुमु(खुर्रम), गोमती (गोमल) और सुवास्तु (स्वात)नदियों का ऋग्वेद मे उल्लेख है। इस देश का नाम जो गान्धार पडा, उसका कारण वहाँ राजा गान्धार द्वारा अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करना ही था। राजा गान्धार का सम्बन्ध ऐल वश के साथ था, जो मानव वश की एक शाखा था। इसके राजा उसी प्रकार से आर्य या भारतीय थे, जैसे कि हस्तिनापुर, अहिच्छत्र आदि के राजा थे। यही कारण है कि जब कुरु देश(हस्तिनापुर)के राजा सवरण पर पचाल(अहिच्छत्र) के राजा सुदास ने आक्रमण किया, तो सुदास का सामना करने के लिए पश्चिम के अनेक राजाओ ने सवरण की सहायता की। सवरण के इन सहायको मे पक्थ (पक्थून या पठान) लोग भी थे, जो गान्धार के निवासी थे। इस युद्ध का उल्लेख ऋग्वेद के एक सूक्त(७, १८) मे किया गया है, जिससे पक्थो के देश का भारत का अग होने का स्पष्ट रूप से सकेत मिलता है। बौद्ध साहित्य मे भारत के जिन सोलह महाजनपदो का परिगणन किया गया है, गान्धार और कम्बोज भी उनमे हैं। सिकन्दर के आक्रमण से पूर्व चौथी सदी ई० पू० मे गान्धार देश दो भागो मे विभक्त था। पूर्वी गान्धार की राजधानी तक्षशिला नगरी थी, और उसका राजा आम्भि था। पश्चिमी गान्धार सिन्ध नदी के पश्चिम मे था, और उसकी राजधानी पुष्कलावती थी। सिकन्दर के आक्रमण के समय वहाँ का राजा अस्तक (हस्ती या अष्टक)था। पश्चिमी गान्धार के उत्तर-पश्चिम मे भी उस समय अनेक आर्य जनपदो या राज्यो की स्थिति थी, जिनका उल्लेख ग्रीक लेखको के विवरणो मे विद्यमान है। चन्द्रगुप्त मौर्य ने गान्धार तथा उसके समीपवर्ती विविध राज्यो को अपने साम्राज्य मे सम्मिलित कर लिया था, और ये चिरकाल तक मागध साम्राज्य के अन्तर्गत रहे। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि अफगानिस्तान प्राचीन समय मे भारत का ही एक अग था, और उसके निवासी सभ्यता, धर्म तथा सस्कृति की दृष्टि से भारतीय ही थे। अफगानिस्तान की यह स्थिति वैदिक काल से लगा कर दसवी सदी ईस्वी पश्चात् तक रही, जबकि तुर्को ने उसे जीत कर अपने अधीन कर लिया। मुगलो के समय मे यह प्रदेश एक बारफिर भारत का अग बना, यद्यपि ईरान भी उसे अपनी अधीनता मे लाने का प्रयत्न करता रहा।

अफगानिस्तान के उत्तर-पश्चिम मे बदख्शाँ का प्रदेश है, जिसे प्राचीन काल मे कम्बोज जनपद कहते थे। इसकी गिनती भी बौद्धकाल के सोलह भारतीय महाजनपदो मे की गई है। बदख्शाँ से और आगे बल्ख का प्रदेश है, जिसका प्राचीन नाम बाह्लीक था। ग्रीक लोग इसे बैक्ट्रिया कहते थे। बल्ख के उत्तर मे आमू (वक्षु)नदी बहती है। आमू और सीर(रसा) नदियो के बीच का प्रदेश प्राचीन समय मे सुग्ध देश कहलाता था। यहाँ भी भारतीय आर्य जातियो का ही निवास था। छठी सदी ईस्वी पूर्व मे इसे ईरान के हखामनी सम्राटो ने अपने अधीन कर लिया, और सुग्ध देश ईरानी साम्राज्य मे सम्मिलित हो गया। बाद मे ग्रीक, शक और पार्थियन लोगो ने कम्बोज, बाह्लीक और सुग्ध पर शासन किया, और राजनीतिक दृष्टि से ये प्रदेश भारत से पृथक् हो गये। पर इन प्रदेशो के नये शासक व निवासी भी भारतीय धर्म तथा संस्कृति के

प्रभाव में आ गए थे, और उन्होंने भारतीय भाषा तथा लिपि को भी अपना लिया था।

वाह्लीक और सुग्ध देशों के पूर्व की ओर तिब्बत के उत्तर में जो विस्तृत पठार है, वर्तमान समय में उसे चीनी तुर्किस्तान या सिंगकियांग कहते हैं। प्राचीन समय में वहाँ भी भारतीय धर्म तथा संस्कृति का प्रचार था। यह सुविस्तृत प्रदेश राजनीतिक दृष्टि से कभी भारत के अन्तर्गत नहीं रहा। पर यह बृहत्तर भारत का अंग अवश्य था। इसमें भारतीयों की अनेक बस्तियों की सत्ता थी, और वहाँ के निवासियों ने बौद्ध धर्म को अपना लिया था। यही कारण है, जो वहाँ बहुत-से बौद्ध विहारों के भग्नावशेष उपलब्ध हुए हैं। बृहत्तर भारत के इस महत्वपूर्ण अंग को भलीभाँति समझने के लिए यह उपयोगी है, कि इसके भूगोल तथा मार्गों पर दृष्टिपात किया जाए।

भारतीय सभ्यता और संस्कृति का यह महत्त्वपूर्ण केन्द्र पूर्व से पश्चिम तक लम्बाई में प्राय ९०० मील है, और उत्तर से दक्षिण की ओर इसकी अधिकतम चौड़ाई ३०० मील है। इसके दक्षिण में क्युनलुन पर्वतमाला है, और उत्तर में थियानशान पर्वत है। पूर्व में गोबी मरुस्थल और लोपनौर की झील इसे ठेठ चीन से पृथक् करते हैं, और इसके पश्चिम में पामीर की पर्वतमाला की स्थिति है। इस सुविस्तृत प्रदेश के बड़े भाग में तकलामकान का मरुस्थल है, जिसके चारों ओर अनेक स्थानों पर हरी-भरी भूमि विद्यमान है। इन्हीं स्थानों पर प्राचीन काल में उन बस्तियों का विकास हुआ, जो भारतीय सभ्यता और संस्कृति की महत्त्वपूर्ण केन्द्र थीं। इस सुविस्तृत प्रदेश में अनेक नदियाँ भी हैं, जो क्युनलुन की पर्वतमाला से निकल कर उत्तर की ओर बहती हैं। इनमें सबसे मुख्य तारीम नदी है, जो क्युनलुन से निकल कर पश्चिम से पूर्व की ओर बहती हुई लोपनौर झील में गिर जाती है। तारीम की दो सहायक नदियाँ यारकन्द और खोतन हैं, जिनका उद्गम-स्थान क्युनलुन पर्वतमाला ही है। ये भी दक्षिण से उत्तर की ओर बहती हुई तारीम नदी में मिल जाती हैं। खोतन नदी के पूर्व में अन्य भी अनेक छोटी-छोटी नदियाँ हैं, जो क्युनलुन से निकलकर तकलामकान की मरुभूमि में लुप्त हो जाती हैं। इनमें से एक नदी चलमद है, जो मरुभूमि में लुप्त न हो कर लोपनौर झील तक चली गई है। पर इस क्षेत्र की अनेक नदियाँ प्राचीन काल में अधिक दूरी तक बहा करती थीं, और उनके किनारों पर समृद्ध बस्तियाँ भी बसी हुई थीं, जिनके भग्नावशेष तकला मकान के मरुस्थल में इस समय उपलब्ध हुए हैं।

तकला मकान के मरुस्थल के कारण इस प्रदेश की प्राचीन बस्तियाँ, जो भारतीय सभ्यता और संस्कृति की केन्द्र थीं, दो भागों में बँट गई थीं। तारीम नदी के उत्तर में काशगर (खश), तुर्फान (काओशाग), अक्सू, भरुक, कुचि और काराशहर आदि की सत्ता थी, और दक्षिण में यारकन्द (चौक्कुक), खोतन, नीया और चर्चन आदि की। राजनीतिक दृष्टि से भारत के अन्तर्गत न होते हुए भी ये सब भारतीय सभ्यता की केन्द्र थीं, और बृहत्तर भारत की महत्त्वपूर्ण अङ्ग थीं। पामीर की पर्वतमाला से गोबी के मरुस्थल के बीच के प्रदेश से भारतीय संस्कृति के जो अवशेष उपलब्ध हुए हैं, उनसे यह भलीभाँति प्रमाणित हो जाता है कि कोई एक सहस्र वर्ष से भी अधिक समय तक यह क्षेत्र बृहत्तर भारत में सम्मिलित रहा। इसी कारण फ्रांस के विद्वानों ने इसे सरिन्डिया

(Ser-India) का नाम दिया है, जिसे हिन्दी में "उपरला हिन्द" कहा जा सकता है। यह उपरला हिन्द पश्चिमी बदख्शाँ (कम्बोज) से शुरू होता था, और पूर्व मे लोपनौर झील तथा गोबी के मरुस्थल तक विस्तृत था। इसमे अनेक राज्यो या जनपदो की स्थिति थी, जो तकला मकान मरुस्थल के उत्तर तथा दक्षिण मे विद्यमान थे। इन्ही की नगरियो के अवशेष इस समय काशगर, यारकन्द, नीया, खोतन, कुचि आदि मे उपलब्ध हुए हैं।

तकला मकान के सुविस्तृत मरुस्थल के कारण मध्य एशिया (चीनी तुर्किस्तान या सिगकियाग) के इस क्षेत्र मे उस ढग से किसी एक साम्राज्य का विकास नही हो सका, जैसे कि भारत मे हुआ था। पर अनेक प्रतापी राजा इस क्षेत्र के विविध राज्यो को अपने प्रभुत्त्व मे ला सकने मे समर्थ हुए। कुशाण वशी राजा कफस का शासन इस क्षेत्र के अनेक राज्यो पर विद्यमान था, और खोतन के राजा नीया से काशगर तक के तेरह राज्यो को अपने आधिपत्य मे ले आने मे सफल हुए थे (प्रथम सदी ई०पू०)। बाद मे कुछ समय के लिए ये सब राज्य चीन की अधीनता में भी रहे थे।

भारतीय सस्कृति के प्रचार व प्रसार के लिए मध्य एशिया के इस क्षेत्र का अनेक दृष्टियो से महत्त्व है। चीन से पश्चिमी एशिया और भारत आने-जाने वाले मार्ग इसी क्षेत्र मे विद्यमान थे, और विविध देशो के व्यापारी चीन जाने-आने के लिए इन्ही मार्गों का उपयोग किया करते थे। भारत से उत्तर-पश्चिम की ओर जाने वाला मार्ग पुरुषपुर (पेशावर), नगरहार (जलालाबाद) और बामियान होकर काबुल नदी के साथ-साथ हिन्दूकुश को पार करता था, और फिर कम्बोज (बदख्शां) होता हुआ पामीर पर्वतमाला को पार कर काशगर पहुँच जाता था। काशगर से यह मार्ग दो भागो मे विभक्त हो जाता था, उत्तरी मार्ग और दक्षिणी मार्ग। उत्तरी मार्ग तकला मकान मरुस्थल के उत्तर मे अक्सू, भरुक, कुचि, अग्निदेश और तुर्फान आदि के राज्यो से होता हुआ ठेठ चीन की पश्चिमी सीमा पर जा पहुँचता था, और दक्षिणी मार्ग यारकन्द, खोतन, नीया, चर्चन आदि से होकर लोपनौर झील तक जाता था। ठेठ चीन की पश्चिमी सीमा पर तुङ्-ह्वाङ् के समीप ये दोनो मार्ग एक-दूसरे से मिल जाते थे। अशोक की धर्मविजय की नीति से जब बौद्ध प्रचारको ने भगवान् तथागत के अष्टांगिक आर्य-मार्ग का देश देशान्तर मे प्रचार प्रारम्भ किया, तो उन्होने मध्य एशिया तथा चीन मे जाने के लिए इन्ही मार्गों का अनुसरण किया, और इनके साथ-साथ बसे हुए सब जनपदो तथा नगरो के निवासियो को बुद्ध का अनुयायी बनाने मे उन्होने अनुपम सफलता प्राप्त की।

चीन के उत्तर-पश्चिम से जो अनेक जातियाँ दक्षिण तथा पश्चिम की ओर फैलनी शुरू हुई उन्होने भी इन्ही मार्गों का उपयोग किया, जिसके कारण वे इनके समीपवर्ती प्रदेशो मे विद्यमान ऐसी बस्तियो के सम्पर्क मे आयी, जो कि भारतीय धर्म तथा संस्कृति के प्रभाव मे आ चुकी थी। परिणाम यह हुआ, कि उन्होने भी भारतीय सस्कृति को अपना लिया। इन जातियो मे तुखार, युइशि (ऋषिक) और हूण उल्लेखनीय है। युइशि लोग लोपनौर झील के समीपवर्ती प्रदेश के निवासी थे, और तुखार

लोग उनके पश्चिम के उस प्रदेश के जो कि थियानशान पर्वतमाला के उत्तर मे था। हूणो का निवास मंगोलिया तथा उसके उत्तर मे इर्तिश से आमूर नदी तक के प्रदेश मे था। वे बहुधा चीन पर आक्रमण करते रहते थे, जिनसे अपने राज्य की रक्षा करने के लिए सम्राट शी हुआग-ती (तीसरी सदी ईस्वी पूर्व) ने चीन की प्रसिद्ध दीवार का निर्माण कराया था। इस दीवार के बन जाने के कारण हूणो के लिए चीन पर आक्रमण कर सकना सम्भव नही रहा। अब उन्होंने पश्चिम-दक्षिण की ओर आगे बढ कर उस प्रदेश पर हमले प्रारम्भ किए (दूसरी सदी ईस्वी पूर्व), जहाँ युइशि लोगो का निवास था। युइशि लोग हूणो के सम्मुख नही टिक सके, और उन्होने पश्चिम की ओर बढकर तुखारो के प्रदेश मे प्रवेश किया। तुखार लोगों को उन्होने अपने अधीन कर लिया। पर हूणो ने युइशि लोगो को वहाँ भी चैन से नही रहने दिया। हूणो के आक्रमणो ने उन्हे वहाँ से प्रस्थान करने के लिए विवश किया, और वे थियानशान पर्वतमाला को पार कर सीर नदी की घाटी मे पहुच गए। इस घाटी मे शको का निवास था। युइशि आक्रमण से शक परास्त हो गए, और सीर की घाटी पर युइशि तथा तुखार जातियो का प्रभुत्व स्थापित हो गया। युइशि और तुखार भी विशाल शक जाति की ही शाखाएँ थे, पर वे अभी घुमन्तू दशा मे थे, जबकि सीर की घाटी मे बसी हुई शक जाति अपनी स्थायी बस्तियाँ व नगरियाँ बसा चुकी थी। तारीम नदी की घाटी मे स्थित कुचि आदि राज्यो के निवासी भी तुखार ही थे। युइशियो से धकेले जाकर शको ने दक्षिण की ओर प्रस्थान किया, और उनकी विविध शाखाएँ ईरान, अफगानिस्तान तथा भारत मे प्रविष्ट हो गईं। शको का पीछा करते हुए युइशि तथा तुखार लोगो ने बदख्शाँ तथा बल्ख पर भी कब्जा कर लिया, और वहा से आगे बढते हुए वे अफगानिस्तान तथा भारत के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र मे भी आ गये। भारतीय सस्कृति के प्रसार की दृष्टि से मध्य एशिया के क्षेत्र मे इन विविध जातियो के प्रवेश का विशेष महत्व है। इस क्षेत्र मे भारतीय सभ्यता और सस्कृति का पहले ही प्रसार हो चुका था। वहाँ के निवासियो के सम्पर्क मे आकर शक, तुखार, युइशि और हूण लोगों ने भी भारतीय धर्म, भाषा तथा सस्कृति आदि को अपना लिया। भारत के इतिहास मे इन जातियो का विशिष्ट स्थान है। पश्चिमी भारत मे शको के अनेक राज्य स्थापित हुए थे, और कुशाण वशी जिन राजाओ ने भारत मे अपने सुविशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, वे युइशि (ऋषिक) जाति के ही थे। पर इन राजाओ का शासन केवल भारत मे ही नही था। गान्धार, कपिश, कम्बोज, वाह्लीक तथा मध्य एशिया के विविध प्रदेश भी उनके शासन मे थे। शको और युइशियो के उत्कर्ष के काल मे भारत के उत्तर-पश्चिम मे विद्यमान यह सुविस्तृत क्षेत्र राजनीतिक दृष्टि से भी भारत का एक अंग बन गया था।

मध्य एशिया के विविध राज्यो का राजनीतिक इतिहास इस समय क्रमबद्ध रूप से उपलब्ध नही है। पर वहाँ प्राचीन काल के जो बहुत-से अवशेष खोज द्वारा प्राप्त हुए हैं, उनसे इन राज्यो की संस्कृति, धर्म और भाषा आदि के सम्बन्ध मे समुचित जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

(२) बृहत्तर भारत का क्षेत्र—तिब्बत और चीन

प्राचीन काल मे अफगानिस्तान और उससे उत्तर-पश्चिम के बदख्शां और बल्ख के प्रदेशों मे अनेक ऐसे राज्यो और जनपदो की सत्ता थी, जिनका स्वरूप उस काल के भारतीय जनपदो के सदृश था। मध्य एशिया के विविध राज्य भारतीय सभ्यता, धर्म और संस्कृति से प्रभावित थे, और सास्कृतिक दृष्टि से उन्हे भारतीय कहा जा सकता था। तिब्बत की स्थिति मध्य एशिया के दक्षिण-पूर्व में है, और चीन की इस क्षेत्र के पूर्व मे। इनमे न भारतीय उपनिवेशो की स्थापना हुई, और न ही सास्कृतिक दृष्टि से ये पूर्णतया भारतीय बने। पर भारत के बौद्ध प्रचारक इन देशो मे धर्म के प्रचार के लिए गए, वहाँ के निवासियो को उन्होने भगवान् तथागत का अनुयायी बनाया, और अपने देश की सस्कृति से उन्हे प्रभावित किया। इस कारण जहाँ तक सस्कृति का सम्बन्ध है, ये देश भी बृहत्तर भारत के अन्यतम अग बन गये।

भारत और चीन का व्यापारिक सम्बन्ध बहुत प्राचीन समय मे भी विद्यमान था। यह व्यापार स्थल और जल दोनो मार्गों से होता था। मध्य एशिया के जिन मार्गों का उल्लेख पिछले प्रकरण मे किया गया है, उनसे होकर चीनी व्यापारी पश्चिम के राज्यो में आया-जाया करते थे और उनसे भारतीय माल का क्रय किया करते थे। इसी प्रकार बगाल की खाडी से प्रशान्त महासागर तक के सामुद्रिक मार्ग द्वारा भी दोनो देशो मे व्यापार की सत्ता थी। यही कारण है, जो महाभारत और मनुस्मृति मे चीन का उल्लेख है, और कौटलीय अर्थशास्त्र मे चीन के रेशम का जिक्र मिलता है। इसी प्रकार चीन के प्राचीन ग्रन्थो मे हिन्द महासागर तथा चीन सागर के तटवर्ती कतिपय बन्दरगाहो का उल्लेख है, जिनमें एक हुआग-ची भी है। इसे कावी का चीनी रूप स्वीकार किया गया है। दूसरी सदी ई० पू० तक भारत और चीन का पारस्परिक व्यापार प्राय समुद्र मार्ग से ही हुआ करता था। पर दूसरी सदी ई० पू० के उत्तरार्द्ध से इस स्थिति मे परिवर्तन आना प्रारम्भ हुआ। चीन के सम्राट वू ती (१४२-८५ ई० पू०) ने १३८ ई० पू० मे चाग-कियन नामक एक दूत को पश्चिम के देशो का अवगाहन करने का कार्य सुपुर्द किया था। यह दूत जब बल्ख के बाजार में पहुँचा, तो वहा चीनी रेशम और बाँस की बनी वस्तुओ को बिकता देखकर आश्चर्यचकित रह गया। पूछने पर उसे ज्ञात हुआ, कि वे वस्तुएँ शिन्-तू (सिन्धु या हिन्द) देश से आती हैं, जिसकी सत्ता दक्षिण की ओर है। व्यापारी लोग चीन के युन्नान प्रान्त से इन वस्तुओ को बरमा के रास्ते भारत ले जाते थे, और वहाँ से इन्हे गान्धार और बल्ख आदि पहुँचाया जाता था। चाग-कियन से मध्य एशिया के देशो का परिचय प्राप्त कर चीन के सम्राट् ने इनके साथ अपने देश के व्यापार को बढाने का विशेष रूप से प्रयत्न किया, और इस उद्देश्य से उनके साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित किए। बाद के चीनी सम्राटों ने मध्य एशिया पर अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने का भी प्रयत्न किया, और इसी प्रयोजन से सम्राट् हीं-ती ने पान-छाओ नामक सेनापति को खोतन भेजा (७३ ईस्वी)। मध्य एशिया के राज्यो में उस समय खोतन सर्वप्रधान था, और

इस क्षेत्र के अन्य राजा उसके आधिपत्य को स्वीकार करते थे। पान-छाओ खोतन को अपनी अधीनता मे ले आने मे समर्थ हुआ, और धीरे-धीरे उसने कैस्पियन सागर तक चीन की शक्ति का विस्तार किया। १०२ ई० तक यह सम्पूर्ण क्षेत्र चीन की अधीनता मे रहा, जिसके कारण मध्य एशिया और चीन का सम्बन्ध बहुत बढ गया।

चीन मे भारत के सास्कृतिक प्रभाव के प्रसार मे इस दशा से बहुत सहायता मिली। चीन की एक प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार अशोक के समय (२१७ ई० पू०) मे कुछ बौद्ध प्रचारक चीन गए थे, और उन द्वारा वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया गया था। इतने अधिक प्राचीन काल मे भारतीय प्रचारकों का चीन जा सकना संदिग्ध माना जाता है। पर यह निर्विवाद है, कि ईस्वी सन् की पहली सदी मे चीन मे बौद्ध धर्म का प्रवेश हो चुका था। चीन के प्राचीन वृत्तान्तो के अनुसार हान वश के चीनी सम्राट मिग-ती ने स्वप्न मे एक सुवर्ण-पुरुष को देखा था, जिसके विषय मे पूछने पर उसके दरबारियो ने बताया, कि यह सुवर्ण-पुरुष बुद्ध था। इस पर मिग-ती ने अपने दूत पश्चिम के राज्यो मे इस प्रयोजन से भेजे, ताकि वे वहाँ से कुछ बौद्ध भिक्षुओ को चीन आने के लिए निमन्त्रित करें। चीन के दूत पश्चिम की ओर जाते हुए युइशियों के राज्य मे जा पहुचे। युइशि लोग इस समय तक बौद्ध धर्म को अपना चुके थे, और वहाँ बहुत-से भारतीय बौद्ध विद्वान् विद्यमान थे। मिग-ती के निमन्त्रण को स्वीकार कर धर्मरत्न और कश्यप मातग नामक भारतीय भिक्षु चीन गये (६० ई० पू०) और उसकी राजधानी सीडान्-फू (जो अब चीन के शेनसी प्रान्त का मुख्य नगर है) मे उन्होने श्वेताश्व नामक विहार की स्थापना की। चीन जाते हुए ये भिक्षु अपने साथ बहुत-से बौद्ध ग्रन्थों को भी ले गये थे। उन्होने अपना शेष जीवन श्वेताश्व विहार मे व्यतीत किया, और वहाँ निवास करते हुए अनेक बौद्ध ग्रन्थो का चीनी भाषा में अनुवाद किया। इसमे सन्देह नही, कि ईस्वी सन् की पहली सदी मे चीन मे बौद्ध धर्म भलीभाँति स्थापित होना प्रारम्भ हो चुका था, और धर्मरत्न तथा कश्यप मातंग का अनुसरण कर बहुत-से बौद्ध भिक्षु मध्य एशिया से चीन जाने लग गए थे। ये भिक्षु केवल भारतीय ही नही थे, इनमे खोतन, कुची, सुग्ध आदि अनेक प्रदेशो के भी लोग थे, जो इस समय तक बौद्ध धर्म को स्वीकार कर चुके थे। बाद मे समुद्र मार्ग से भी बौद्ध प्रचारको ने चीन जाना प्रारम्भ किया, और उनके प्रयत्न से चीन के प्राय सभी निवासियों ने बौद्ध धर्म को अपना लिया। बौद्ध धर्म के साथ-साथ भारतीय सस्कृति और कला आदि का भी चीन मे प्रवेश हुआ, जिसके कारण यह विशाल देश भी वृहत्तर भारत का एक अग बन गया।

तिब्बत में बौद्ध धर्म का सूत्रपात चौथी सदी ईस्वी पश्चात् मे हो गया था, पर वहाँ उसका विशेष रूप से प्रचार सातवी सदी मे हुआ। उस समय वहाँ स्रोङ्-चन्-गम्-पो नामक प्रतापी राजा का शासन था। उसने दो विवाह किये थे, एक चीन की राजकुमारी से और दूसरा नेपाल के राजा अंशुवर्मन की कन्या भृकुटी देवी से। ये दोनों बौद्ध धर्म की अनुयायी थीं। इनके प्रभाव से राजा ने भी बौद्ध धर्म को अपना लिया।

उसके वंश में आगे चलकर ठि-स्रोंग-ल्दे-ब्चन् तिब्बत का राजा हुआ। उसने शान्तरक्षित नाम के भारतीय आचार्य को तिब्बत मे निमन्त्रित किया। आचार्य पद्मसम्भव के सहयोग से शान्तरक्षित ने तिब्बत मे बौद्ध धर्म का प्रचार किया। ये दोनो मगध के निवासी थे। मगध के महाविहारो के अनुकरण मे इन्होने तिब्बत की राजधानी ल्हासा से ३० मील दक्षिण-पूर्व मे सम्-ये नामक स्थान पर एक महाविहार का निर्माण कराया जो बहुत समय तक तिब्बत मे ज्ञान, धर्म और का विद्या का केन्द्र रहा। बाद मे बहुत-से बौद्ध पण्डित भारत से तिब्बत जाते रहे, और उन्होने वहाँ जाकर अनेक सस्कृत ग्रन्थों का तिब्बती भाषा मे अनुवाद किया। भारतीय बौद्ध विद्वानो की तिब्बत जाने की प्रक्रिया अनेक सदियो तक जारी रही, और उनके प्रयत्न से यह देश भारतीय सभ्यता, धर्म और सस्कृति का एक महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया। ग्यारहवी सदी मे आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान अतीश तिब्बत गए, और उन्होने वहाँ बौद्ध धर्म को पुन सगठित किया।

यद्यपि चीन और तिब्बत मे भारतीयो ने अपने कोई उपनिवेश स्थापित नही किए, और वहाँ अपना राजनीतिक प्रभुत्व भी उन्होने कायम नही किया, पर इसमे सन्देह नही कि ये दोनो देश सास्कृतिक दृष्टि से बृहत्तर भारत के अग रहे।

चीन मे बौद्ध धर्म का प्रचार हो जाने पर यह स्वाभाविक था, कि बौद्ध भिक्षु वहाँ से सुदूर पूर्व के अन्य देशों मे प्रचार के लिए जाएँ। ३७४ ईस्वी मे अ-ताओ और शन-ताओ नाम के दो विदेशी भिक्षु उत्तरी चीन से कोरिया गए थे, और उन द्वारा उस देश में बौद्ध धर्म का सूत्रपात किया गया था। छठी सदी तक प्राय. सम्पूर्ण कोरिया ने बौद्ध धर्म को अपना लिया था, जिस कारण सुदूर पूर्व का यह देश भी भारतीय संस्कृति के प्रभाव में आ गया था। जापान मे बौद्ध धर्म का प्रवेश कोरिया द्वारा हुआ। छठी सदी मे कोरिया के एक राजा ने बुद्ध की मूर्ति और कुछ बौद्ध ग्रन्थ जापान मे इस सन्देश के साथ भेजे थे, कि भारत और कोरिया के मध्यवर्ती क्षेत्र मे जो भी देश हैं, उन सब ने उस बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया है, जिसको अपना लेने पर असीम लाभो की प्राप्ति होती है। आठवी सदी मे बोधिसेन नामक एक भारतीय भिक्षु भी जापान गया था, जिसने उस देश मे अपने धर्म के प्रचार के लिए विशेष उद्योग किया, और धीरे-धीरे सम्पूर्ण जापान बौद्ध धर्म का अनुयायी हो गया। इसमें सन्देह नहीं, कि चीन और तिब्बत के समान कोरिया और जापान भी भारतीय धर्म तथा संस्कृति से प्रभावित हुए, जिसके कारण इन देशो को भी भारत के सास्कृतिक साम्राज्य के अन्तर्गत कहा जा सकता है।

(३) बृहत्तर भारत का क्षेत्र—दक्षिण-पूर्वी एशिया

भारत के सास्कृतिक साम्राज्य का एक अन्य महत्वपूर्ण क्षेत्र दक्षिण-पूर्वी एशिया था। मौर्य राजा अशोक द्वारा धर्मविजय का जो प्रयत्न किया गया था, उसके परिणामस्वरूप कतिपय बौद्ध प्रचारक दक्षिण मे सिंहल (श्रीलंका) और पूर्व मे सुवर्णभूमि भी गये थे। सिंहल के राजा तिस्स ने अशोक के समय में ही बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया था, और सुवर्णभूमि (प्राचीन भारतीय लोग बरमा तथा उसके समीपवर्ती पूर्वी

देशों को इसी नाम से कहा करते थे थे) इसी काल में बौद्ध धर्म के प्रचार का सूत्रपात हो गया था। पर भारतीय लोग केवल धर्म प्रचार के प्रयोजन से ही इस क्षेत्र के देशों में नहीं गए थे। वे व्यापार और उपनिवेश बसाने के लिये भी वहाँ आया-जाया करते थे। भारत के पूर्व में बरमा से लगाकर चीन तक हिन्द महासागर में जो बहुत-से छोटे-बड़े द्वीप व प्रायद्वीप हैं, वे सब मौर्योत्तर युग में भारतीय बस्तियों से परिपूर्ण हो गये थे। दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों मे भारतीय उपनिवेशों की स्थापना की यह प्रक्रिया शुग-सातवाहन युग में प्रारम्भ हुई थी, और गुप्त साम्राज्य के समय में इसका चरम विकास हो गया था। जिस क्षेत्र में वर्तमान समय मे बरमा, मलायीसिया, इण्डोनीसिया, कम्बोडिया, लाओस, सियाम और वियतनाम के राज्य हैं, उन सब में भारतीयों ने अपने विविध उपनिवेशो की स्थापना की थी। इनके राजा भारतीय थे, और इनकी भाषा, संस्कृति तथा धर्म भी भारतीय थे। भारत के जिन जनपदों से जाकर लोग इन द्वीपों में बसते थे, वे अपने नये नगरों के नाम मातृभूमि के अपने पुराने नगरों व देशों के नाम पर ही रखते थे। बंग देश से गये लोगों ने सुमात्रा द्वीप के दक्षिण-पूर्वी सिरे पर नये बंग द्वीप की स्थापना की, जो अब बंका कहलाता है। इसी प्रकार आधुनिक क्रा की स्थलग्रीवा मे नये तक्षशिला का निर्माण किया गया। यवद्वीप (जावा) में बसकर भारतीयों ने वहाँ की सबसे बड़ी नदी को सरयू नाम दिया, और अधिक पूर्व में जाकर नई चम्पा नगरी की स्थापना की। अंग जनपद की राजधानी का नाम चम्पा था। उसी के नाम पर वहाँ से गये भारतीयों ने इन नये उपनिवेश का नाम चम्पा रखा। धीरे-धीरे चम्पा की शक्ति बहुत बढ़ गई। बहुत-से समीपवर्ती प्रदेशों को जीतकर चम्पा ने एक साम्राज्य का विकास किया, जिसके विविध प्रान्तों के नाम कौठार, पाण्डुरंग, अमरावती, विजय आदि थे। चम्पा के साम्राज्य की राजधानी इन्द्रपुर थी। चम्पा के पश्चिम मे एक अन्य उपनिवेश था, जिसमें वर्तमान समय के कम्बोडिया और सियाम प्रदेश सम्मिलित थे। यह एक शक्तिशाली भारतीय उपनिवेश था, जिसे चीनी लोग फूनान कहते थे। इस उपनिवेश की स्थापना कौण्डिन्य नाम के एक ब्राह्मण ने की थी। पूर्वी एशिया के इन सब प्रदेशों मे हिन्दू मन्दिरों, विहारों और स्तूपों के अवशेष बड़ी संख्या में विद्यमान हैं। संस्कृत, पालि, प्राकृत आदि भारतीय भाषाओं के शिलालेख भी इन प्रदेशों से बड़ी मात्रा मे उपलब्ध हुए हैं।

दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों से न केवल भारतीय राजाओं के ही शिलालेख मिले हैं, अपितु अनेक भारतीय व्यापारियो द्वारा उत्कीर्ण लेखों की भी वहाँ से प्राप्ति हुई है, क्योंकि भारत के साहसी व्यापारी प्राचीन काल में बड़ी संख्या में इन देशों मे व्यापार के लिए आया-जाया करते थे। धर्मप्रचार के लिए इन देशो में जाने का सूत्रपात बौद्ध प्रचारकों द्वारा किया गया था, पर उनका अनुकरण कर बहुत-से शैव तथा वैष्णव प्रचारक भी इन देशों में गये, और वहाँ के निवासियों को उन्होंने अपने धर्मों में दीक्षित किया। यही कारण है, जो शैव और वैष्णव मन्दिर भी इन देशों मे अच्छी बड़ी संख्या में निर्मित हुए, जिनके अवशेष इस समय भी विद्यमान हैं। भारतीय संस्कृति का प्रभाव इन देशों से अब तक भी नष्ट नहीं हुआ है। सियाम, बरमा,

कम्बोडिया आदि अनेक देशों के निवासी इस समय भी बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं, और भारत को अपनी धर्मभूमि मानते हैं। मलायीसिया और इन्डोनीसिया के लोग अब धर्म से मुसलमान हैं, पर उनकी भाषा, प्रथा, संस्कृति आदि पर भारत की छाप विद्यमान है। वस्तुतः, दक्षिण-पूर्वी एशिया के इन विविध देशों का विकास भारत के उपनिवेशों के रूप में ही हुआ था, और एक सहस्र वर्ष से भी अधिक समय तक ये उसी ढंग से बृहत्तर भारत के अंग रहे, जैसे कि गान्धार, कपिश और कम्बोज थे।

वियतनाम और चीन के पूर्व मे प्रशान्त महासागर के फिलिप्पीन और सेलेबीज द्वीपों में भी ऐसी मूर्तियाँ मिली है, जो इन सुदूरवर्ती प्रदेशों तक मे भारतीय धर्म और संस्कृति के प्रचार के प्रमाण उपस्थित करती हैं। इनके कारण भारत के सांस्कृतिक साम्राज्य का क्षेत्र और भी अधिक विस्तृत हो जाता है।

(४) पश्चिमी एशिया और पाश्चात्य संसार से भारत का सम्बन्ध

तुर्की, ईरान, ईराक आदि पश्चिमी एशिया के देशो मे उस ढग से भारतीयों ने अपने उपनिवेश नही बसाये थे, जैसे कि मध्य एशिया और दक्षिण-पूर्वी एशिया में स्थापित किये थे। ईजिप्त भी बृहत्तर भारत का अंग नही था। पर इन पाश्चात्य देशो के साथ भारत का व्यापारिक सम्बन्ध विद्यमान था, और बहुत-से भारतीय धर्म, प्रचार के लिए भी इन देशो मे आया-जाया करते थे। राजा अशोक ने जब धर्म, विजय की नीति को अपना कर अपने धर्म-महामात्र भारत के सीमावर्ती देशो मे भेजने प्रारम्भ किये, तो अनेक धर्म, महामात्र पश्चिम के यवन देशों मे भी भेजे गये। सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् भारत के पश्चिम तथा उत्तर-पश्चिम मे अनेक यवन राज्यो की स्थापना हो गई थी। अशोक ने अपने शिलालेखो मे इस बात पर सन्तोष प्रगट किया है, कि अन्य देशों के समान यवन-कम्बोज देशो मे भी लोग उसके धर्मानुशासन का अनुसरण करते हैं। इसमे सन्देह नही, कि अशोक के प्रयत्न से पश्चिमी एशिया, ईजिप्त और ग्रीस के यवन राज्यो मे भी भारतीय धर्म तथा संस्कृति का प्रवेश प्रारम्भ हुआ था। अशोक द्वारा नियुक्त धर्म-महामात्रो का सहारा लेकर अनेक बौद्ध प्रचारक भी इस काल में पश्चिमी देशो मे गये थे, और उनके कारण इन देशो के विद्वानों तथा दार्शनिको को भारतीय विचारो से परिचित होने का अवसर प्राप्त हुआ था। इस स्थिति मे बृहत्तर भारत का इतिहास लिखते हुए पश्चिमी संसार और भारत के पारस्परिक सम्बन्धो पर प्रकाश डालना भी आवश्यक है।

(५) बृहत्तर भारत का विकास

पश्चिम में वंक्षु (आमू) नदी से लगाकर पूर्व मे प्रशान्त महासागर तक भारत का जो सांस्कृतिक साम्राज्य विस्तृत था, उसके सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं—

(१) बौद्ध काल और उससे पूर्व अफगानिस्तान (गान्धार और कपिश) और बदख्शा (कम्बोज) में ऐसे जनपद विद्यमान थे, जो सभ्यता तथा संस्कृति की दृष्टि से

भारत के अन्य जनपदों के सदृश थे। उस समय इन्हें भारत का ही अङ्ग समझा जा सकता था। पर इनकी भौगोलिक स्थिति ऐसी थी, कि ये भारत, ईरान और मध्य एशिया के बीच में पड़ते थे। इसीलिए जब ईरान के हखामनी सम्राटों ने अपनी शक्ति का विस्तार किया, तो इन्हें भी जीतकर अपने साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिया। बाद में जब मैसिडोनिया के राजा सिकन्दर ने ईरानी साम्राज्य को परास्त कर पूर्व दिशा मे दिग्विजय आरम्भ किया, तो उसने इन्हें जीत कर अपने अधीन कर लिया और उसकी मृत्यु के पश्चात् भी ये यवनों की अधीनता मे रहे। चन्द्रगुप्त मौर्य ने यवनों को परास्त कर इन्हें मगध साम्राज्य में सम्मिलित किया, पर अशोक के पश्चात् जब मौर्यों की शक्ति क्षीण हो गई, तो इन प्रदेशों में अनेक यवन राज्य स्थापित हो गये। यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से ये प्रदेश अब भारत के अन्तर्गत नहीं रहे, पर संस्कृति और भाषा की दृष्टि से इन पर भारत का प्रभाव कायम रहा, और अनेक यवन राजाओं ने भारत के धर्मों को स्वीकार कर लिया। यवन लोग भी इन प्रदेशों पर देर तक शासन नही कर सके। मध्य एशिया से आकर शक, युइशि आदि विविध जातियों ने इन प्रदेशो से यवन शासन का अन्त किया, और वहाँ अपने राज्यों की स्थापना की। पर शक, युइशि आदि लोग भी शीघ्र ही भारतीय धर्म और संस्कृति के प्रभाव मे आ गये, और गान्धार, कपिश तथा कम्बोज पहले के ही समान भारत के सांस्कृतिक साम्राज्य के अंग बने रहे। यह स्थिति तब तक कायम रही, जब तक इस्लाम का इन प्रदेशो में प्रवेश नहीं हुआ।

(२) बृहत्तर भारत के दो प्रधान क्षेत्र थे,उपरला हिन्द और दक्षिण-पूर्वी एशिया। वर्तमान सिनकियांग या चीनी तुर्किस्तान के सब प्रदेश उपरले हिन्द के अन्तर्गत थे। रूसी तुर्किस्तान के अनेक प्रदेशों पर भी भारतीय संस्कृति के प्रभाव की सत्ता थी। इस क्षेत्र मे भारतीयो ने अपने बहुत-से उपनिवेश कायम किये थे, और बौद्ध भिक्खुओं ने वहाँ के मूल निवासियो को भी अपने धर्म में दीक्षित कर लिया था। भारतीय संस्कृति के इस क्षेत्र मे प्रसार का सूत्रपात अशोक के समय मे हुआ था, और ईस्वी सन् के प्रारम्भ समय तक वहाँ के प्राय. सब प्रदेश भारत के सास्कृतिक साम्राज्य के अन्तर्गत हो गये थे। इस्लाम द्वारा इस क्षेत्र मे भी भारत के प्रभाव का अन्त किया गया, पर एक सहस्र वर्षों के लगभग (तीसरी सदी ईस्वी पूर्व से आठवी सदी ईस्वी तक) मध्य एशिया भारतीय धर्म तथा संस्कृति के प्रभाव में रहा।

दक्षिण-पूर्वी एशिया के बृहत्तर भारत मे बरमा, मलायीसिया, सियाम, इन्डोनीसिया, कम्बोडिया, लाओस, विएतनाम और प्रशान्त महासागर के अनेक द्वीप अन्तर्गत थे। बौद्ध और मौर्य युगों में भी पूर्व के इन प्रदेशों से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध विद्यमान था, पर ईस्वी सन् के प्रारम्भ काल के लगभग वहाँ भारतीयों ने अपने विविध उपनिवेश बसाने प्रारम्भ कर दिये थे, और शुंग-सातवाहन युग तक वहाँ उनकी अनेक बस्तियाँ बस गईं थीं। वाकाटक-गुप्त काल में बहुत-से नये भारतीय उपनिवेश दक्षिण-पूर्वी एशिया में स्थापित हुए, और धीरे-धीरे यह दशा आ गई कि इस क्षेत्र के प्राय: सभी प्रदेशों में ऐसे राज्य कायम हो गये, जिन्हें पूर्णतया

भारतीय कहा जा सकता है। दक्षिण-पूर्वी एशिया के ये भारतीय राज्य चौदहवीं सदी व उसके कुछ समय बाद तक भी विद्यमान रहे।

(३) तिब्बत, चीन, कोरिया और जापान में भारतीयो ने उस ढंग से अपने उपनिवेश नहीं बसाए, जैसे कि मध्य एशिया तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया मे स्थापित किये थे। पर इन देशों मे भी बौद्ध भिक्षु बड़ी संख्या मे गये और वहाँ अपने धर्म के प्रचार मे उन्होंने अनुपम सफलता प्राप्त की। धर्म के साथ-साथ भारतीय साहित्य, कला आदि का भी इन देशो में प्रवेश हुआ, जिसके कारण ये देश भारत के सांस्कृतिक साम्राज्य के अन्तर्गत हो गये।

(४) यद्यपि नेपाल इस समय एक पृथक् एवं सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य है, पर धर्म, सभ्यता तथा संस्कृति की दृष्टि से उसे भारत का एक अंग समझा जा सकता है।

(५) सिंहल द्वीप (श्रीलंका) मे बौद्ध धर्म का प्रवेश राजा अशोक के समय मे ही हो गया था। वहाँ के निवासी इस समय भी बौद्ध धर्म के अनुयायी है, और भारत के साथ उनका घनिष्ठ सांस्कृतिक सम्बन्ध विद्यमान है।

भारत के इस विशाल सांस्कृतिक साम्राज्य या बृहत्तर भारत का किस ढंग से विकास हुआ, इसी विषय पर इस ग्रन्थ मे हमे प्रकाश डालना है। इस प्रसंग मे हमे यह ध्यान मे रखना चाहिये, कि इस विकास का क्रमबद्ध इतिहास लिख सकना सम्भव नही है। मध्य एशिया के विविध प्रदेशो में जिन भारतीय उपनिवेशों की स्थापना प्राचीन काल मे हुई थी, उनका राजनीतिक इतिहास हमे ज्ञात नहीं है। उनकी नगरियो, विहारों तथा चैत्यो के जो भग्नावशेष इस समय उपलब्ध है, उन्ही द्वारा उनकी सत्ता का परिचय हमें प्राप्त होता हैं। साथ ही, ह्यु एन्-साग सदृश चीनी विद्वानों ने इन उपनिवेशों की यात्रा करते हुए इनका जो आँखो देखा विवरण लिखा है, उससे भी इनके विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ हमें उपलब्ध होती हैं। चीन के साथ इन राज्यो का घनिष्ठ सम्बन्ध था। वहाँ के अनेक शक्तिशाली सम्राटो ने इन राज्यों को अपना आधिपत्य स्वीकृत करने के लिए भी विवश किया था। इनके राजा प्राय: चीन के राजदरबार में नानाविध भेंट-उपहारो के साथ अपने दूत भेजते रहते थे। चीन का प्राचीन ऐतिहासिक इतिवृत्त वहाँ के पुराने ग्रन्थो में संकलित है, जिसमें प्रसंगवश मध्य एशिया के कुची, खोतन आदि राज्यो के उन राजाओ का भी उल्लेख कर दिया गया है, जिन्होंने चीन के राजदरबार मे अपने दूतमण्डल भेजे थे, या जिन्होने चीन के आधिपत्य के विरुद्ध विद्रोह कर पूर्णतया स्वतन्त्र हो जाने का प्रयत्न किया था। इन राज्यो से बहुत-से बौद्ध विद्वान् और भिक्षु भी धर्मप्रचार के प्रयोजन से चीन गए थे, और वहाँ रहकर उन्होंने बौद्ध ग्रन्थो का चीनी भाषा मे अनुवाद किया था। इन बौद्ध प्रचारकों के जीवनवृत्त के प्रसंग मे भी चीनी साहित्य में मध्य एशिया के इन राज्यों का उल्लेख मिलता है। भारत के प्राचीन साहित्य से इन पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। दक्षिण-पूर्वी एशिया के बृहत्तर भारत के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए अधिक सामग्री उपलब्ध है। इस क्षेत्र के अनेक भारतीय राजाओं ने उसी ढंग से अपनी प्रशस्तियाँ प्रस्तर-शिलाओं पर उत्कीर्ण करायी थीं, जैसे कि भारत में गुप्तवंशी राजा समुद्रगुप्त व शक राजा

खुदवामा द्वारा करायी गई थीं। इनसे इस क्षेत्र के अनेक राज्यों तथा राजवंशों का क्रमबद्ध इतिहास तैयार कर सकना भी सम्भव हुआ है। प्राचीन मन्दिरों, विहारों आदि के बहुत से अवशेष भी इस क्षेत्र से उपलब्ध हुए हैं, जिनके द्वारा वहाँ की धार्मिक व सांस्कृतिक दशा का परिचय प्राप्त किया जा सकता है। इन्हीं सबका उपयोग कर हम इस ग्रन्थ में बृहत्तर भारत का एक स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

पश्चिमी संसार, मध्य एशिया, तिब्बत, चीन, कोरिया और जापान में भारतीय संस्कृति का जिस प्रकार विकास हुआ, उसका वृत्तान्त इस ग्रन्थ मध्य एशिया तथा चीन में भारतीय संस्कृति में दिया गया है। वियत-नाम, कम्बोडिया आदि दक्षिणी-पूर्वी एशिया के देशों का प्राचीन समय में चीन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, अतः इनमें भारतीय संस्कृति के प्रसार का वृत्तान्त भी संक्षेप के साथ इस ग्रन्थ में दे दिया गया है। पर दक्षिण-पूर्वी एशिया के विशाल क्षेत्र में भारतीय संस्कृति के प्रसार तथा भारतीयों द्वारा वहाँ स्थापित किये गये उपनिवेशों का अधिक विस्तार से विवरण 'दक्षिण-पूर्वी एशिया में भारतीय संस्कृति' ग्रन्थ में मिलेगा।

दूसरा अध्याय

पाश्चात्य संसार के साथ प्राचीन भारत के सम्बन्ध

(१) अत्यन्त प्राचीन काल

भारत और पाश्चात्य देशों का सम्बन्ध बहुत पुराना है। प्रस्तर युग तथा आदि-धातु युग मे भी इस सम्बन्ध की सत्ता थी। दक्षिणी बिलोचिस्तान के कोलबा प्रदेश में एक अत्यन्त प्राचीन सभ्यता के जो अवशेष मिले हैं, उन्हें कुल्ली सभ्यता कहते हैं। इन अवशेषों मे जो बरतन प्राप्त हुए हैं, उनके तथा पश्चिमी एशिया (ईराक और एलम) के प्राचीन बरतनों के चित्रण में बहुत समता है। कुल्ली सभ्यता के बरतनों पर प्रकृति (वृक्ष, वनस्पति आदि) के बीच में पशु आकृतियो को चित्रित किया गया है। यही शैली ईराक एवं पश्चिमी ईरान के इस युग के बरतनो को चित्रित करने के लिए अपनायी गई है। कुल्ली सभ्यता और पश्चिमी एशिया के बरतनों मे यह समता ध्यान देने योग्य है। इसी प्रकार जिस ढंग के पत्थर के सुन्दर व छोटे आकार के बरतन कुल्ली सभ्यता के अवशेषो मे मिले हैं, ठीक वैसे ही पत्थर के बरतन पश्चिमी एशिया के अनेक प्राचीन भग्नावशेषों मे उपलब्ध हुए है। इन समताओ को दृष्टि मे रखकर विद्वानों ने यह अनुमान किया है, कि कुल्ली सभ्यता और पश्चिमी एशिया की प्राचीन सभ्यताओं मे घनिष्ठ सम्बन्ध था, और इनके व्यापारी एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश मे व्यापार के लिए आया-जाया करते थे। पश्चिमी एशिया के इस युग के भग्नावशेषो मे भी बिलोचिस्तान के भारतीय व्यापारियो की वहा विद्यमानता के प्रमाण मिले हैं।

सिन्धु घाटी सभ्यता का पाश्चात्य देशों के साथ सम्बन्ध—कुल्ली सभ्यता सदृश अत्यन्त प्राचीन सभ्यताओ के पश्चात् भारत मे एक अत्यन्त उन्नत एवं समृद्ध सभ्यता का विकास हुआ, जिसके प्रधान नगरो के भग्नावशेष हड़प्पा और मोहनजोदडो नामक स्थानो पर उपलब्ध हुए है। यह सभ्यता काठियावाड से हिमालय तक तथा मकरान से गगा की घाटी तक विस्तृत थी। पर इसके प्रधान नगर सिन्ध और उसकी सहायक नदियों के समीपवर्ती प्रदेश मे विद्यमान थे। इसीलिए इसे 'सिन्धुघाटी की सभ्यता' कहा जाता है। इसे वैदिक युग से पूर्ववर्ती काल की सभ्यता माना जाता है, और इसका काल ईस्वी सन् से ३००० वर्ष पूर्व के लगभग था।

कुल्ली सभ्यता के समान सिन्धु सभ्यता के लोगों का भी पाश्चात्य देशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। पाश्चात्य ससार में इसकी समकालीन सभ्यता सुमेरियन सभ्यता थी, जिसकी स्थिति वर्तमान ईराक (मैसोपोटामिया) के प्रदेश में थी। प्राचीन सुमेरिया के अवशेषों मे अनेक ऐसी मुद्राएँ मिली हैं, जो हडप्पा की मुद्राओं से हूबहू मिलती-जुलती हैं। ये मुद्राएँ सुमेरिया की अपनी मुद्राओं से सर्वथा भिन्न हैं। इनमें से एक मुद्रा पर सूती कपड़े का निशान भी अंकित है, जो सिन्धु सभ्यता में बड़े परिमाण में

तैयार होता था। ऐसा प्रतीत होता है, कि सिन्धु देश के व्यापारी सुमेरिया में भी बसे हुए थे, और वहाँ वे मुख्यतया कपड़े का व्यापार किया करते थे। इसी प्रकार मोहन-जोदड़ो में कुछ ऐसी मुद्राएँ मिली हैं, जो ठीक सुमेरियन शैली की हैं। ये मुद्राएँ या तो सुमेरियन व्यापारियों की सिन्धु देश में सत्ता को सूचित करती हैं, और या यह भी सम्भव है कि सुमेरिया से घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध रखने वाले कुछ सिन्धुदेशीय व्यापारियों ने सुमेरियन शैली पर अपनी मुद्राओं का निर्माण किया हो। सिन्धु सभ्यता के व्यापारी न केवल सुमेरिया के साथ व्यापार करते थे, अपितु ईरान से भी उनका व्यापारिक सम्बन्ध विद्यमान था। ईरान के प्राचीन भग्नावशेषों में अनेक ऐसी वस्तुएँ उपलब्ध हुई हैं, जो वहाँ सिन्धु देश से गयी मानी जाती हैं। यह विदेशी व्यापार समुद्र-मार्ग से होता था, यह कल्पना असंगत नहीं है, क्योंकि सिन्धु सभ्यता के लोग जहाज से भली-भाँति परिचित थे। इस सभ्यता के अवशेषों में उपलब्ध हुई एक मुद्रा पर एक जहाज की आकृति सुन्दर रूप से अंकित की गई है। इसी प्रकार मिट्टी के बरतन के एक टुकड़े पर भी जहाज का चित्र बना हुआ मिला है। ये चित्र इस बात को सूचित करने के लिये पर्याप्त हैं, कि सिन्धु सभ्यता के लोग जहाजों व नौकाओं का प्रयोग किया करते थे। पुरातत्त्व के विद्वानों के अनुसार सिन्धु सभ्यता का पश्चिमी एशिया के देशों के साथ यह व्यापार-सम्बन्ध तीसरी सहस्राब्दी ईस्वी पूर्व में विद्यमान था।

मोहनजोदड़ो के भग्नावशेषों में जो अनेकविध रत्न प्राप्त हुए हैं, उनसे भी वहाँ के लोगों का पश्चिमी देशों के साथ व्यापार-सम्बन्ध सूचित होता है। वैदूर्य का एक भेद हकीक (अंग्रेजी में एगेट) वहाँ मिला है, जो ईरान की खाड़ी और यमन में होता है। इसी प्रकार ईरान तथा मध्य एशिया में पाये जाने वाले यशब (जेड) के भी अनेक टुकड़े मोहनजोदड़ो में मिले हैं। सिन्धु सभ्यता के भग्नावशेषों में जो लाजवर्द (लापिस लाजली) मिले हैं, वे बदख्शां में उत्पन्न होते हैं। इन रत्नों का वहाँ उपलब्ध होना इस सभ्यता के विदेशी व्यापार तथा पश्चिमी संसार के साथ सम्बन्ध पर अच्छा प्रकाश डालता है।

(२) वैदिक काल

प्राचीन काल में पाश्चात्य संसार में सभ्यता के दो प्रधान केन्द्र थे—(१) टिग्रिस (दजला) और युफ्रेटिस (फरात) नदियों की घाटी, और (२) नील नदी की घाटी। टिग्रिस और युफ्रेटिस नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश में इस समय ईराक (मैसेपोटामिया) का राज्य है, और नील नदी की घाटी में ईजिप्त (मिस्र) की स्थिति है। ईस्वी सन् से ३५०० वर्ष पूर्व के लगभग ईराक के क्षेत्र में सुमेरियन सभ्यता की सत्ता थी, जो भारत की सिन्धु सभ्यता की समकालीन थी। बाद में वहाँ कैल्डियन (खल्द) और बैबिलोनियन सभ्यताओं का विकास हुआ। २२५० ईस्वी पूर्व के लगभग बैबिलोनियन लोगों ने टिग्रिस नदी के पश्चिमी तट पर एक नया नगर बसाया, जिसे अस्सुर कहते थे। अस्सुर बैबिलोनियन लोगों का प्रधान देवता था, और उसी के नाम पर उन्होंने अस्सुर नगर की स्थापना की थी। अस्सुर के राजाओं में शाल्मनेसर बहुत प्रसिद्ध हुआ। १३०० ई० पू०-

पूर्व मे उसने टिग्रिस और युफ्रेटिस नदियों के सारे प्रदेश को जीतकर अपने अधीन कर लिया, और इस प्रकार एक बड़े साम्राज्य का निर्माण किया, जो असुर या असीरियन साम्राज्य के नाम से प्रसिद्ध है। बैबिलोनियन व असुर लोगो ने पश्चिम की ओर आगे बढ़कर एक नया उपनिवेश भी बसाया, जिसे कानान कहते थे। इसकी स्थिति उस प्रदेश में थी, जहाँ वर्तमान समय मे पैलेस्टाइन (फिलिस्तीन) है। इसी काल मे पश्चिमी एशिया के उस प्रदेश मे, जहाँ अब तुर्की नामक राज्य है, दो जातियों का निवास था, जिन्हें हत्ती (खत्ती) या हित्ताइत और मित्तनी कहते थे। उस प्रदेश में इन जातियो के दो पृथक् राज्यों की सत्ता थी।

वैदिक काल मे भारत के आर्यों का पश्चिमी एशिया के इन विविध राज्यों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। अनेतोलिया के बोगज-कोई नामक स्थान पर मित्तनी और खत्ती राज्यों के राजाओं का एक सन्धिपत्र मिला है, जो एक विशाल शिलाखण्ड पर उत्कीर्ण है। इसको सबसे पूर्व ह्यूगो विंकलर नामक जर्मन विद्वान् ने १६०८ में खोज निकाला था। बोगज-कोई खत्ती राज्य की राजधानी थी। उसके राजा सुबिलुलियम का मित्तनी के राजा मत्तिउअज के साथ युद्ध हुआ था, जिसका अन्त एक सन्धि द्वारा किया गया और उस सन्धि की शर्तों को एक शिला पर उत्कीर्ण करा दिया गया, ताकि दोनों पक्षो के सम्मुख वह स्पष्ट रूप से रहे। इस सन्धिपत्र पर इन्द्र, मित्र, वरुण और नासत्यौ को साक्षी रूप से उल्लिखित किया गया है। ये सब वैदिक देवता हैं, जिनके नाम बोगज-कोई के लेख मे घनपाठ की पद्धति से अंकित है। खत्ती और मित्तनी के इन राजाओ का काल १४५० से १३५० ईस्वी पूर्व तक का माना जाता है, जिससे यह असदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि इस अत्यन्त प्राचीन काल मे वर्तमान तुर्की के प्रदेश मे वैदिक देवताओ की पूजा प्रचलित थी।

मित्तनी के क्षेत्र से एक प्राचीन पुस्तक भी मिली है जो मिट्टी की तख्तियों पर उत्कीर्ण है। इसका विषय रथ तथा अश्व हैं। इसका लेखक किक्कुली नामक एक व्यक्ति था, जो अश्वविद्या तथा रथ संचालन का विशेषज्ञ था। इस पुस्तक मे संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है, और इसका काल चौदहवी सदी ईस्वी पूर्व का माना जाता है। रथ के पहियो के घूमने के लिए इस पुस्तक मे 'आवर्तन्न' शब्द का प्रयोग किया गया है, और एक, तीन, पाँच व सात चक्करो के लिये क्रमश: एकवर्तन्न, तेरवर्तन्न, पचवर्तन्न तथा सातवर्तन्न शब्द प्रयुक्त हुए हैं। आवर्तन्न सस्कृत के आवर्तन शब्द का ही एक रूप है। मित्तनी राजाओं द्वारा भेजे गये कतिपय पत्र ईजिप्त के एल-अमरना नामक स्थान पर मिले हैं। ये भी मिट्टी की तख्तियो पर उत्कीर्ण हैं। इन पत्रो में मित्तनी राजाओं के नाम अर्नतम, दशरत्त आदि हैं, जो संस्कृत के ही हैं। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार गान्धार के ऐल वंश की एक शाखा ने पश्चिम में जाकर अपनी बस्तियाँ कायम की थी। यदि तुर्की की इन प्राचीन खत्ती और मित्तनी जातियो का सम्बन्ध वैदिक युग की भारतीय ऐल जाति के साथ हो, तो इसे असम्भव नहीं कहा जा सकता।

प्राचीन बैबिलोनियन, कैल्डियन (खल्द) और असीरियन लोगों का भी वैदिक युग

के भारतीयों के साथ सम्बन्ध था, इस विषय के अनेक संकेत पाये गए हैं। असीरिया के सम्राट् शाल्मनेसर तृतीय की एक वास्तु-कृति पर बन्दरों और हाथियों की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। ये पशु भारत में पाये जाते हैं, और पश्चिमी एशिया के किसी भी प्रदेश में इनकी सत्ता नहीं थी। इनकी आकृतियों को उत्कीर्ण किया जाना इस तथ्य की ओर संकेत करता है, कि असीरिया के लोगों का भारत के साथ सम्बन्ध था। मुघैर (उर) में चन्द्रमा के एक प्राचीन मन्दिर के अवशेष मिले हैं, जिनमें सागौन की लकडी का प्रयोग किया गया है। यह लकडी भारत से ही वहाँ ले जायी गई थी। पश्चिमी एशिया के इन प्रदेशों में सागौन के वृक्ष न अब होते हैं, और न पहले कभी होते थे। मुघैर (उर) की स्थिति कैल्डियन राज्य के क्षेत्र मे थी। वहाँ के अन्यतम राजा नेबुचडनजर (छठी सदी ईस्वी पूर्व) ने भी अपने राजप्रासाद के निर्माण में सागौन की लकडी का प्रयोग किया था, जिसे उसने भारत से ही प्राप्त किया होगा। इस प्रासाद के भग्नावशेष भी इस समय विद्यमान है।

बैबिलोनियन लोगों ने पश्चिमी एशिया के समुद्रतट के समीप (वर्तमान पैलेस्टाइन मे) कानान नामक जिस उपनिवेश की स्थापना की थी, उसके निवासी पूनि (प्यूनिक) कहलाते थे, जिनके कारण उसे पूनिचिया या फिनीशिया भी कहा जाता था। ये पूनि लोग प्राचीन इतिहास मे नौकानयन और सामुद्रिक व्यापार के लिए बहुत प्रसिद्ध थे। वैदिक साहित्य मे इनका उल्लेख 'पणि' नाम से किया गया है, और इन्हें असुर कहा गया है। यह ऊपर लिखा जा चुका है, कि अस्सुर बैबिलोनियन लोगो का देवता था, जिसके नाम पर उन्होने टिग्रिस नदी के पश्चिमी तट पर अस्सुर नामक नगरी की भी स्थापना की थी। पणि या पूनि लोग भी अस्सुर के उपासक थे, अतः वैदिक साहित्य में उन्हें असुर पणि कहा जाना सर्वथा संगत है। पणि लोगों के व्यापार में प्रवीण होने के कारण वैदिक भाषा में पणि का अर्थ ही व्यापारी हो गया, और उसी से सस्कृत के वणिक् शब्द का निर्माण हुआ।

नील नदी (ईजिप्त मे) के समीपवर्ती प्रदेश को वैदिक साहित्य में 'सवान' नाम से कहा गया है। आज भी यह प्रदेश असवान कहलाता है, जहाँ बनाया गया असवान डाम बडे महत्त्व का है। ऋग्वेद (प्रथम मण्डल, १२६ सूक्त) मे सवान के राजा तूर्त या तूत का उल्लेख है, जिसने एक श्रव (यश) का अनुष्ठान किया था, और जिसमे उसने यज्ञ के पुरोहित को बहुत-से निष्क, अश्व तथा अन्य धन दक्षिणा के रूप में प्रदान किया था। ऋग्वेद के इस सूक्त में वैदिक आर्यों के सवान देश से परिचय तथा वहाँ के राजा तूर्त द्वारा यज्ञ के अनुष्ठान का स्पष्ट संकेत विद्यमान है। इसी प्रकार अथर्व वेद के कुन्ताप सूक्त में कर्करी का उल्लेख है, प्राचीन ईजिप्त में जिसका वही स्थान था, जो कि भारत में गणेश का है। वैदिक साहित्य में विद्यमान ये संकेत प्राचीन भारत और प्राचीन ईजिप्त के पारस्परिक सम्बन्ध के परिचायक हैं। पुराणों में नील नदी के उद्गम स्थान को कुशद्वीप कहा गया है। पुराणों में कुशद्वीप का जो वर्णन है, उसी का सहारा लेकर कैप्टिन स्पीक ने नील नदी के उद्गम का पता लगाया था। नील नदी का यह उद्गम प्रदेश इस समय अबीसीनिया (हब्श) राज्य में है। २००० ई० पूर्व के लगभग

इस प्रदेश में कुश लोगों का शासन रहा था, जिसके कारण यह प्रदेश कुशद्वीप कहलाता था। पुराणों में इसी का उल्लेख विद्यमान है।

बाइबल की अनेक गाथाओं द्वारा भी पाश्चात्य संसार और प्राचीन भारत के पारस्परिक सम्बन्धों के संकेत मिलते हैं। एक गाथा के अनुसार राजा सोलोमन के शासन काल में (८०० ई० पूर्व के लगभग) एक जहाजी बेड़े ने पूर्व के प्रदेशों की यात्रा की थी, और वहाँ से बहुत-सा सोना, चाँदी, हाथी दाँत, बन्दर, मोर, सुपारी के वृक्ष तथा रत्न आदि उसने प्राप्त किए थे। जिस बन्दरगाह पर यह जहाजी बेड़ा व्यापार के लिए गया था, उसका नाम 'ओफिर' या सोफिर था। इसे सोफारा के साथ मिलाया गया है, जिसकी स्थिति भारत के पश्चिमी समुद्रतट पर थी। प्राचीन काल में भारत से जो अनेक वस्तुएँ पश्चिमी देशों मे व्यापार के लिए ले जायी जाती थी, उनमें से कुछ के नाम पाश्चात्य भाषाओ मे ऐसे हैं, जो इन वस्तुओ के संस्कृत के नामो से मिलते-जुलते हैं। हिब्रू भाषा मे कपास के लिए कर्पस शब्द है, जो सस्कृत के कार्पास के सदृश है। चन्दन के लिए ग्रीक भाषा मे सन्तलन शब्द है, जो सस्कृत के सन्दल से मिलता-जुलता है। इसी प्रकार अन्य भी अनेक वस्तुओ के नामो मे समता व सादृश्य का पाया जाना यह सूचित करता है, कि प्राचीन समय के पश्चिमी देशों में बहुत-सी व्यापारिक वस्तुएँ भारत से जाया करती थीं।

प्राचीन काल मे पश्चिमी देशो और भारत का सम्बन्ध केवल व्यापारिक ही नही था। व्यापार द्वारा परस्पर सम्पर्क स्थापित होने के कारण इनमे सास्कृतिक सम्बन्ध भी विकसित हुआ, और दोनो क्षेत्रो के विश्वासों, कथाओं तथा मान्यताओ ने एक-दूसरे को प्रभावित किया। अथर्व वेद में तन्त्र-मन्त्र तथा जादू-टोने की अनेक बातें पायी जाती हैं। अनेक विद्वानो ने प्रतिपादित किया है, कि इन्हे भारत ने बैबिलोनियन व कैल्डियन लोगो से ग्रहण किया था। बाल गगाधर तिलक के अनुसार अथर्व वेद मे जादू-टोने के प्रसग मे जिन शब्दो का प्रयोग किया गया है, उनमे से अनेक का मूल कैल्डिया मे था। इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों मे जलप्लावन की जो कथा पायी जाती है, वह बैबिलोनियन कथा से मिलती-जुलती है।

(३) ईरान के हखामनी सम्राट् और भारत

छठी सदी ई० पू० मे ईरान मे एक शक्तिशाली राजवश का शासन था, जिसे राजा हखामनी ने स्थापित किया था। इस वंश मे कुरु (काइरस) नाम का राजा बहुत शक्तिशाली हुआ। उसका काल ५५९ से ५२९ ई० पू० तक था। राजा कुरु ने अपने राज्य का विस्तार करने के लिए पड़ोस के राज्यो पर आक्रमण करने शुरू किए, और धीरे-धीरे उसने बाख्त्री (बैक्ट्रिया), शकस्थान (सीसतान) और मकरान के प्रदेशो को जीत लिया। इन विजयो से उसके साम्राज्य की पूर्वी सीमा भारत के साथ आ लगी। कुरु के वशजो ने ईरानी साम्राज्य की शक्ति का और अधिक विस्तार किया। उन्होंने ईरान के पश्चिम के मैसोपोटामिया आदि प्रदेशों को जीतकर ईजिप्ट को भी अपने अधीन कर लिया।

हखामनी वंश के राजा दारयवहु (डेरियस) का भारत के इतिहास के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। उसका काल ५२१ से ४८५ ई० पू० तक था। अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए उसने कम्बोज, पश्चिमी गान्धार और सिन्ध की भी विजय की। इनको जीत लेने के कारण भारत के ये पश्चिमी प्रदेश हखामनी साम्राज्य के अन्तर्गत हो गए थे। दारयवहु ने अपने विशाल साम्राज्य को २३ प्रान्तों में विभक्त किया था, जिनके शासकों को 'क्षत्रप' कहा जाता था। कम्बोज, गान्धार और सिन्ध को मिलाकर ईरानी साम्राज्य का एक प्रान्त बनाया गया था। इससे ईरानी सम्राट् को बहुत अधिक आमदनी थी। अन्दाज किया गया है, कि यह आमदनी डेढ़ करोड़ रुपये वार्षिक के लगभग थी।

दारयवहु का उत्तराधिकारी क्षयर्षा (जर्क्सीज) था। उसने पश्चिम में अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए ग्रीस पर आक्रमण किया था। इस आक्रमण में उसकी सेना में भारतीय सैनिक भी अच्छी बड़ी संख्या में सम्मिलित थे। भारत के ये सैनिक सूती कपड़े पहनते थे, जो ग्रीक लोगों के लिए आश्चर्य की बात थी। कपास को देखकर ग्रीक लोग बहुत चकित हुए, और उसे ऊन का पेड़ कहने लगे। इस समय तक ग्रीक लोगों को कपास, सूत व सूती वस्त्रों का परिज्ञान नहीं था।

दारयवहु के तीन लेख इस समय मिलते हैं। ये लेख बहिस्तां, पर्सिपोलिस और नक्शाए-रुस्तम में पाये गए हैं। इनमें से पिछले दो शिलालेखों में भारत का 'हिन्दव' और 'हिन्दुश' नामों से उल्लेख किया गया है। क्षयर्षा (४८५-४६५ ई० पू०) के शिलालेखों में भी इन्हीं नामों से भारत का उल्लेख किया है।

यद्यपि ईरान के सम्राट् भारत के पश्चिमी प्रान्तों को देर तक अपनी अधीनता में नहीं रख सके, पर पश्चिमी देशों से भारत के सम्बन्ध को सुदृढ़ करने में ईरानी साम्राज्य से बहुत सहायता मिली। ईरानी साम्राज्य पश्चिम में ईजिप्त और ग्रीस से लगाकर पूर्व में सिन्ध नदी तक विस्तृत था। इस कारण इस काल में भारत का पश्चिमी देशों के साथ बहुत घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित हुआ, और ग्रीस, ईजिप्त आदि पाश्चात्य देशों को भारत की विचारधाराओं व कला आदि से परिचित होने का अनुपम अवसर प्राप्त हुआ।

५१६ ई० पू० में राजा दारयवहु ने स्काईलैक्स नाम के एक ग्रीक को भारत का अवगाहन करने के लिए भेजा था। स्काईलैक्स ने सिन्ध नदी के साथ-साथ यात्रा की, और सिन्ध के मुहाने पर पहुँच कर वहाँ से जहाज द्वारा अरब सागर और लाल सागर होते हुए स्वेज तक के समुद्रतट का अवगाहन किया। इस यात्रा में उसे ढाई साल के लगभग समय लगा। उसके द्वारा न केवल ईरानी लोगों को अपितु ग्रीस के निवासियों को भी भारत का परिचय हुआ। ग्रीस के प्राचीन ऐतिहासिक हीरोदोतस ने भारत के सम्बन्ध में जो अनेक बातें लिखी हैं, उनका परिज्ञान उसने सम्भवतः स्काइलैक्स द्वारा ही प्राप्त किया था। हीरोदोतस का काल छठी सदी ईस्वी पूर्व में है। वह कुछ समय तक ईरान के राजदरबार में ग्रीस के राजदूत के रूप में भी रहा था। भारत के सम्बन्ध में लिखते हुए हीरोदोतस ने एक ऐसे भारतीय सम्प्रदाय का भी उल्लेख किया

है, जिसके अनुयायी मांस भक्षण से परहेज करते थे, और केवल अन्न द्वारा अपना निर्वाह करते थे। यह सम्प्रदाय सम्भवतः जैन लोगों का था, जो अहिंसा को बहुत महत्त्व देते थे। जैन धर्म इस समय तक भारत मे प्रचारित हो चुका था।

(४) बौद्ध काल

ईरान मे हखामनी साम्राज्य के विकास के कारण भारत का पाश्चात्य देशों के साथ जो सम्बन्ध स्थापित हुआ, बौद्धकाल मे उसमे बहुत वृद्धि हुई। भारत के व्यापारियो के साथ-साथ इस देश के विचारक भी पश्चिमी देशों मे अच्छी बड़ी सख्या में जाने लगे, और पाश्चात्य लोगों को भारत के दर्शन व विचारो से परिचित होने का अवसर मिला। जातक कथाओ में उन व्यापारियो का उल्लेख आता है, जो पश्चिम मे बावेरु (बैबिलोन) के साथ व्यापार करते थे, और जिनके पण्य को देखकर इन पाश्चात्य देशों के निवासी बहुत चकित हुआ करते थे। इन व्यापारियो के साथ भारत के दार्शनिक और विचारक भी पश्चिमी देशो मे जाने लगे, और उनके सम्पर्क के कारण ग्रीस आदि देशों के अनेक तत्त्वचिन्तक भी ज्ञान की पिपासा को शान्त करने के लिए भारत की यात्रा के लिए तत्पर हुए।

भारत के सम्पर्क के कारण ही ग्रीस के दार्शनिक विचारो मे परिवर्तन आना प्रारम्भ हुआ। एशिया माइनर के समुद्रतट के साथ-साथ जो अनेक ग्रीक बस्तियां बसी हुई थी, वे ईरानी साम्राज्य के अन्तर्गत थी। इसीलिए वहाँ रहने वाले ग्रीक विचारकों का भारत के दार्शनिको के साथ सुगमता से सम्पर्क हुआ, और उन्होने 'एक ईश्वर' की सत्ता का प्रतिपादन किया। एशिया माइनर की ग्रीक बस्तियो मे क्सेनोफोनस, पर्मेनिडस, जेनो आदि अनेक ऐसे विचारक हुए, जिनके विचार भारतीय उपनिषदो की विचारधारा से बहुत मिलते-जुलते हैं। ग्रीक लोग देवी-देवताओ में विश्वास रखते थे। पर इन विचारकों ने एक ईश्वर की सत्ता का प्रतिपादन किया। साथ ही, इन्होने इस बात पर भी जोर दिया कि ईश्वर के सम्मुख भौतिक वस्तुओ की सत्ता सर्वथा तुच्छ है।

५८० ई० पू० मे ग्रीस मे एक महान् दार्शनिक का जन्म हुआ, जिसका नाम पाइथोगोरस था। उसके विषय मे कहा जाता है, कि उसने ज्ञान की खोज मे दूर-दूर तक यात्रा की, और वह भारत मे भी आया। पाइथोगोरस ने जिन सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया, उनमे पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी है। उसका विश्वास था, कि मृत्यु के साथ मनुष्य का अन्त नही हो जाता, अपितु आत्मा पुन जन्म ग्रहण करती है। यह सिद्धान्त उसने भारतीयो से ही सीखा था। पाइथोगोरस अहिंसा का भी पक्षपाती था, और मांस-भक्षण का विरोधी था। उसके अन्य अनेक सिद्धान्त भी भारतीय सिद्धान्तों से मिलते-जुलते हैं। उपनिषदो और बुद्ध की शिक्षाओं का प्रभाव उसके विचारो पर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

एक प्राचीन ग्रीक लेखक के अनुसार कतिपय भारतीय दार्शनिक ग्रीस मे एथेन्स तक पहुँच गए थे, और वहाँ जाकर उन्होंने ग्रीस के प्रसिद्ध विद्वान् सुकरात (मृत्युकाल ३९९ ई० पू०) से भी भेंट की थी। उन्होंने सुकरात से पूछा कि उनके दर्शन-शास्त्र का

क्या प्रयोजन है ? सुकरात ने उत्तर दिया—'मनुष्य के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करना'। इस पर भारत के दार्शनिक हँस पड़े, और उन्होंने कहा—"ईश्वर के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त किए बिना मनुष्य को जान सकना सम्भव नहीं है।"

सुकरात का प्रसिद्ध शिष्य प्लेटो था। उसके विचार भारत के विचारों से बहुत मिलते-जुलते हैं। उसने कर्मफल और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों का जिक्र किया है, और साथ ही मानव समाज को तीन वर्गों या वर्णों में विभक्त किया है। यह वर्णविभाग भारत की वर्णव्यवस्था के सदृश है। जिस प्रकार मनु आदि भारतीय विचारक वर्णों का मूल ईश्वरीय मानते हैं, वैसे ही प्लेटो भी मानता है। सम्भव है, कि प्लेटो को इन सिद्धान्तों का परिचय उन भारतीय दार्शनिकों से ही प्राप्त हुआ हो, जिन्होंने एथेन्स में सुकरात से भेंट की थी। इसमें सन्देह नहीं, कि ईरान के हखामनी साम्राज्य के कारण भारत का पश्चिमी देशों के साथ सम्पर्क बहुत अधिक बढ़ गया था।

हीरोदोतस के समान क्टेसियस नाम के एक अन्य ग्रीक लेखक ने भी भारत के सम्बन्ध मे लिखा है। वह बीस वर्ष (४१८-३९८ ई० पू०) तक ईरान के राजदरबार में रहा था, और वहाँ रहते हुए उसे भारतीयों के सम्पर्क में आने का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ था।

हखामनी साम्राज्य के कारण भारत और पाश्चात्य देशों में जिस घनिष्ठ सम्बन्ध की स्थापना हुई, उसने भारतीय संस्कृति को भी अनेक प्रकार से प्रभावित किया।

(५) सिकन्दर का आक्रमण और मौर्य-युग

चौथी सदी ईस्वी पूर्व में मैसिडोनिया के राजा सिकन्दर ने अपने विशाल साम्राज्य का निर्माण किया। उसका पिता फिलिप ग्रीक राज्यो को जीतकर अपने अधीन कर चुका था। सिकन्दर ने ईजिप्त और ईरानी साम्राज्य को विजय करके भारत पर भी आक्रमण किया, और उसके उत्तर-पश्चिमी प्रदेशो को अपने अधीन कर लिया। यद्यपि वह भारत मे अपने शासन को स्थायी नही बना सका, पर उसकी विजय-यात्राओं के कारण भारत का पाश्चात्य संसार के साथ सम्बन्ध और भी अधिक घनिष्ठ हो गया। सिकन्दर के साथ बहुत-से ग्रीक, ईजिप्शियन व ईरानी सैनिको ने भारत मे प्रवेश किया था, और उसने इन विदेशी सैनिको की अनेक छावनियाँ भी भारत मे कायम की थी। उसने ग्रीक और भारतीय लोगों में विवाह-सम्बन्ध को भी प्रोत्साहन दिया था। सिकन्दर के शासन के नष्ट हो जाने पर ये सब विदेशी सैनिक भारत से वापस नहीं लौट गए थे, इनमें से बहुत-से स्थायी रूप से भारत में ही आबाद भी हो गए थे। सिकन्दर के बाद उसके अन्यतम उत्तराधिकारी सैल्युकस ने एक बार फिर भारत को जीतने का प्रयत्न किया था, यद्यपि वह भी अपने प्रयत्न में सफल नहीं हो सका था। विशाल मौर्य साम्राज्य की स्थापना के कारण ग्रीक लोग भारत को अपनी अधीनता मे ला सकने मे असमर्थ रहे थे। पर अशोक के बाद जब मौर्य साम्राज्य की शक्ति क्षीण होने लगी, तो ग्रीक आक्रान्ताओं ने उत्तर-पश्चिमी भारत के अनेक प्रदेशों को जीतकर अपने अधीन

कर लिया, और वहाँ अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित किए। इस प्रकार सिकन्दर के समय से ईस्वी सन् के प्रारम्भ तक भारत का पश्चिम के ग्रीक लोगों (जिन्हें भारतीय 'यवन' कहते थे) से सम्बन्ध निरन्तर बना रहा।

मौर्य युग में भारत का पाश्चात्य देशों के साथ सम्बन्ध—चन्द्रगुप्त मौर्य से परास्त होकर सैल्युकस ने भारत के सम्राट् से जो सन्धि की थी, उसके अनुसार सैल्युकस की कन्या का विवाह चन्द्रगुप्त के साथ हुआ था, और उसने अपना राजदूत भी चन्द्रगुप्त के दरबार में निवास के लिए नियुक्त किया था। सैल्युकस का राजदूत मैगस्थनीज चन्द्रगुप्त के दरबार मे रहता था, और चन्द्रगुप्त ने भी अपना दूत सैल्युकस के दरबार में भेजा था। सैल्युकस के उत्तराधिकारी एण्टियोकस सार्टर ने डायमेचस को अपना राजदूत बनाकर चन्द्रगुप्त मौर्य के उत्तराधिकारी बिन्दुसार के दरबार मे पाटलिपुत्र भेजा था। प्राचीन ग्रीक लेखको ने एण्टियोकस और बिन्दुसार के सम्बन्ध मे अनेक कथाएँ लिखी हैं। एक कथा के अनुसार बिन्दुसार ने एण्टियोकस से कुछ शराब, कुछ किशमिशें और एक ग्रीक दार्शनिक खरीद कर भेज देने के लिए लिखा था। इस पर एण्टियोकस ने शराब और किशमिशें तो खरीद कर भेज दी पर दार्शनिक के सम्बन्ध मे कहला दिया कि ग्रीक प्रथा के अनुसार दार्शनिकों का क्रय-विक्रय सम्भव नही है। बिन्दुसार के समय मे ईजिप्त का राजा टाल्मी फिलेडेल्फस (२८५-२४६ ई० पू०) था। उसने भी डायोनीसियस नाम का राजदूत बिन्दुसार के दरबार मे भेजा था।

सम्राट् अशोक—अशोक के शासनकाल मे भारत का पाश्चात्य ससार के साथ सम्बन्ध और भी अधिक बढा। धर्म द्वारा अन्य देशों की विजय करने के उपक्रम मे अशोक ने ईजिप्त, ग्रीस आदि पश्चिमी देशो मे अपने धर्म-महामात्र नियत किए थे। उसके शिलालेखो से सूचित होता है, कि पश्चिमी संसार के निम्नलिखित राजाओं के राज्यो मे धर्म-महामात्रो की नियुक्ति की गई थी—

(१) सीरिया के राजा अन्तियोक (एन्टियोकस थिओस) के राज्य मे।
(२) ईजिप्त के राजा तुरुमय (टाल्मी फिलैडेल्फस) के राज्य मे।
(३) मैसिडोन के राजा अन्तिकिनि (एन्टिगोनस) के राज्य मे।
(४) कारिन्थ के राजा अलिकसुन्दर (अलैक्जेण्डर) के राज्य मे।

अशोक के समय मे पाश्चात्य ससार के ये ही प्रमुख राज्य थे। इन सब में अशोक द्वारा नियुक्त महामात्रो ने धर्मविजय की स्थापना के लिए अनेक लोकोपकारी कार्य किए, और जनता को धर्मसन्देश सुनाया। इसका परिणाम यह हुआ, कि इन पश्चिमी देशो के साथ भारत का सम्पर्क और भी अधिक दृढ हो गया, और न केवल व्यापारी अपितु भारत के धर्म प्रचारक व दार्शनिक भी इन देशो मे आने-जाने लगे।

ग्रीक आक्रमण—चन्द्रगुप्त मौर्य ने भारत मे जिस विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, वह अशोक के बाद कायम नहीं रह सका। सम्भवत, पाश्चात्य देशो द्वारा पाटलिपुत्र के राजदरबार मे अपने राजदूत नियुक्त करने की जो प्रथा चन्द्रगुप्त के समय में प्रारम्भ हुई थी, वह भी अशोक के बाद नष्ट हो गई। पर इस कारण भारत और पाश्चात्य देशों के सम्पर्क मे कमी नही आई। इसका कारण यह था, कि सिकन्दर के

साम्राज्य के खंडहरों पर जो अनेक ग्रीक राज्य कायम हुए थे, उनके राजाओं ने मौर्य साम्राज्य की निर्बलता से लाभ उठाकर भारत पर आक्रमण शुरू कर दिए, और वे इस देश में अपने छोटे-छोटे राज्य स्थापित करने में सफल भी हुए। बाख्त्री (बैक्ट्रिया) के प्रान्तीय ग्रीक शासक ने सीरिया के सम्राट् के विरुद्ध विद्रोह कर अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया था, और अपनी शक्ति का विस्तार करते हुए उसने भारत पर भी आक्रमण किया था। २५० ई० पू० में स्थापित बाख्त्री का यह ग्रीक राज्य बहुत शक्तिशाली था। उसके राजा ग्रीक थे, और उनकी सेना में भी ग्रीक सैनिकों की प्रधानता थी। भारतीय लोग इन ग्रीकों को 'यवन' कहा करते थे। २०५ ई० पू० के लगभग बाख्त्री के इन यवनों ने भारत पर चढ़ाई की और काबुल, कान्धार, हीरात व मकरान के प्रदेशों को जीतते हुए उत्तर-पश्चिमी पंजाब पर भी अपना अधिकार कर लिया। इस प्रकार भारत में भी अनेक ग्रीक राज्यों की स्थापना हुई, जिनके राजाओं के सिक्के अच्छी बड़ी संख्या में उत्तर-पश्चिमी भारत में उपलब्ध हुए हैं।

मीनान्दर—भारत के इन यवन राजाओं में मीनान्दर सबसे प्रसिद्ध है। उसकी राजधानी सागल या शाकल (सियालकोट) थी। बौद्ध भिक्षुओं के सम्पर्क में आकर उसने बौद्ध धर्म की दीक्षा ले ली थी। 'मिलिन्द पन्हो' नाम का एक ग्रन्थ पाली भाषा में मिलता है, जिसमें राजा मिलिन्द (मीनान्दर) द्वारा बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में पूछे गये प्रश्नों तथा उनके उत्तरों का उल्लेख है। मीनान्दर के समान अन्य भी अनेक यवन राजाओं और उनके राजकर्मचारियों ने बौद्ध व अन्य भारतीय धर्मों को स्वीकार कर लिया था। हेलिओदोर नाम के एक यवन राजदूत को तक्षशिला के यवन राजा अन्तलिखित ने विदिशा भेजा था, जो वहाँ जाकर वासुदेव (विष्णु) का उपासक बन गया था। वासुदेव की पूजा के लिए उसने एक गरुड़ध्वज का निर्माण कराया था, जो अब तक भी विद्यमान है। हेलिओदोर के समान अन्य भी बहुत-से ग्रीक राजा व कर्मचारी भारतीय संस्कृति के सम्पर्क में आकर भारतीय हो गए थे, और इस देश की जनता के अंग बन गए थे।

उत्तर-पश्चिमी भारत में ग्रीक राज्यों की स्थापना के कारण भारत और पाश्चात्य देशों में सम्पर्क की वृद्धि में बहुत सहायता मिली। इस युग में बाख्त्री का यवन राज्य और उत्तर-पश्चिमी भारत के अन्य यवन राज्य स्थलमार्ग द्वारा भारत और पश्चिमी देशों में सम्बन्ध की स्थापना में बहुत अधिक सहायक हुए। यह स्थलमार्ग खैबर के दर्रे से होकर और हिन्दुकुश पर्वतमाला को पार कर बाख्त्री पहुँचता था, और वहाँ से ऑक्सस नदी के साथ-साथ होकर कैस्पियन सागर व उससे भी परे काला सागर तक पहुँच जाता था। इसके अतिरिक्त एक अन्य स्थलमार्ग ईरान होता हुआ पश्चिमी एशिया के समुद्रतट तक जा पहुँचता था।

ईजिप्ट और भारत का सम्बन्ध—अशोक ने अपने धर्ममहामात्र ईजिप्त के राजा टॉल्मी फिलेडेल्फस के राज्य में भी भेजे थे। एक ग्रीक लेखक ने लिखा है, कि टॉल्मी (२८५-२४६ ई० पू०) के पास भारतीय स्त्रियाँ, भारत के शिकारी कुत्ते और गौवें भी विद्यमान थीं। उसकी राजधानी में भारत से आये हुए मसालों से लदे हुए

ऊँट भी दिखाई देते थे। इसी ग्रीक लेखक के अनुसार टॉल्मी के एक उत्तराधिकारी ने एक ऐसी नौका अपने लिए बनवाई थी, जिसकी बैठक को भारत के बहुमूल्य प्रस्तरों से विभूषित किया गया था।

अशोक की धर्म विजय की सफलता—अशोक ने ग्रीस, सीरिया, ईजिप्त आदि पाश्चात्य देशों में अपने जो धर्ममहामात्र नियत किये थे, उन्हे धर्म-विजय की स्थापना के अपने उद्देश्य मे कहाँ तक सफलता हुई थी, इस सम्बन्ध मे हमें ज्ञान नही है। पर इस विषय मे अल्बरूनी का यह कथन ध्यान देने योग्य है कि "पुराने जमाने मे खुरासान, ईरान, ईराक, मोसल और सीरिया की सीमा तक के सब प्रदेश बौद्ध धर्म के अनुयायी थे।" अल्बरूनी ने दसवी सदी के अन्त मे भारत की यात्रा की, और वह फारसी, संस्कृत तुर्की आदि भाषाओं का गम्भीर विद्वान् था। भारत से पश्चिम के प्रदेशों मे बौद्ध धर्म के प्रचार की सत्ता के सम्बन्ध मे उसने जो बात लिखी है, उसका आधार इन देशो का पुराना इतिवृत्त ही था। इससे सूचित होता है, कि अशोक के धर्ममहामात्र अपने उद्देश्य मे अवश्य ही सफल हुए थे।

(६) भारत और रोमन-साम्राज्य

तीसरी सदी ई० पू० मे पाश्चात्य संसार मे रोम के उत्कर्ष का प्रारम्भ हुआ था, और धीरे-धीरे इस छोटे-से गणराज्य ने उत्तरी अफ्रीका, स्पेन, कार्सिका और सार्डिनिया आदि के सब प्रदेशों को अपने अधीन कर लिया था। पहली सदी ई० पू० मे रोम ने पूर्व दिशा की ओर भी अपने साम्राज्य का विस्तार शुरू किया, और ग्रीस, एशिया-माइनर व ईजिप्त को जीत कर मैसोपोटामिया तक के प्रदेशो को अपने अधीन कर लिया। ४६ ई० पू० तक यह दशा आ गयी थी, कि स्पेन और फ्रास से लगाकर मैसोपोटामिया तक, और आल्प्स की पर्वतमाला से उत्तरी अफ्रीका तक सर्वत्र रोम का आधिपत्य था। रोम का विशाल साम्राज्य यूरोप, एशिया और अफ्रीका तीनो महाद्वीपों मे फैला हुआ था। ईस्वी सन् के प्रारम्भ होने से पूर्व ही रोम से गण-शासन का अन्त होकर सम्राटो का शासन स्थापित हो गया था। ये रोमन सम्राट् अपने समय के सबसे अधिक शक्तिसम्पन्न व वैभवशाली सम्राटो मे से थे।

भारत और रोम का साम्राज्य—ग्रीस, पश्चिमी एशिया और ईजिप्त से भारत का घनिष्ट सम्बन्ध था, यह ऊपर लिखा जा चुका है। जब रोम ने इन प्रदेशो को जीत लिया, तो भी भारत का इन देशों के साथ सम्बन्ध जारी रहा। अब भारत के व्यापारी ग्रीस और ईजिप्त से भी आगे बढ़कर पश्चिम में इटली और रोमन साम्राज्य के अन्य पश्चिमी प्रदेशो के साथ व्यापार करने के लिए प्रवृत्त हुए। रोमन साम्राज्य के सर्वत्र शान्ति और व्यवस्था स्थापित थी। इस कारण भारत के व्यापारियों के लिए भूमध्य-सागर के पश्चिमी भागो मे भी दूर-दूर तक व्यापार के लिए आना-जाना सुगम हो गया था।

रोम के शासक भारत के व्यापार को बहुत अधिक महत्व देते थे। उनकी नीति यह थी कि पूर्वी देशो का यह व्यापार समुद्र के मार्ग से हो, और ईरान से होकर आने

वाला स्थल-मार्ग अधिक प्रयोग में न आए। इसी कारण २५ ई० पू० में सम्राट् आगस्तस ने एक मण्डल इस प्रयोजन से नियुक्त किया था कि वह समुद्र के मार्ग को विकसित व उन्नत करने का प्रयत्न करे। इस मंडल के प्रयत्न से शीघ्र ही अदन और ईजिप्त पर ग्रीस के व्यापारियों ने कब्जा कर लिया, और वहाँ अपनी बस्तियाँ बसा लीं। अनुकूल सामुद्रिक वायु का ज्ञान हो जाने के कारण इस समय के जहाज तीन मास से भी कम समय में भारत से एलेक्जण्ड्रिया (ईजिप्त का बन्दरगाह) तक आने-जाने लग गए थे। इस समय एलेक्जण्ड्रिया से भारत की ओर जाने वाले जहाजों की संख्या प्रतिदिन एक की औसत से थी। इससे सहज मे ही यह अनुमान किया जा सकता है, कि भारत का इन पाश्चात्य देशो के साथ व्यापार-सम्बन्ध कितना अधिक था।

भारत से जो माल पाश्चात्य देशो में बिकने के लिए जाता था, वहाँ उसकी मांग बहुत अधिक थी। हाथी दाँत का सामान, मसाले, मोती, सुगन्धियाँ और सूती वस्त्र आदि सामान भारत से बहुत बडी मात्रा में रोम तथा साम्राज्य की अन्य नगरियों मे बिकने के लिए जाता था, और उसके बदले मे बहुत-सा सोना भारत को प्राप्त होता था। ७७ ई० पू० मे रोम के एक लेखक ने शिकायत की थी, कि भारत रोम से हर साल साढ़े पाँच करोड का सोना खींच लेता है, और यह कीमत रोम को वहाँ के निवासियो के भोग-विलास के कारण देनी पड़ती है। १२५ ईस्वी में रोमन साम्राज्य के अन्यतम प्रान्त सीरिया के सम्बन्ध मे एक चीनी लेखक ने लिखा था, कि भारत के साथ इसका जो व्यापार है, उसमे आयात माल के मूल्य की मात्रा निर्यात माल के मूल्य से दस गुना है। जो दशा सीरिया की थी, वही रोमन साम्राज्य के अन्य प्रान्तो की भी थी। इसी कारण आयात माल की कीमत को चुकाने के लिए बहुत-सा सोना हर साल भारत को दिया जाता था। यही कारण है, जो रोम की बहुत-सी सुवर्ण मुद्राएँ इस समय भी भारत में अनेक स्थानों पर प्राप्त होती हैं। दक्षिणी भारत के कोयम्बटूर और मदुरा जिलो से रोम के इतने सिक्के मिले हैं जिन्हें कि पाँच कुली उठा सकने में समर्थ होंगे। पंजाब के हजारा जिले से भी रोम के बहुत-से सिक्के मिले हैं, जिनके कारण भारत और रोमन साम्राज्य के पारस्परिक व्यापार के सम्बन्ध मे कोई भी सन्देह नहीं रह जाता। भारत से रोम जाने वाले माल मे सूती वस्त्र बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे। एक रोमन लेखक ने शिकायत की थी, कि रोम की स्त्रियाँ भारत से आने वाले 'बुनी हुई हवा के जाले' (मलमल) को पहनकर अपने सौन्दर्य को प्रदर्शित करती हैं। इसमें सन्देह नही कि प्राचीन समय में भारत अपने महीन वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध था।

रोम और कुशाण साम्राज्य—रोमन साम्राज्य के विकास के काल में उत्तरी भारत में कुशाण साम्राज्य की सत्ता थी। कुशाणों का शासन हिन्दूकुश पर्वतमाला के परे बाख्त्री आदि प्रदेशो में भी विस्तृत था। इस कारण उस समय रोमन साम्राज्य तक जाने वाले स्थल-मार्गों का महत्त्व बहुत बढ़ गया था। जब रोम की राजगद्दी पर सम्राट् ट्राजन (९९ ईस्वी) विराजमान हुआ, तो भारत के कुशाण सम्राट् (सम्भवतः, कनिष्क) ने अपना एक दूतमण्डल इस अवसर पर रोम भेजा था। वहाँ भारत के इस दूतमण्डल का शानदार स्वागत किया गया, और उन्हें दरबार में उच्च आसन दिए गए।

रोम और अन्य भारतीय राजा—केवल कुशाण सम्राटों का ही रोम के सम्राटों के साथ सम्बन्ध नही था। अन्य भारतीय राजा भी रोम के सम्राटों के दरबार में अपने दूतमण्डल भेजा करते थे। स्त्राबो के अनुसार २५ ईस्वी पूर्व में पाण्डिग्रॉन (संभवत:, दक्षिणी भारत के पाण्ड्य देश के अन्यतम राजा) ने एक दूतमण्डल रोम भेजा था, जिसने भृगुकच्छ के बन्दरगाह से प्रस्थान किया था। चार साल की यात्रा के बाद इस दूत-मण्डल ने रोम के सम्राट् ग्रागस्तस से भेंट की थी, और पाण्ड्य राजा द्वारा भेजे हुए उपहार उसे समर्पित किये थे। इन उपहारो में शेर, अजगर आदि के अतिरिक्त एक ऐसा बालक भी था, जिसके हाथ नही थे, पर जो पैर से तीर-कमान चला सकता था। इस दूतमण्डल का नेता शरमनोचेगस (श्रमणाचार्य) नाम का एक व्यक्ति था, जो सम्भवत· जैन धर्म का अनुयायी था। इसी प्रकार के अनेक अन्य दूतमण्डल भारतीय राजाओं द्वारा रोम भेजे गए थे। भारत के दूतमण्डल चौथी सदी तक रोम जाते रहे।

प्रसिद्ध बन्दरगाह—इस युग में भारत और पाश्चात्य देशो के बीच व्यापार की जिस ढग से वृद्धि हो गयी थी, उसके कारण भारत के समुद्रतट पर अनेक ऐसे समृद्ध बन्दरगाहों का विकास हो गया था, जिनमे विदेशी व्यापारी भी अच्छी बडी सख्या मे निवास करते थे। इनमे सबसे प्रसिद्ध "मुजिरिस" था, जो मलाबार के समुद्रतट पर स्थित था। तमिल भाषा के एक कवि ने इस बन्दरगाह के सम्बन्ध मे लिखा है कि यहाँ यवनो के जहाज सोने से लदे हुए आते हैं, और उनके बदले मे काली मिर्च भर कर ले जाते हैं। मुजिरिस मे रोमन लोगो की एक बस्ती भी विद्यमान थी, और वहाँ सम्राट् ऑगस्तस के सम्मान मे एक रोमन मन्दिर का निर्माण भी किया गया था। जिस प्रकार सोलहवी सदी मे पोर्तुगाल, डच, स्पेनिश आदि यूरोपियन व्यापारियो ने भारत के विविध बन्दरगाहों मे व्यापार के निमित्त अपनी बस्तियाँ कायम की थी, वैसे ही ईस्वी सन् की प्रारम्भिक सदियों में रोमन साम्राज्य के विविध प्रदेशों (सीरिया, ईजिप्त आदि) के व्यापारियो ने मुजिरिस आदि बन्दरगाहों मे अपनी बस्तियाँ स्थापित कर ली थी। भारत के अनेक राजा भी इस समय इन विदेशियो को अपनी नौकरी मे रखने लगे थे, और अनेक पाश्चात्य लड़कियाँ भी उनके अन्तःपुरो की शोभा बढाने लग गयी थी।

मुजिरिस के अतिरिक्त मदुरा, भृगुकच्छ आदि अन्य भी अनेक बन्दरगाह थे, जो विदेशी व्यापार के अच्छे बड़े केन्द्र थे, और जहाँ यवन लोग बड़ी संख्या मे निवास करते थे।

जिस प्रकार भारत के बन्दरगाहो मे विदेशी लोगों की बस्तियाँ थीं, वैसे ही ईरान की खाडी, लाल सागर और भूमध्यसागर के बन्दरगाहो में भारतीय व्यापारियों ने भी अपनी बस्तियाँ बसा ली थीं। पाश्चात्य जगत् के बन्दरगाहों में इस समय सबसे बडा एलेग्जेण्ड्रिया था, जो जनसंख्या की दृष्टि से रोमन साम्राज्य मे रोम के बाद सबसे बड़ा नगर था। यह न केवल विदेशी व्यापार का महत्वपूर्ण केन्द्र था, अपितु ज्ञान-विज्ञान के लिए भी अद्वितीय था। इसका कलाभवन (म्यूजियम) संसार भर मे प्रसिद्ध था, और इसके पुस्तकालय से लाभ उठाने के लिए दूर-दूर के विद्वान् आया करते थे। भारतीय विद्वान् भी यहाँ अच्छी बड़ी संख्या में विद्यमान थे, और उनकी उपस्थिति के

कारण पाश्चात्य लोगों को भारत के दर्शन व विज्ञान से परिचित होने का अवसर प्राप्त होता था। ट्राजन के शासन काल में दिओ क्रिसोस्तम नाम के विद्वान् ने एलेग्जेण्ड्रिया में व्याख्यान देते हुए कहा था—"इस सभा मे न केवल ग्रीक, इटालियन, सीरियन, लीबियन और साइलीसियन ही उपस्थित हैं, अपितु वे भी लोग हैं, जो अधिक दूर के देशों के निवासी हैं, यथा ईथियोपियन, अरब, बैक्ट्रियन, सीरियन और भारतीय।" एलेग्जेण्ड्रिया में एक प्राचीन समाधि विद्यमान है, जिस पर त्रिशूल और चक्र अंकित हैं। वह किसी भारतीय विद्वान् की समाधि है, जिसने अपनी जीवन लीला सुदूर ईजिप्त मे समाप्त की थी। ४७७ ईस्वी मे कुछ ब्राह्मण एलेग्जेण्ड्रिया की यात्रा के लिए गए थे, और वे वहाँ के शासक के अतिथि रूप में ठहरे थे। एलेग्जेण्ड्रिया के समान पाश्चात्य ससार मे अन्य भी अनेक ऐसे बन्दरगाह थे, जहाँ न केवल भारतीय व्यापारी अपितु विद्वान् भी बडी संख्या मे निवास करते थे।

(७) पाश्चात्य साहित्य में भारत का विवरण

भारत का पाश्चात्य देशो के साथ जो घनिष्ठ सम्बन्ध था, उसी का यह परिणाम है कि अनेक ग्रीक और रोमन लेखको ने भारत के विषय मे अनेक पुस्तकें लिखी हैं। मैगस्थनीज का भारतवर्णन बहुत प्रसिद्ध है। यह ग्रीक विद्वान् सैल्युकस के राजदूत के रूप मे चन्द्रगुप्त मौर्य के राजदरबार मे रहा था, और उसे भारत के विषय मे जानकारी प्राप्त करने का अनुपम अवसर प्राप्त हुआ था। पहली सदी ई० पू० मे स्त्राबो ने भारत के विषय मे एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की थी। पर स्त्राबो के ग्रन्थ का मुख्य आधार एरानोस्थनीज (२४०-१९६ ई० पू०) की भारत विषयक पुस्तक थी। यह विद्वान् एलेग्जेण्ड्रिया के पुस्तकालय का अध्यक्ष था, और वहाँ रहते हुए उसने भारत के विषय मे बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त किया था। एरियन नामक लेखक ने १५० ई० पू० के लगभग भारत के विषय मे अपनी पुस्तक की रचना की थी, और ७७ ई० पू० में प्लिनी ने ईजिप्त से भारत तक की समुद्र यात्रा का वृत्तान्त लिखा था। इस वृत्तान्त मे भारत के पशुओ, खनिज पदार्थों, वनस्पति और ओषधियो का भी विशद रूप से वर्णन किया गया है।

पहली सदी ईस्वी मे ही एक ग्रीक मल्लाह ने समुद्र मार्ग द्वारा भारत की यात्रा की थी। उसका नाम ज्ञात नही है, पर उसकी लिखी हुई पुस्तक अब तक भी विद्यमान है, जिसका अंग्रेजी अनुवाद 'परिप्लस ऑफ दी एरीथ्रियन सी' नाम से प्रकाशित है। यह पुस्तक बहुत महत्त्वपूर्ण है, और इसे पढने से ज्ञात होता है कि उस समय मे सिन्ध और गुजरात के अनेक बन्दरगाह पश्चिमी व्यापार के बड़े केन्द्र थे, और उनमे बहुत-से विदेशी व्यापारी सदा विद्यमान रहते थे। १५० ईस्वी के लगभग एलेग्जेण्ड्रिया के भूगोलवेत्ता टॉल्मी ने भूगोल के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी, जिसमे कि भारत की भौगोलिक स्थिति पर भी प्रकाश डालने का यत्न किया गया था।

दूसरी सदी ईस्वी में लिखा हुआ एक ग्रीक नाटक उपलब्ध हुआ है, जिसमें कि एक ग्रीक महिला का वृत्तान्त है, जिसका जहाज भारत में कर्नाटक के समुद्रतट पर

टूट गया था। इस नाटक में कर्नाटक के निवासियों से जो भाषा कहायी गई है, उसमें कन्नड़ भाषा के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है।

तीसरी सदी ईस्वी के पाश्चात्य साहित्य में अनेक ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनमें भारत के दार्शनिक विचारो और धार्मिक सिद्धान्तों का वर्णन है। इन ग्रन्थों के लेखकों में एलेग्जेण्ड्रिया के निवासी क्लीमैण्ट (मृत्युकाल २२० ईस्वी), बैबिलोनिया के निवासी बार्देसनस, सेण्ट जरोम, फिलोस्ट्रेटस और कैसियस के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से क्लीमैण्ट और बार्देसनस ने बुद्ध का जिक्र किया है, और उनके जन्म की कथा का विशद रूप से उल्लेख किया है। भारत के दार्शनिक विचारों का इन सभी लेखकों ने अपने ग्रन्थों मे जिक्र किया है। क्लीमैण्ट ने लिखा है कि "बहुत से भारतीय बुद्ध के अनुयायी है, और उनका वे इतना आदर करते हैं कि उसे भगवान् मानते हैं।" क्लीमैण्ट ने यह भी लिखा है कि बौद्ध लोग पुनर्जन्म मे विश्वास करते हैं, और अपने पूज्यजनों की अस्थियों पर स्तूप बनाकर उनकी पूजा करते हैं। क्लीमैण्ट ने अनेक बार एलेग्जेण्ड्रिया मे बौद्ध लोगों की उपस्थिति का उल्लेख करते हुए यह स्वीकार किया है, कि ग्रीक लोगो ने अपने दार्शनिक विचार इन विदेशियों से ही ग्रहण किये हैं। केवल ग्रीक लोगों के दार्शनिक विचारो पर ही नही, अपितु ईसाइयो की कथाओं पर भी भारतीय कथाओ की छाप है। इसका कारण यही है कि एलेग्जेण्ड्रिया आदि में बहुत से भारतीय विद्वान् अच्छी बडी सख्या मे निवास करते थे, और पाश्चात्य लोगो को उनके सम्पर्क मे आने का अवसर मिलता रहता था। यही कारण है, जो न केवल पाश्चात्य साहित्य मे भारत-विषयक अनेक ग्रन्थो की सत्ता है, अपितु उनके अपने साहित्य पर भी भारत की छाप है।

पाश्चात्य कथाओं पर भारतीय प्रभाव—पाश्चात्य देशो के साहित्य को भारत ने किस अंश तक प्रभावित किया है, इसका अनुमान उन कथाओ से किया जा सकता है, जिन पर भारत का प्रभाव प्रत्यक्ष है। भारत का कथा-साहित्य बहुत पुराना है, और उसमे जातको, पचतन्त्र, हितोपदेश और शुकसप्तशती का स्थान बहुत महत्त्व का है। भारत के व्यापारियो के साथ-साथ इस देश की कथाओ ने भी छठी सदी ईस्वी पूर्व से भी पहले पश्चिमी देशो मे प्रवेश करना प्रारम्भ कर दिया था। ईसप नाम के लेखक की कथाएँ भारतीय कथाओं पर ही आधारित है। प्लेटो के ग्रन्थो मे भी अनेक भारतीय कथाओ की सत्ता है, जिनमें कि शेर की खाल ओढे हुए गधे की कथा मुख्य है। पाश्चात्य और भारतीय कथाओ की समता तो असंदिग्ध है, पर इन कथाओं को पाश्चात्य लोगो ने भारत से ही लिया था, इसका प्रमाण यह है कि इन कथाओ के पात्र शेर, गीदड, मोर, हाथी आदि जो पशु हैं, वे भारतीय हैं, पाश्चात्य नहीं।

(८) पाश्चात्य देशों के साथ सम्पर्क के परिणाम

भारत और पाश्चात्य देशो का यह सम्पर्क इस्लाम के प्रादुर्भाव तक कायम रहा। सातवीं सदी में जब अरब साम्राज्य का विकास हुआ, तो ईजिप्त, पश्चिमी एशिया, मैसोपोटामिया आदि के सब प्रदेश उसकी अधीनता में आ गये। इसका परिणाम यह हुआ कि एलेग्जेण्ड्रिया का स्थान बगदाद ने ले लिया, और अरब साम्राज्य में विद्या के

अनेक नये केन्द्र विकसित हो गये। भारतीय विद्वान् पहले जैसे एलेग्जेण्ड्रिया सदृश पाश्चात्य नगरों में रहते थे, वैसे अब बगदाद आदि में रहने लगे, और पाश्चात्य लोगों से उनका सीधा सम्बन्ध नहीं रह गया। इस समय से भारत का ज्ञान-विज्ञान अरबों द्वारा ही यूरोप मे पहुँचने लगा।

यही बात व्यापार के क्षेत्र मे भी हुई। पाश्चात्य व्यापार अब अरबो द्वारा किया जाने लगा, और वे ही भारत के माल को पाश्चात्य देशो में विक्रय के लिए ले जाने लगे। सातवी सदी से यूरोप के इतिहास में उस काल का प्रारम्भ हुआ, जिसे 'अन्धकार का युग' कहते है। इसी कारण इस समय से भारत और पाश्चात्य देशो का सम्बन्ध प्रायः समाप्त हो गया।

भारत पर पाश्चात्य प्रभाव—चिर काल तक पाश्चात्य देशो के सम्पर्क मे रहने के कारण यह स्वाभाविक था कि भारत पर इन देशों का प्रभाव पडे। ईरान के हखामनी सम्राटो ने सिन्ध नदी तक के प्रदेशो को जीतकर अपने साम्राज्य मे मिला लिया था। इसके कारण ईरान की प्राचीन अरमइक लिपि का भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों मे प्रवेश हुआ। यह लिपि दायीं ओर से बायी ओर को लिखी जाती थी। तक्षशिला के अवशेषो मे प्राचीन काल के दो लेख मिले है, जो इसी लिपि मे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत के जो प्रदेश हखामनी साम्राज्य के अन्तर्गत थे उनमे इस अरमइक लिपि का प्रचार हो गया था। बाद मे इन्ही प्रदेशो मे खरोष्ठी लिपि का विकास हुआ, जिसकी वर्णमाला तो ब्राह्मी लिपि के ही सदृश थी, पर जो अरमइक लिपि के समान दायी ओर से बायी ओर लिखी जाती थी। इस लिपि का प्रयोग भारत की अपनी भाषा को लिखने के लिये भी किया जाने लगा था। अशोक के चतुर्दश शिलालेखो की जो प्रतियाँ उत्तर-पश्चिमी भारत मे उपलब्ध हुई हैं, वे इसी खरोष्ठी लिपि मे हैं। संस्कृत के प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने 'यवनानी' लिपि का भी उल्लेख किया है, जो सम्भवत अरमइक ही थी। इससे सूचित होता है कि पाणिनि इस लिपि से परिचित थे, और उनके समय मे इसका भारत के उत्तरी-पश्चिमी प्रदेशों में प्रचार था।

ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में भी पाश्चात्य लोगो ने भारत को आंशिक रूप से प्रभावित किया था। विशेषतया, ज्योतिष मे भारतीयो ने अनेक बातें ग्रीक और रोमन लोगों से सीखी थी। गार्ग्य संहिता मे लिखा है कि यद्यपि यवन लोग म्लेच्छ हैं, पर ज्योतिष मे उन्होंने बहुत उन्नति की है, इस कारण उनका ऋषिवत् आदर करना चाहिए। ज्योतिष की पाँच भारतीय संहिताओं मे दो के नाम रोमक सिद्धान्त और पोलिश सिद्धान्त हैं। रोमक सिद्धान्त स्पष्ट रूप से रोम के साथ सम्बन्ध रखता है, और पोलिश सिद्धान्त का एलेग्जेण्ड्रिया के प्रसिद्ध ज्योतिषी पॉल (३७८ ईस्वी) के साथ सम्बन्ध है। अनेक विद्वानों के मत मे भारत में नाटकों का सूत्रपात भी पाश्चात्य लोगो के सम्पर्क द्वारा हुआ। इसके पक्ष मे यह प्रमाण दिया जाता है, कि नाटक खेलते हुए भारतीय लोग परदे के गिरने को 'यवनिका-पतन' कहा करते थे। भारत के प्राचीन सिक्कों पर भी ग्रीक लोगों के प्रभाव को स्वीकार किया जाता है। इसमे सन्देह नहीं, कि उत्तर-पश्चिमी भारत के यवन राजाओं ने ही इस देश में पहले-पहल सुडौल सिक्कों का निर्माण

प्रारम्भ किया था। ग्रीक लोगों के सम्पर्क के कारण भारत की मूर्ति निर्माण कला में 'गान्धारी शैली' का प्रारम्भ हुआ, यह भी अनेक विद्वानों का मत है।

पाश्चात्य देशों के सम्पर्क द्वारा भारत के धर्म पर कोई प्रभाव हुआ या नहीं, यह बात विवादग्रस्त है। कुशाण सम्राट् कनिष्क के अनेक सिक्कों पर भारतीय देवी-देवताओं के अतिरिक्त ग्रीक देवी-देवताओ की प्रतिमाएँ भी अंकित हैं। इससे यह तो स्पष्ट ही है, कि कनिष्क के समय मे भारतीयों को ग्रीस के प्राचीन धर्म से भी परिचित होने का अवसर मिला था। पर इससे भारत के धर्म पर कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडा, यह स्वीकार कर सकना सम्भव नहीं है।

पर पश्चिम मे प्रादुर्भूत हुए ईसाई धर्म का भारत मे प्रवेश बहुत प्राचीन काल में हो गया था, यह असंदिग्ध है। ईसाइयों की प्राचीन कथाओ के अनुसार टामस नाम का ईसाई प्रचारक ईस्वी सन् की प्रथम सदी मे ही भारत मे अपने धर्म का प्रचार करने के लिए आ गया था। इस कथा मे सचाई हो या नही, पर यह निश्चित है कि दूसरी सदी के अन्त से पूर्व ही अनेक ईसाई प्रचारक भारत मे आने लग गये थे, और तीसरी चौथी सदियो मे दक्षिणी भारत मे इस धर्म का प्रचार भी शुरू हो गया था।

पाश्चात्य देशों पर भारत का प्रभाव—भारत के सम्पर्क ने पाश्चात्य देशों को अनेक प्रकार से प्रभावित किया। यह प्रभाव इन देशों के विचारो और धर्म पर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। इस अध्याय मे ऊपर इस सम्बन्ध मे प्रकाश भी डाला जा चुका है। हम यहाँ पुन संक्षेप मे इसे इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं—

(१) ग्रीक लोगों के दार्शनिक विचारो पर भारत का प्रभाव असंदिग्ध है। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, एलेग्जेण्ड्रिया के क्लीमैण्ट के अनुसार ग्रीक लोगो ने अपने दार्शनिक विचार भारतीयों से ही ग्रहण किये थे। पाइथागोरेस के सम्बन्ध मे यह माना जाता है कि उसने भारत की यात्रा की थी, और इस देश के दार्शनिको के सम्पर्क मे आकर ही उसने अपने दार्शनिक विचारो का विकास किया था। भारत के सांख्य दर्शन का प्रभाव पाइथागोरेस के मन्तव्यो पर स्पष्ट है। उसका काल छठी सदी ईस्वी पूर्व मे था। उस समय तक ग्रीक लोग भारतीयो के निकट सम्पर्क मे आने लग गये थे, और यह स्वाभाविक था कि भारत के समुन्नत दार्शनिक चिन्तन से वे प्रभावित होते। ग्रीस का प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात भारतीय विद्वानो के सम्पर्क मे आया था, यह इसी अध्याय मे ऊपर लिखा जा चुका है। उसके शिष्य प्लेटो के विचारो पर भी भारत का प्रभाव है, यह भी हम प्रदर्शित कर चुके हैं। चौथी सदी ई० पू० मे आरिस्टोक्सेनस नाम का एक प्रसिद्ध ग्रीक विद्वान् हुआ, जो अरिस्टोटल का शिष्य था। उसके इतिवृत्त से सूचित होता है कि भारत के विद्वान् ग्रीस आदि पाश्चात्य देशो में जाया करते थे, और उन देशों की भाषाएँ सीखकर वहाँ प्रवचन किया करते थे। इसी प्रकार ग्रीक व अन्य विदेशी विद्वान् भी भारत मे आकर इस देश के दर्शन व धर्म का अनुशीलन करते थे। स्कीथियेनस नाम का एक व्यापारी भारत में व्यापार के लिए आया करता था। यहाँ उसे भारतीय दर्शन के प्रति रुचि उत्पन्न हुई, और दर्शनशास्त्र का अध्ययन कर वह एलेग्जेण्ड्रिया में बस गया। वहाँ उसने भारतीय दर्शन का अध्यापन शुरू किया। इसी प्रकार अन्य

भी कितने ही ग्रीक, अरब, सीरियन आदि विद्वान् भारत आये, और उन्होंने इस देश के ज्ञान को प्राप्त किया। यही कारण है, जो पाश्चात्य दार्शनिक विचार भारत के दर्शन-शास्त्रों से प्रभावित हुए, और उनके व भारत के विचारों में इतनी अधिक समता पायी जाती है।

(२) भारत के धार्मिक विचारो ने भी पाश्चात्य देशों के धर्मों को प्रभावित किया। अशोक के समय में विदेशों में धर्म-विजय और बौद्ध धर्म के प्रचार का उपक्रम प्रारम्भ हुआ था, जिसके कारण अनेक पाश्चात्य देश बौद्ध धर्म के अनुयायी बन गये थे, और अलबरूनी दसवी सदी के अन्त मे यह लिख सका था कि पुराने जमाने में सीरिया तक के सब पाश्चात्य देशों मे बौद्ध धर्म का प्रचार था। अलबरूनी के कथन की सत्यता पुरातत्त्व सम्बन्धी अवशेषो द्वारा भी प्रमाणित होती है। सीसतान में एक पुराने बौद्ध विहार के अवशेष मिले है, जिन्हें देखकर उस प्रदेश में बौद्ध धर्म की सत्ता मे कोई सन्देह नही रह जाता। चीनी भाषा के पुराने ग्रन्थो मे पार्थिया के एक राज-कुमार की कथा दी गयी है, जिसने कि राजगद्दी का परित्याग कर बौद्ध भिक्षुओं के काषाय वस्त्रो को धारण कर लिया था।

बौद्ध धर्म के समान भारत के पौराणिक धर्म की भी इन पाश्चात्य देशों मे सत्ता थी। सीरिया के एक लेखक जनॉव के अनुसार दूसरी सदी ई० पू० में युफ्रेटिस नदी के उपरले क्षेत्र के टैरल प्रदेश मे भारतीयो की एक बस्ती थी, जिसमें दो विशाल मन्दिर विद्यमान थे। इन मन्दिरो मे प्रतिष्ठापित मूर्तियाँ ऊँचाई मे ७ और ६ मीटर थी। ३०४ ईस्वी के लगभग ईसाई सन्त ग्रेगरी ने इन मन्दिरो को नष्ट करने का प्रयत्न किया। भारतीयो ने अपने मन्दिरो की रक्षा के लिए संघर्ष किया, पर वे सफल नहीं हो सके, और ग्रेगरी ने मन्दिरो की मूर्तियो को खड-खंड कर दिया।

पाश्चात्य देशो मे बौद्ध और पौराणिक धर्मों की सत्ता का ही यह परिणाम हुआ, कि इस क्षेत्र के धर्मों पर भारत के धार्मिक मन्तव्यो और विधि-विधानों का प्रभाव पडा। ईसाई धर्म के मन्तव्यो और कर्मकाण्ड मे अनेक ऐसी बातें है, जो भारतीय धार्मिक मन्तव्यो व कर्मकाण्ड से मिलती जुलती है। पुराने ईसाई चर्चो का अन्दरूनी भाग बौद्ध चैत्य के सदृश होता था। उनमे भी पूज्यसन्तो की अस्थियो को स्थापित करने व उनकी पूजा करने की प्रथा प्रचलित थी। ईसाई सन्त व साधु भारतीय मुनियों के समान ही तपस्या व साधना मे तत्पर रहा करते थे। उनकी अनेक धार्मिक गाथाएँ भी भारतीय कथाओं के समान हैं। ये समानताएँ आकस्मिक नही हो सकती। जिस प्रदेश मे ईसाई धर्म का प्रादुर्भाव हुआ था, वहाँ पहले बौद्ध व अन्य भारतीय धर्मों की सत्ता थी। इसी कारण ईसाई धर्म मे वे अनेक बातें प्रविष्ट हुई, जो भारत में प्रचलित धार्मिक मान्यताओ के सदृश हैं।

तीसरी सदी ईस्वी मे पाश्चात्य संसार मे एक नये धार्मिक सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ था, जिसका प्रवर्त्तक मनी था। इस सम्प्रदाय का एक धर्मग्रन्थ बौद्ध सूत्रो की शैली में लिखा गया है, और उसमे मनी को 'तथागत' कहा गया है। इस ग्रन्थ में बुद्ध और बोधिसत्व का भी उल्लेख है। इसी प्रकार इस युग के अन्य अनेक धार्मिक

सम्प्रदायों पर भी बौद्ध धर्म व अन्य भारतीय धर्मों का प्रभाव है।

(३) पाश्चात्य देशों की कथाओं पर भारत के पंचतन्त्र, जातक, हितोपदेश, शुकसप्तति आदि का जो प्रभाव है, उसका उल्लेख इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है। छठी सदी में पंचतन्त्र का संस्कृत से पहलवी भाषा में अनुवाद किया गया था, और फिर पहलवी से अरबी तथा सीरियन भाषाओं में। पंचतन्त्र का अरबी अनुवाद पाश्चात्य देशों में बहुत लोकप्रिय हुआ, और बाद में उसे फारसी, हिब्रू, लेटिन, स्पेनिश, इटालियन आदि भाषाओं में अनूदित किया गया। पंचतन्त्र की कथाओं के आधार पर पाश्चात्य साहित्य में भी अनेक कथाओं की रचना की गई, जो पश्चिमी संसार पर भारत के प्रभाव का स्पष्ट प्रमाण है।

(९) रोमन साम्राज्य के ह्रास के पश्चात् भारत और पाश्चात्य जगत् का सम्बन्ध

भारत का रोमन साम्राज्य के साथ जो व्यापारिक व राजनीतिक सम्बन्ध था, उस पर इसी अध्याय में ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है। तीसरी सदी के पश्चात् इस सम्बन्ध में शिथिलता आनी प्रारम्भ हो गई थी। इसका कारण यह था, कि इस काल में उत्तर की ओर से रोमन साम्राज्य पर हमले शुरू हो गये थे, और साम्राज्य की एकता भी खण्डित होने लग गई थी। पर इसके बाद भी रोमन साम्राज्य और भारत में व्यापार जारी रहा। दक्षिण भारत के मदुरा, त्रावन्कोर आदि अनेक स्थानों पर चौथी और पाँचवी सदियों के अनेक रोमन सम्राटों के बहुत-से सिक्के उपलब्ध हुए हैं, जिससे यह प्रमाणित हो जाता है कि छठी सदी के प्रारम्भ तक भारत और रोमन साम्राज्य में व्यापारिक सम्बन्ध विद्यमान था। ४०८ ईस्वी में जब एटिला ने रोम को आक्रान्त किया, तो अपनी नगरी को ध्वस से बचाने के लिए रोम द्वारा जो सम्पत्ति उसे प्रदान की गई, उसमें ४० मन के लगभग काली मिर्चें भी थीं, जो भारत से ही पश्चिमी देशों में बिक्री के लिए जाया करती थी। इतनी बडी मात्रा में एक भारतीय पण्य की उपलब्धि इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि पाँचवीं सदी में भी भारत और रोम का व्यापार अच्छी उन्नत दशा में था।

केवल रोमन साम्राज्य के साथ ही नहीं, अपितु पश्चिमी एशिया के साथ भी भारत का व्यापारिक सम्बन्ध विद्यमान रहा। एमिएनस मार्केलिनस के अनुसार चौथी सदी के उत्तरार्ध में ईराक की दजला नदी के तट पर स्थित बतने नामक नगर में प्रतिवर्ष एक मेला लगा करता था, जिसमें भारतीय माल भी बिकने के लिए लाया जाता था। चीनी साहित्य से ज्ञात होता है, कि अरब और ईरान के साथ चीन का व्यापार बहुत फलती-फूलती दशा में था। यह व्यापार समुद्र के मार्ग से होता था, और इसके लिए चीन तथा पश्चिमी एशिया के विविध देशों के व्यापारियों को भारत के समुद्र तट से होकर गुजरना होता था। अरब और ईरान के जहाज भारत के बन्दरगाहों से होकर ही चीन जाया करते थे। यि-त्सिग ने एक ईरानी जहाज पर ही चीन से भारत के लिए प्रस्थान किया था। ६२० ईस्वी में जब वज्रबोध नामक भिक्षु

समुद्र मार्ग द्वारा भारत से चीन गया था, तो उसने मार्ग में लंका के एक बन्दरगाह पर ३५ ईरानी जहाज देखे थे।

इस्लाम के प्रादुर्भाव से पूर्व के काल में अरब और ईरान के भारत के साथ जो सम्बन्ध थे, उनके विषय में भी अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ उपलब्ध हैं। उस समय अरब में अदन और दावा दो मुख्य बन्दरगाह थे। दावा की स्थिति अरब के दक्षिण-पूर्वी कोने में ओमन मे थी। वहाँ प्रतिवर्ष एक मेला लगा करता था, जिसमे सिन्ध, हिन्द, चीन और ग्रीस के व्यापारी अपने पण्य को लेकर एकत्र हुआ करते थे। अदन भारत के साथ व्यापार का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, जहाँ भारत के मसाले बहुत बडी मात्रा में बिक्री के लिए ले जाये जाते थे। मसाले आदि भारतीय पण्य की बिक्री अदन से केवल अरब मे ही नहीं होती थी, अपितु यूरोप के व्यापारी भी उन्हें वहाँ से खरीदकर अपने देशों मे ले जाया करते थे।

ईरान और भारत मे राजनीतिक सम्बन्ध भी विद्यमान थे। नौवी सदी मे लिखी गई ईरान की एक इतिहास-सम्बन्धी पुस्तक से ज्ञात होता है, कि ईरान के राजा खुसरो (५९०-६२८ ईस्वी) के शासन के ३६वें वर्ष मे भारत के एक राजा ने उसकी सेवा मे एक दूतमण्डल भेजा गया था, जिस द्वारा अनेकविध उपहारों के साथ एक ऐसा पत्र भी भेजा गया था जिस पर 'गोपनीय' लिखा था। यह पत्र खुसरो के एक राजकुमार के नाम था, और इसमे यह भविष्यवाणी की गई थी, कि दो वर्ष बाद वह कुमार राजसिंहासन पर आरूढ हो जायेगा। अनेक ऐतिहासिकों का मत है, कि खुसरो के पास दूतमण्डल भेजनेवाला भारतीय राजा पुलकेशी द्वितीय था, जो खुसरो द्वितीय का समकालीन था। अजन्ता की एक गुफा की भीतरी छत पर एक चित्र विद्यमान है, जिसमे खुसरो द्वितीय तथा उसकी रानी के अतिरिक्त पुलकेशी द्वितीय की सेवा मे उपस्थित एक ईरानी दूतमण्डल को भी चित्रित किया गया है। इस चित्र से इस बात मे कोई सन्देह नही रह जाता, कि खुसरो द्वितीय और पुलकेशी द्वितीय मे राजनीतिक सम्बन्ध की सत्ता थी, और इन दोनों राजाओ के दूत एक-दूसरे के दरबार में आया-जाया करते थे। संस्कृत के प्रसिद्ध कवि बाणभट्ट द्वारा लिखित हर्षचरित से सूचित होता है, कि राजा हर्ष की अश्वशाला ईरानी घोड़ो से परिपूर्ण थी। यह तभी सम्भव था, जबकि भारत और ईरान में घनिष्ठ सम्बन्ध विद्यमान हो। फारसी के प्रसिद्ध कवि फिरदौसी ने शाहनामा में लिखा है, कि हिन्द के शाह ने खुसरो प्रथम के दरबार मे अपना दूतमण्डल भेजा था, जो शतरंज की खेल की बिसात भी अपने साथ ले गया था। शतरंज का ईरान और अरब में प्रवेश भारत से ही हुआ था, यह बात शाहनामा के अतिरिक्त अन्य ईरानी व अरब ग्रन्थो से भी सूचित होती है। शतरंज भारतीय खेल थी, जो सातवीं सदी में ईरान गई और वहाँ से अरब होती हुई पाश्चात्य जगत् के अन्य देशों में भी पहुँच गई। शतरंज सम्भवत संस्कृत के चतुरंग का अपभ्रंश है।

गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि विज्ञानों के क्षेत्र में भारत ने जो उन्नति की थी, पाश्चात्य जगत् पर उसका भी प्रभाव पड़ा। ईरान के सासानी वंश के राजा खुसरो

प्रथम (५३१-५७९ ईस्वी) के शासनकाल मे बरजूये नामक एक ईरानी ने इस प्रयोजन से भारत की यात्रा की थी, ताकि इस देश में रह कर वह चिकित्साशास्त्र तथा अन्य विज्ञानों का अध्ययन कर सके। इस्लाम के प्रचार से पहले ईरान के लोग जरदुष्ट्र के धर्म के अनुयायी थे। पर वहाँ भारतीय धर्मों का भी प्रचार था। ह्युएन्त्साग ने अपने यात्रा विवरण में लंश-की-लो नामक एक राज्य का उल्लेख किया है, जो भारत के पश्चिम में स्थित था और ईरान के अधीन था। वहाँ १०० विहार विद्यमान थे, जिनमें ६००० भिक्षु निवास करते थे। साथ ही, वहाँ कई सौ देव-मन्दिर भी थे, जिनमें बहुसख्यक पाशुपत सम्प्रदाय के थे। ह्युएन्त्साग के अनुसार खास ईरान मे भी दो या तीन बौद्ध विहारो की सत्ता थी, और उनके अतिरिक्त बहुत से देव-मन्दिर भी वहाँ विद्यमान थे। भारत और ईरान के बीच जो घनिष्ठ सम्बन्ध प्राचीन काल मे था, उसका संकेत सिंगकियांग के दन्दान-उइलिक नामक स्थान पर उपलब्ध प्राचीन भग्नावशेषो के एक चित्र से भी मिलता है। यह एक ऐसे बोधिसत्त्व का चित्र है जिसकी चार भुजाएँ हैं और जिसका परिधान ईरानी है। बोधिसत्त्व की मुखाकृति भारतीय होते हुए भी उसे ईरानी परिधान मे चित्रित करना यह सूचित करता है कि ईरान मे भी बौद्ध धर्म का प्रचार था और वहाँ भी एक ऐसी कला का विकास प्रारम्भ हो गया था जिसमे ईरानी और भारतीय तत्त्वो का सम्मिश्रण था। दन्दान-उइलिक का यह चित्र आठवी सदी का माना जाता है।

(१०) पश्चिम के मुस्लिम देशों से भारत का सम्बन्ध

सातवी सदी मे अरब मे हजरत मुहम्मद का प्रादुर्भाव हुआ, जो न केवल एक नवीन धर्म (इस्लाम) के प्रवर्तक थे, अपितु जिन्होने अरब की विविध जातियो को संगठित कर एक शक्तिशाली राष्ट्र का भी निर्माण किया था। मुहम्मद द्वारा अरब मे जिस नई शक्ति व स्फूर्ति का सचार हुआ, उसका उपयोग उनके उत्तराधिकारियो ने साम्राज्य विस्तार के लिए किया। खलीफाओ के नेतृत्व में अरब सेनाओ ने चारो ओर हमले शुरू कर दिए, और कुछ ही समय मे सीरिया, ईजिप्त, उत्तरी अफ्रीका, स्पेन और ईरान अरबो के हाथ मे चले गए। मध्य एशिया, अफगानिस्तान और सिन्ध पर भी उन्होने आक्रमण किए, और कुछ ही समय मे पश्चिमी एशिया के प्राय. सभी देश अरब साम्राज्य के अन्तर्गत हो गए। अरब लोग इन देशो को अपने अधीन करके ही संतुष्ट नहीं हो गए, उन्होने उनके निवासियो को इस्लाम का अनुयायी भी बनाया और इसके लिए शक्ति का भी उपयोग किया। इस प्रकार जो विशाल अरब साम्राज्य स्थापित हुआ, आठवी सदी मे उसका केन्द्र बगदाद था। बगदाद के खलीफाओ का भारत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। इस समय तक अरब लोग सिन्ध की विजय कर चुके थे, जिसके कारण भारत के भी एक कोने मे इस्लाम का प्रवेश हो गया था। सिन्ध के पूर्व तथा उत्तर में जो अनेक राजपूत राज्य थे, उन्हे अरबो के आक्रमणो की सदा आशंका बनी रहती थी। यही कारण था, जो मध्य भारत के प्रसिद्ध राजा यशोवर्मा ने अपने अन्यतम मन्त्री भिक्षु बुद्धसेन या संघभद्र को ७३१ ईस्वी में चीन के सम्राट् के

पास दूत बना कर भेजा था। यशोवर्मा अरबों के विरुद्ध चीन से सहायता प्राप्त करना चाहता था। सम्भवतः, इसी प्रयोजन से काश्मीर के राजा ललितादित्य ने भी एक दूतमण्डल ७३६ ईस्वी में चीन भेजा था। इसमें सन्देह नहीं कि भारत के विविध राजा अरबों के आक्रमणों से अपने राज्यों की रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहे, और इसीलिए अरब भारत में सिन्ध से आगे नहीं बढ़ सके। पर भारत के एक भाग मे उनका जो पदार्पण हो गया था, उसके कारण अरब साम्राज्य और भारत के सम्बन्धों मे बहुत वृद्धि हुई, और इससे भारत के ज्ञान-विज्ञान के पाश्चात्य संसार में प्रवेश में बहुत सहायता मिली। क्योंकि सिन्ध अरब साम्राज्य के अन्तर्गत था, अतः वहाँ के अनेक अधीनस्थ स्थानीय राजा बगदाद के दरबार मे अपने प्रतिनिधि भेजते रहते थे। साथ ही, भारत के विविध राजपूत राज्यो मे प्रतिद्वन्द्विता होने के कारण उनमे जो संघर्ष चलता रहता था, उसके परिणामस्वरूप कतिपय स्वतन्त्र भारतीय राजा भी अरबो के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उत्सुक रहते थे। अरबो के विरुद्ध सघर्ष मे भिन्नमाल के गुर्जर-प्रतीहार राजाओ का विशेष कर्तृत्व था। नागभट सदृश प्रतापी गुर्जर-प्रतीहार राजाओं के कारण ही अरब लोग सिन्ध से आगे नही बढ सके थे। पर दक्षिणापथ के राष्ट्रकूट राजा अपने पडोसी गुर्जर-प्रतीहारो के उत्कर्ष को सहने के लिए उद्यत नही थे। इसी कारण अरबों ने गुर्जर-प्रतीहारो के विरुद्ध राष्ट्रकूट राजाओ से सन्धि की थी, और राष्ट्रकूटो तथा अरबो का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ हो गया था। इस प्रकार अनेक स्वतन्त्र भारतीय राजा भी अपने राजदूत बगदाद के अरब खलीफाओ के पास भेजने लगे थे।

भारत और अरब के सम्बन्धो मे खलीफा अल-मसूर (७५४-७५) और हारून अल रशीद (७८६-८०६) के समय मे बहुत अधिक वृद्धि हुई। भारत से जो अनेक दूतमण्डल मंसूर के समय में बगदाद गए, उनके साथ कतिपय भारतीय विद्वान् भी वहाँ गए, जिनसे अरबो ने गणित, ज्योतिष तथा अनेक अन्य विज्ञानो की शिक्षा प्राप्त की। अल-बरूनी के अनुसार अल्फजारी और याकूब-इब्न-तारिक के ग्रन्थो मे नक्षत्र-तारा-ग्रह आदि के चक्र जिस ढग से वर्णित हैं, उसका ज्ञान अरबों ने एक ऐसे हिन्दू से प्राप्त किया था, जो सिन्ध के एक दूतमण्डल के साथ १५४ हिजरी (७७१ ई०) मे खलीफा मसूर के दरबार मे बगदाद गया था। अल-बरूनी ने यह भी लिखा है कि याकूब-इब्न-तारिक को नक्षत्रो के बीच की दूरी के सम्बन्ध मे भारतीय ज्योतिषियो के मन्तव्यो का परिचय एक प्रसिद्ध हिन्दू विद्वान् द्वारा प्राप्त हुआ था, जो १६१ हिजरी (७७८ ईस्वी) में एक दूतमण्डल के साथ बगदाद गया था। भारत के दूतमण्डलो के साथ बगदाद जाने वाले हिन्दू विद्वान् गणित, ज्योतिष आदि विज्ञानों के अनेक ग्रन्थ भी अपने साथ ले गए थे, जिनमें ब्रह्मगुप्त द्वारा लिखित ब्रह्म-स्फुट-सिद्धान्त और खण्डखाद्यक उल्लेखनीय हैं। अल्फजारी और याकूब-इब्न-तारिक सदृश अरब विद्वानों ने भारतीय पण्डितों की सहायता से इन ग्रन्थो का अरबी भाषा में अनुवाद किया, जिन द्वारा अरब लोगों को पहले-पहल ज्योतिष-विज्ञान से परिचय प्राप्त करने का अवसर मिला। अरब में ज्योतिष का जो विकास हुआ, उसका सूत्रपात ब्रह्मगुप्त के इन ग्रन्थों से ही हुआ था। सम्भवतः, इसी समय अरबों को उन अंकों का परिज्ञान हुआ, जो वर्तमान समय

मे अरबी अंक कहाते हैं, पर वस्तुतः जो भारतीय अंक हैं। भारतीयो ने बहुत प्राचीन काल मे ही १, २ आदि ९ तक के अको तथा शून्य का ज्ञान प्राप्त कर लिया था, और इनके द्वारा वे किसी भी राशि या गणना को प्रकट कर सकते थे। अंकगणित के विकास मे इस से बहुत सहायता मिली। प्राचीन रोमन लोग अक्षरों (i, ii, iii, vi, v आदि) द्वारा गिनती या अकों को लिखा करते थे, और शून्य (०) का उन्हे ज्ञान नही था। इस कारण गुणा, भाग आदि कर सकना उनके लिए सुगम नही था, और वे गणित मे अधिक उन्नति नही कर सके थे। शून्य और दशमलव का ज्ञान प्राप्त कर भारतीयो ने गणित तथा ज्योतिष मे बहुत उन्नति की। अरबों ने इनका ज्ञान भारतीयों से ही प्राप्त किया था। यूरोप के लोगो ने अंकों, शून्य तथा दशमलव का ज्ञान सीधे भारतीयो से प्राप्त किया या अरबो द्वारा, इस प्रश्न पर मतभेद है। पर सब कोई यह स्वीकार करते हैं कि शून्य तथा दशमलव का आविष्कार सबसे पूर्व भारतीयो द्वारा ही किया गया था। इस प्रसग मे सेवेरस सेबोख्त नामक सीरियन विद्वान् का एक कथन उल्लेखनीय है, जिसका काल सातवी सदी के मध्य मे था और जो ईराक मे दजला नदी के तटवर्ती प्रदेश का निवासी था। उसने लिखा है, कि ज्योतिष के क्षेत्र मे जो आविष्कार भारतीयो ने किए हैं, वे ग्रीक तथा बैबिलोनियन लोगो द्वारा किए गए आविष्कारो की तुलना मे बहुत अधिक महत्त्व के है। भारतीय लोग नौ अको द्वारा जिस ढग से किसी भी गिनती को प्रगट कर सकते है, वह वस्तुत अद्भुत है। "ग्रीक भाषा बोलने के कारण जो लोग यह समझते हैं कि उन्होंने विज्ञान की चरम सीमा को प्राप्त कर लिया है, उन्हे यदि इस बात का पता चले तो उन्हे यह विश्वास हो जाएगा कि अन्य भी ऐसे लोग है जो कुछ जानते है।"

हारून अल रशीद (७८६-८०९) के समय मे अरब और भारत के सम्बन्धो मे और भी अधिक वृद्धि हुई। इसका प्रधान श्रेय बल्ख के बरमक परिवार के व्यक्तियो को है, जो इस काल मे खलीफा के मन्त्रीपद पर नियुक्त थे, और अपनी योग्यता के कारण जो शासन मे सर्वेसर्वा बन गए थे। बल्ख (वाह्लीक नगरी) के नवसघाराम या नवविहार के प्रधान स्थविरो ने किसी समय भिक्षुव्रत का त्याग कर गृहस्थ होना प्रारम्भ कर दिया था, और उनके वशज ही इस विहार के कर्त्ताधर्त्ता बन गए थे। इन्हे 'परमक' (सर्वोच्च) कहा जाता था, जो बिगडकर अरबी मे बरमक हो गया। सातवी सदी का अन्त होने से पूर्व ही अरबो ने अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए बल्ख की भी विजय कर ली थी, और बौद्धो के इस प्रसिद्ध केन्द्र (नवविहार) को बुरी तरह से विनष्ट कर दिया था। वहाँ के भिक्षुओ तथा स्थविरो को उन्होने इस्लाम को स्वीकार करने के लिए विवश किया था, और बरमक परिवार के व्यक्तियो को वे अपने साथ बगदाद ले गए थे। बरमक लोग नवविहार की प्राचीन परम्परा के अनुसार धर्म, दर्शन तथा विज्ञान आदि के प्रकाण्ड पण्डित होते थे और मुसलमान बन जाने के कारण उनमे पाण्डित्य का अन्त नही हो गया था। उनकी योग्यता से लाभ उठाने के लिये खलीफाओं ने उन्हें मन्त्री के पद पर नियुक्त किया और अपने दरबार में उन्हे सम्मानास्पद स्थान प्रदान किए। बरमक परिवार के खालिद को खलीफा मंसूर के समय मे प्रधानमंत्री के पद पर

नियुक्त किया गया था (७५५ ईस्वी)। ८०२ ईस्वी तक यह पद प्रायः बरमक परिवार के व्यक्तियों के ही हाथों में रहा। स्वाभाविक रूप से बरमकी मन्त्रियों को भारतीय संस्कृति तथा विद्याओं से प्रेम था, अतः उन्होंने अपनी स्थिति का उपयोग भारतीय विद्वानों को बगदाद निमन्त्रित करने के लिए किया, और उन्हें गणित, ज्योतिष, दर्शन, आयुर्वेद आदि के संस्कृत ग्रन्थों का अरबी भाषा में अनुवाद करने का कार्य सुपुर्द किया। बहुत-से अरब विद्वान् भी इस काल में भारत भेजे गये। यहाँ आकर उन्होंने संस्कृत भाषा सीखी, ताकि भारतीय ज्ञान-विज्ञान का मूल ग्रन्थों द्वारा अध्ययन कर सकें। इस समय जो बहुत-से भारतीय विद्वान् बगदाद मे रह रहे थे, उनमें से एक का नाम मंख था। वह सुयोग्य चिकित्सक था, और उसने खलीफा हारून-अल-रशीद को एक असाध्य रोग से मुक्त करने में अपनी योग्यता को प्रदर्शित किया था। प्रसन्न होकर खलीफा ने उसे राजकीय चिकित्सालय का प्रधान चिकित्सक नियुक्त कर दिया था। मंख द्वारा आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ सुश्रुत का अरबी भाषा मे अनुवाद भी किया गया था। चरक, अष्टाङ्ग-हृदय आदि अन्य भी अनेक आयुर्वेद ग्रन्थो को इस समय अरबी मे अनूदित किया गया था। अरबी ग्रन्थो मे अनेक ऐसे भारतीय विद्वानो के नाम विद्यमान हैं, जो इस काल मे बगदाद गए थे। पर ये नाम अरबी मे है, और इनके मूल भारतीय नामो का पता कर सकना कठिन है। कतिपय विद्वानो ने इनके भारतीय नाम प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है, और यह सुझाया है कि इनके नाम अत्रि, वेदव्यास, व्याघ्र, धन्वन्तरि आदि थे। मंसूर और हारून-अल-रशीद द्वारा कतिपय बौद्ध-ग्रन्थो का भी अरबी मे अनुवाद कराया गया था, जिससे अरब विद्वानों तथा दार्शनिकों को बौद्ध दर्शन तथा सिद्धान्तो से परिचित होने का भी अवसर मिला था। अरब के दार्शनिक विचारो पर इनका प्रभाव पडना स्वाभाविक था। इस्लाम मे जो सूफी सम्प्रदाय का विकास हुआ, उसका एक कारण बौद्ध और वेदान्त दर्शनों तथा आदर्शों द्वारा उसका प्रभावित होना भी माना जाता है। भवन-निर्माण, कला, संगीत, भूगोल आदि सभी क्षेत्रों में अरबो ने भारतीयो से बहुत कुछ सीखा था। यूरोप के इतिहास मे मध्यकाल अन्धकार और अज्ञान का युग था। पर उस काल में ज्ञान का दीपक अरब में अवश्य प्रकाशित हो रहा था। अरब के सम्पर्क से ही बाद मे यूरोप मे भी नव-जागरण का सूत्रपात हुआ था। अरब की इस उन्नति का प्रधान श्रेय भारत के साथ उसके सम्पर्क को ही दिया जाना चाहिए।

यद्यपि अरब आक्रान्ता भारत में सिन्ध से आगे नहीं बढ़ सके थे, पर अरब व्यापारियों ने भारत मे अन्यत्र भी बडी संख्या में आना-जाना शुरू कर दिया था, और अनेक व्यापारी इस देश मे बस भी गए थे। भारत के राजा इस्लाम के प्रति सहिष्णुता का भाव रखते थे। कतिपय राजाओं ने तो मुसलमानों के लिए अपने खर्च से मसजिदो का भी निर्माण करा दिया था। दसवीं सदी के इब्न हौकल नामक लेखक ने लिखा है, कि पश्चिमी भारत के अनेक महत्त्वपूर्ण नगरों में जामा मसजिदें विद्यमान थीं, जिनमें मुसलिम प्रार्थनाविधि तथा मन्तव्यो का खुले तौर पर अनुसरण किया जाता था। राष्ट्रकूटों के राज्य में तो बहुत से नगरों में मुसलमानों की अपनी बस्तियाँ भी थीं,

जिनके शासन के लिए मुसलिम कर्मचारियो की नियुक्ति की जाती थी ।

दसवीं सदी के अन्तिम वर्षों मे महमूद गजनवी ने भारत पर आक्रमण किए, और बारहवीं सदी के अन्त में मुहम्मद गौरी ने। इस समय मे भारत के अन्य अनेक प्रदेशो पर भी विविध मुसलिम राजवशो के शासन स्थापित होने लग गए, जिसके कारण पाश्चात्य देशो और भारत के सम्बन्धों का स्वरूप बहुत परिवर्तित हो गया ।

तीसरा अध्याय

भारत और अफगानिस्तान

(१) मौर्य युग से पूर्व का काल

वैदिक काल में अफगानिस्तान भारत का ही एक अंग था, यह पहले अध्याय में लिखा जा चुका है। ऋग्वेद के समय मे भारतीय आर्य प्रधानतया सप्तसैन्धव देश में बसे हुए थे। पंजाब और उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त सप्तसैन्धव के अन्तर्गत थे। आर्यों का विस्तार तब गंगा-यमुना की घाटी में भी हो चुका था, और उत्तरी भारत के इस क्षेत्र मे उन्होंने अपने बहुत-से जनपद स्थापित कर लिये थे। ये आर्य जनपद कुभा (काबुल), सुवास्तु (स्वात), क्रुमु (खुर्रम), गोमती (गोमल) और गौरी (पंजकोरा) नदियों द्वारा सिंचित प्रदेशों मे भी विद्यमान थे, और इनमे जिन जनो (कबीलों) का निवास था, वे आर्य जाति के ही थे। आर्य जातियो व जनपदो के पारस्परिक सघर्ष मे ये जन भी हाथ बंटाते थे। इसीलिए जब हस्तिनापुर के राजा संवरण पर अहिच्छत्र के राजा सुदास ने आक्रमण किया, तो संवरण की सहायता के लिये पश्चिम की जो आर्य जातियाँ अग्रसर हुईं, उनमें अलिन, भलानस और पक्थ भी थी। इनके जनपद उस प्रदेश मे विद्यमान थे, जहाँ अब अफगानिस्तान का राज्य है। आर्य जाति की एक शाखा जैसे भारत मे आकर बसी थी, वैसे ही एक अन्य शाखा ईरान में भी गई थी। ईरान के लोग भी आर्य जाति के ही हैं। अफगानिस्तान की स्थिति ईरान और भारत के बीच में है। जिस प्रकार प्राचीन भारतीय आर्य जातियो का अफगानिस्तान के आर्यों के साथ सम्पर्क था, वैसे ही ईरान के आर्यों का भी था। इसी कारण ईरान के प्राचीन ग्रन्थ अवस्ता मे हीरात, बल्ख, कन्धार तथा सीस्तान का उल्लेख मिलता है। अफगानिस्तान मे बसे हुए आर्य जनो का भारत और ईरान के साथ समान रूप से सम्बन्ध रहा, क्योंकि इनका निवास दोनो के मध्यवर्ती प्रदेश में था। भारत के लोग अफगानिस्तान के जनपदो को अपने देश के ही अन्तर्गत मानते रहे। इसीलिए बौद्ध ग्रन्थों में भारत के सोलह महाजनपदों का परिगणन करते हुए गान्धार और कम्बोज को भी महाजनपदो के रूप मे लिखा गया है।

हखामनी साम्राज्य और अफगानिस्तान—भारत के समान ईरान में भी प्राचीन काल में अनेक छोटे-बड़े राज्यो की सत्ता थी। ये राज्य परस्पर संघर्ष में व्यापृत रहा करते थे, और उनमें भी यह प्रवृत्ति थी, कि पड़ोस के अन्य राज्यो को जीत कर अपने साम्राज्य का निर्माण करें। सातवीं सदी ईस्वी पूर्व में पार्स नामक ईरानी राज्य बहुत शक्तिशाली हो गया, और उसके राजा हखामनी ने अपनी शक्ति को बहुत बढ़ा लिया। छठी सदी ई० पू० में हखामनी के वंश में एक अन्य महत्त्वाकांक्षी राजा हुआ, जिसका

नाम कुरु (Cyrus या काइरस) था। कुरु ने न केवल सम्पूर्ण ईरान को जीतकर अपने अधीन किया, अपितु पूर्व मे आगे बढ़कर शक स्थान (सीस्तान), बाल्त्री, बैक्ट्रिया और मकरान को भी जीत लिया। हिन्दुकुश पर्वतमाला के पश्चिम के सब प्रदेश राजा कुरु की अधीनता मे आ गए थे, और उसके साम्राज्य की पूर्वी सीमा भारत के साथ आ लगी थी। कुरु के वशजो ने ईरान के साम्राज्य का और अधिक विस्तार किया। इनमें दारयवहु (डेरियस) का अफगानिस्तान और भारत के इतिहास के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। उसका शासन काल ५२१ से ४८५ ई० पू० तक था, और वह मगध के प्रतापी राजा बिम्बिसार और अजातशत्रु का समकालीन था। अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए उसने कम्बोज, पश्चिमी गान्धार और सिन्ध की भी विजय की। दारयवहु का उत्तराधिकारी (४८५-४६५ ई० पू०) ख्षयार्श (Xerxes) था। उसने अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिए पश्चिम की ओर अनेक आक्रमण किए, और ग्रीस को भी आक्रान्त किया। उसकी सेना मे गान्धार और सिन्ध के सैनिक भी सम्मिलित थे, जिनके सूती वस्त्रो को देखकर ग्रीस के लोग अत्यन्त आश्चर्य अनुभव करते थे। यह पहला अवसर था, जब कि ग्रीक लोगो ने सूती वस्त्र देखे थे। अफगानिस्तान और सिन्ध के जिन राज्यो को दारयवहु ने अपने साम्राज्य के अन्तर्गत किया था, वे देर तक ईरान के अधीन नही रहे। सम्भवत पाँचवी सदी ई० पू० मे ही उन्होने स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली थी। चौथी सदी ई० पू० मे जब सिकन्दर ने इन प्रदेशो पर आक्रमण किया, तब ये ईरान की अधीनता से मुक्त हो चुके थे।

ईरान के ये प्रतापी राजा हखामनी वश के थे। अंग्रेजी की पुस्तको मे इन्हे अचामनीद (Achaemenid) वश का लिखा जाता है। भारत के आर्य राजाओ के समान ईरान के हखामनी या अचामनीद वश के राजा भी आर्य थे, और दारयवहु ने अपने शिलालेखो मे अपने को ऐर्य ऐर्यपुत्र (आर्य आर्यपुत्र) कहा है। दायरवहु का जो उत्कीर्ण लेख नकशाए-रुस्तम मे मिला है, उसमे उस द्वारा शासित प्रदेशो मे बाल्त्री (बैक्ट्रिया), सुगद (सुग्ध या सोग्डियाना), गादार (गान्धार) और हिन्दुश (सिन्धु या सिन्ध) को भी अन्तर्गत किया गया है। ख्षयार्श के पर्सिपोलिस मे उपलब्ध शिलालेख मे भी इस राजा द्वारा शासित प्रदेशो मे इनका परिगणन हुआ है। ये सब हखामनी साम्राज्य के विविध प्रान्त बना दिए गए थे, और इनके शासन के लिए क्षत्रपो और महाक्षत्रपो की नियुक्ति की गई थी। हखामनी साम्राज्य के प्रान्तो मे कपिश्ओई या कपिसई भी एक था, जो स्पष्टतया कपिशा को सूचित करता है। कपिशा की स्थिति गान्धार के पश्चिम मे थी। इसमें सन्देह नही कि अफगानिस्तान और उसके समीपवर्ती सब प्रदेश हखामनी सम्राटो की अधीनता में थे, यद्यपि वे देर तक उनके शासन में नही रह सके थे।

हखामनी राजाओं के पूर्व दिशा मे अपनी शक्ति का विस्तार करने का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि उससे अफगानिस्तान तथा पश्चिमी भारत का पाश्चात्य ससार के साथ सम्बन्ध अधिक सुदृढ़ हो गया। सिन्ध पर आक्रमण करने से पूर्व दारय-वहु ने अपने जल सेनापति स्काईलैक्स को ईरान के समुद्रतट के साथ-साथ जलमार्ग

द्वारा सिन्ध नदी के मुहाने तक के मार्ग का अवगाहन करने के लिए भेजा था। उसने मकरान के समुद्रतट के प्रदेश के सम्बन्ध में भी नई जानकारी प्राप्त की, जिसके कारण पूर्व और पश्चिम के देशों के व्यापारियों के लिए भी अपने व्यापार की वृद्धि कर सकना अधिक सुगम हो गया। ईरान की भाषा को लिखने के लिए हखामनी राजा अरमईक लिपि का प्रयोग किया करते थे। यह लिपि दायीं ओर से बायीं ओर को लिखी जाती थी। अशोक के जो शिलालेख भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों तथा गान्धार में उपलब्ध हुए हैं, उनमें खरोष्ठी लिपि का उपयोग किया गया है। खरोष्ठी लिपि भी दायीं ओर से बायीं ओर लिखी जाती है। सम्भवतः, इस लिपि पर ईरान की अरमईक लिपि का प्रभाव था। खरोष्ठी लिपि गान्धार तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों मे आठ सौ वर्ष के लगभग (तीसरी सदी ई० पू० से पाँचवीं सदी ईस्वी तक) प्रचलित रही। हखामनी राजा अपने प्रान्तीय शासकों के लिए क्षत्रप तथा महाक्षत्रप संज्ञाओं का प्रयोग करते थे। ये शब्द भी इस क्षेत्र के प्रान्तीय शासको के लिए चिरकाल तक प्रयुक्त होते रहे। हखामनी राजाओ की विजयों के कारण अफगानिस्तान के क्षेत्र को ईरान ने अनेक प्रकार से प्रभावित अवश्य किया, पर वहाँ की आधारभूत संस्कृति पहले के समान भारतीय ही बनी रही।

सिकन्दर का साम्राज्य और अफगानिस्तान—ईरान का हखामनी साम्राज्य देर तक कायम नही रहा। प्राचीनकाल में ग्रीस में बहुत-से छोटे-छोटे जनपद थे, जिन्हें ग्रीक लोग 'पोलिस' कहते थे। इनमें एक मैसिडोन था, जिसके राजा फिलिप (चौथी सदी ई० पू०) ने ग्रीस के सब जनपदों को जीतकर अपने अधीन कर लिया था। उसके पुत्र सिकन्दर ने फिलिप की मृत्यु (३३६ ई० पू०) के पश्चात् मैसिडोन के साम्राज्य को और अधिक विस्तृत किया। उस समय ईजिप्त, एशिया माइनर और सीरिया के प्रदेश ईरान के हखामनी साम्राज्य के अन्तर्गत थे। छठी सदी ई० पू० में जिस विशाल ईरानी साम्राज्य का निर्माण शुरू हुआ था, ढाई सौ के लगभग वर्ष व्यतीत हो जाने पर वह बहुत निर्बल हो गया था। सिकन्दर ने इस विशाल परन्तु निर्बल साम्राज्य पर आक्रमण किया, और बात की बात में एशिया माइनर तथा ईजिप्त को जीत लिया। फिर ईराक के बैबिलोन, निनेवा आदि प्राचीन नगरों पर कब्जा करके ३३१ ई० पू० में उसने ईरान पर आक्रमण किया। हखामनी राजा दारयवहु तृतीय सिकन्दर का सामना नहीं कर सका, और वह अपने प्राणों की रक्षा के लिए बाख्त्री चला गया। ईरान की राजधानी पर्सिपोलिस का मैसिडोनियन सेना द्वारा बुरी तरह से ध्वंस किया गया।

ईरान को विजय कर सिकन्दर अफगानिस्तान की दिशा में अग्रसर हुआ। ३३० ई० पू० के समाप्त होने से पूर्व ही वह शकस्थान (सीस्तान) जा पहुँचा। यह प्रदेश मकरान के उत्तर तथा अफगानिस्तान के पठार के दक्षिण-पश्चिम में था। उसे जीत कर सिकन्दर ने ठेठ अफगानिस्तान पर आक्रमण किया, और हरउवती नगरी की विजय की। यह हरउवती नगरी दक्षिणी अफगानिस्तान की राजधानी थी, और अर्गन्दाब या हरमन्द नदी के तट पर बसी हुई थी। वर्तमान समय का कन्धार था

कन्दहार नगर प्राचीन हरूमवती के स्थान पर ही आबाद है। इसे जीत कर सिकन्दर ने काबुल नदी की घाटी मे प्रवेश किया। इस घाटी मे जहाँ आजकल चरीकर है, सिकन्दर ने एक नई नगरी की स्थापना की, जिसे सिकन्दरिया नाम दिया गया। काबुल घाटी मे उसे यह समाचार मिला, कि बाल्त्री के प्रदेश मे ईरानी साम्राज्य की सेना का पुनःसंगठन हुआ है, और वह पीछे की ओर से मैसिडोनियन सेना पर आक्रमण की तैयारी ने सलग्न है। सिकन्दर ने यह उचित समझा, कि पहले हिन्दुकुश पर्वतमाला को पार कर बाल्त्री पर आक्रमण किया जाए। ईरानी सेना सिकन्दर का मामना नही कर सकी। वह परास्त हो गई और सिकन्दर ने सीर नदी तक के सम्पूर्ण प्रदेश को जीत कर अपने अधीन कर लिया। बाल्त्री मे भारतीय और ईरानी दोनो प्रकार की आर्य जातियो का निवास था, और उन दोनो के अनेक जनपद वहाँ विद्यमान थे। यही कारण है, कि बाल्त्री मे जिन सेनाओ के साथ सिकन्दर का युद्ध हुआ, उनमे शशिगुप्त नाम के एक भारतीय राजा की सेना भी सम्मिलित थी। सम्भवत, यह शशिगुप्त हिन्दुकुश पर्वतमाला के उत्तरी प्रदेश के किसी राज्य का राजा था। बाल्त्री से काबुल की घाटी को वापस लौटकर सिकन्दर ने अपनी सेना को दो भागो मे विभक्त किया। हेफेस्तियन और पडिक्कस नामक दो सेनापतियो को यह कार्य सुपुर्द किया गया, कि वे पूर्व की ओर अग्रसर होते हुए सिन्ध नदी के तट पर पहुँच जाए। सिकन्दर ने स्वय एक बडी सेना लेकर काबुल नदी के उत्तर की ओर प्रस्थान किया, और उन विविध जनपदो की विजय का प्रयत्न प्रारम्भ किया, जो इस पार्वत्य प्रदेश मे स्थित थे। ये जनपद पूर्णतया भारतीय थे, और ग्रीक लेखको ने इन्हे स्पष्ट रूप से भारतीय लिखा है। इस क्षेत्र की अलीशाग और कुनार (कूनड) नदियो की घाटी मे निवास करने वाली जाति को ग्रीक लेखको ने अस्पस (Aspasioi) कहा है। अस्पस के आगे गौरी और सुवास्तु नदियो की घाटी मे अस्सकेन (Assakenoi) जाति का निवास था। इसके जनपद की राजधानी मस्सग थी, जिसका निर्माण एक दुर्ग के समान हुआ था। घनघोर युद्धों के अनन्तर ही सिकन्दर इन्हे परास्त करने मे समर्थ हुआ था। कतिपय ऐतिहासिको के मत मे अस्पस और अस्सकेन के सस्कृत नाम 'अश्वायन' और 'अश्वकायन' थे। इन्हे 'अश्वक' और 'अश्मक' के साथ मिलाने का भी प्रयत्न किया गया है। महाभारत मे अश्वक नामक एक जाति का उल्लेख है, जिसकी गणना उत्तर दिशा के क्षेत्र मे निवास करने वाली जातियों मे की गई है। सम्भवत, इसी अश्वक के लिए ग्रीक लेखको ने 'अस्पस' शब्द का प्रयोग किया है। वर्तमान समय के उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त (पाकिस्तान) मे पठानों के अनेक कबीले बसे हुए हैं, जिनमे से एक यूसुफजई भी है, जिसके लिए पश्तो भाषा मे 'असिप' या 'इसप' प्रयुक्त होता है। यह इसप या असिप स्पष्टता अस्सप या अश्वक का अपभ्रंश है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी 'अश्मक' शब्द आया है, जो अश्वक को भी सूचित कर सकता है। पाणिनि ने अन्यत्र 'अश्वायन' और 'अश्वकायन' का भी उल्लेख किया है। सम्भवतः, अश्वकायन अस्सकेन को सूचित करता है, और 'अश्वायन' अस्पस को। अस्सकेन की राजधानी मस्सग को संस्कृत की 'मशकावती' के साथ मिलाया गया है, जिसका उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी

विद्यमान है।

हेफेस्तियन और पर्डिक्कस के सेनापतित्व में सिकन्दर ने जिन सेनाओं को सीधे सिन्ध नदी की ओर बढ़ने का आदेश दिया था, उन्हें भी अनेक जनपदों से युद्ध करने पड़े। इनमे गान्धार जनपद प्रधान था। उस युग में गान्धार जनपद सिन्ध नदी के दायें और बायें दोनों तटों पर विस्तीर्ण था। पश्चिमी गान्धार की राजधानी पुष्करावती या पुष्कलावती थी। ग्रीक लेखकों ने इसी को प्युकलावतिस (Peukelaotis) लिखा है। ग्रीक विवरणों के अनुसार पुष्करावती के राजा का नाम अस्तस (Astes) था, जिसे संस्कृत मे अष्टक या हस्ती कहा जा सकता है।

सिकन्दर के आक्रमण के विषय मे यहाँ अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। ग्रीक लेखकों ने इस आक्रमण का जो वृतान्त लिखा है, उसे पढ़कर इस बात मे कोई सन्देह नही रह जाता कि अफगानिस्तान और उसके समीपवर्ती प्रदेशो में इस काल मे जो विविध जनपद या राज्य विद्यमान थे, उनके निवासी व शासक भारतीय थे। हखामनी वंश के प्रतापी ईरानी राजा उन्हें देर तक अपनी अधीनता में नहीं रख सके थे, और पाचवी सदी ई० पू० या उसके लगभग वे स्वतन्त्रता प्राप्त करने में समर्थ हो गये थे।

(२) मौर्य, बैक्ट्रियन और इन्डो-ग्रीक राजाओं का काल

यद्यपि सिकन्दर अफगानिस्तान के विविध भारतीय जनपदो को जीतने मे समर्थ हुआ था, पर वे देर तक मैसिडोनियन लोगो के शासन मे नही रहे। ३२३ ईस्वी पूर्व मे सिकन्दर की मृत्यु हो गई थी, और उसके मरते ही उसके साम्राज्य मे अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी। उसके विभिन्न सेनापति अपने-अपने पृथक् राज्य स्थापित करने में तत्पर हो गये थे, और सिकन्दर का साम्राज्य अनेक खण्डो में विभक्त हो गया था। ये खण्ड तीन थे, मैसिडोनिया, ईजिप्त और सीरिया। पजाब से एशिया माइनर तक का विशाल एशियाई प्रदेश सीरिया के राज्य के अन्तर्गत था, जिसका स्वामी सैल्युकस था। सैल्युकस द्वारा शासित यह सीरियन राज्य वस्तुतः पुराने हखामनी साम्राज्य का ही उत्तराधिकारी था।

भारत और अफगानिस्तान के जिन प्रदेशों को जीत कर सिकन्दर ने अपने अधीन किया था, उनके शासन के लिये उसने छः शासक नियुक्त किये थे—(१) क्षत्रप निकनौर, जो पश्चिमी गान्धार का शासक था। सिन्ध नदी के पश्चिम से लगा कर काबुल की घाटी से पूर्व तक का सम्पूर्ण प्रदेश निकनौर के शासन मे था। (२) आक्स्यार्टस, जो पैरोपनिसदी या काबुल की घाटी का क्षत्रप था। (३) पाइथॉन, जो सिन्ध का क्षत्रप था। (४) आम्भि, जिसे सिन्ध और वितस्ता (जेहलम) नदियो के मध्यवर्ती प्रदेश का क्षत्रप नियुक्त किया गया था। (५) पोरु, जो वितस्ता और विपाशा नदियों के बीच के प्रदेश का क्षत्रप था। (६) हिमालय और उसके साथ-साथ का तराई का प्रदेश अभिसार के राजा के सुपुर्द किया गया था। पर सिकन्दर द्वारा नियुक्त ये क्षत्रप देर तक अपने-अपने प्रदेशों पर शासन नहीं कर सके। चन्द्रगुप्त मौर्य

के नेतृत्व मे जनता ने उनके विरुद्ध विद्रोह कर दिया, और पराधीनता के जुए को अपने कन्धे से उतार फेंका। चन्द्रगुप्त द्वारा न केवल मैसिडोनिया के विदेशी शासन का अन्त किया गया, अपितु प्राय: सम्पूर्ण उत्तरी भारत मे एक सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित साम्राज्य की भी स्थापना की गई। उत्तर-पश्चिमी भारत और अफगानिस्तान के जिन विविध जनपदो को जीतकर सिकन्दर ने अपने अधीन किया था, वे अब चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा स्थापित मागध साम्राज्य के अन्तर्गत हो गये थे।

सीरिया के राजा सैल्युकस ने इन प्रदेशो को जीतने के लिए प्रयत्न किया, पर उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई। युद्ध मे वह चन्द्रगुप्त द्वारा परास्त कर दिया गया, और पैरोपनिसदी, आरियां, जड्रोसिया तथा आर्कोशिया के प्रदेशो पर चन्द्रगुप्त के प्रभुत्व को सैल्युकस ने स्वीकार कर लिया। पैरोपनिसदी से अफगानिस्तान का वह पहाड़ी प्रदेश अभिप्रेत है, जो हिन्दुकुश पर्वतमाला की उपत्यका मे स्थित है। काबुल का प्रान्त इसी के अन्तर्गत था। आर्कोशिया से आजकल के कन्दहार का ग्रहण होता था। आरिया आधुनिक हीरात का पुराना नाम था, और जड्रोसिया का अभिप्राय वर्तमान समय के मकरान (बलोचिस्तान मे) से था। सैल्युकस की पराजय के परिणामस्वरूप अफगानिस्तान और उसके समीपवर्ती इन सब प्रदेशो पर चन्द्रगुप्त मौर्य का स्वामित्व निर्विवाद रूप से स्थापित हो गया था। अफगानिस्तान के क्षेत्र के विविध जनपद इस समय उसी ढग से मौर्य साम्राज्य मे सम्मिलित हो गये थे, जैसे कि अवन्ति, कुरु, पाञ्चाल, काशी, कोशल आदि जनपद थे। इसीलिये चन्द्रगुप्त के पौत्र अशोक ने अपने शिलालेखो मे गान्धार और कम्बोज का उल्लेख अपने 'राजविषय' (राज्य या विजित) के अन्तर्गत रूप से किया है। एक सदी के लगभग तक अफगानिस्तान का प्रदेश मौर्य साम्राज्य मे सम्मिलित रहा, और वहाँ भारत की सभ्यता तथा संस्कृति के प्रभाव मे और भी अधिक वृद्धि हुई। धर्मविजय की नीति को अपना कर अशोक ने अपने 'विजित' तथा 'प्रत्यन्त' देशो मे जिन धर्ममहामात्रो, अन्त-महामात्रो और स्त्री-महामात्रो की नियुक्ति की थी, उन्होने इस देश मे भी अशोक के धर्मानुशासन का प्रचार किया। बौद्धो की जो तीसरी धर्मसगीति (महासभा) आचार्य उपगुप्त के नेतृत्व मे अशोक के समय मे हुई थी, उसने विविध देशो मे बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए एक महान् आयोजन किया था। महावसो मे इसका विशद रूप से विवरण विद्यमान है, जिसके अनुसार मज्झन्तिक (मध्यान्तिक) के नेतृत्व मे एक प्रचारक-मण्डली काश्मीर-गान्धार मे भी भेजी गई थी। इसमे सन्देह नही, कि मज्झन्तिक तथा उसके साथियो को गान्धार मे अनुपम सफलता प्राप्त हुई, जिसके परिणामस्वरूप यह देश बौद्ध धर्म तथा भारतीय संस्कृति एक महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया।

हखामनी राजाओ और सिकन्दर के आक्रमणो के कारण अफगानिस्तान का सम्पर्क ईरानी और ग्रीक लोगो के साथ भी हो गया था। एक सदी के लगभग यह देश ईरान के साम्राज्य के अन्तर्गत रहा था। यह स्वाभाविक था, कि इस सुदीर्घ काल मे ईरान की भाषा तथा संस्कृति इस देश रर अपना अमिट प्रभाव छोड़ जाए। सिकन्दर तथा उसके उत्तराधिकारी वहाँ देर तक शासन नहीं कर सके थे। पर सिकन्दर ने

अपने जीते हुए प्रदेशों में अनेक नई नगरियाँ बसायी थीं, जिनमें ग्रीक व मैसिडोनियन सैनिकों की छावनियाँ भी स्थापित की गई थी। कम-से-कम ऐसी दो नगरियाँ अफगानिस्तान के क्षेत्र में भी बसायी गई थी। उनमें जिन ग्रीक (यवन) लोगों तथा सैनिको को आबाद किया गया था, वे स्थायी रूप से वहीं के निवासी बन गए थे, और धीरे-धीरे भारतीय धर्म तथा संस्कृति आदि को भी उन्होंने अपना लिया था। ईरानी और ग्रीक लोगो के सम्पर्क में आने के कारण इस क्षेत्र के प्रदेशो पर इन विदेशी जातियो की सस्कृति का भी प्रभाव पड़ा। काबुल की घाटी से परे के क्षेत्र में अशोक द्वारा उत्कीर्ण कराये गए जो शिलालेख मिले हैं, वे अरमइक तथा ग्रीक दोनों लिपियों में है, जिससे मौर्य काल में अफगानिस्तान पर ईरान तथा ग्रीस के प्रभाव की सत्ता में कोई सन्देह नही रह जाता।

राजा अशोक की मृत्यु के अनन्तर मौर्य साम्राज्य खण्ड-खण्ड होना प्रारम्भ हो गया था। कलिङ्ग और आन्ध्र के समान काश्मीर और गान्धार भी पाटलिपुत्र के मौर्य सम्राटो की अधीनता से स्वतन्त्र हो गए थे। सैल्युकस द्वारा स्थापित सीरियन साम्राज्य भी देर तक अक्षुण्ण नही रह सका था। बैक्ट्रिया (बाल्ख्री) और पार्थिया सदृश सुदूरवर्ती प्रदेश उससे पृथक् होने प्रारम्भ हो गए थे। सीरियन सम्राट् एण्टियोकस थिग्रोस के समय मे बैक्ट्रिया के क्षत्रप के पद पर डायोडोटस (दियोदोत) नियुक्त था (तीसरी सदी ई० पू०)। सीरियन साम्राज्य की निर्बलता से लाभ उठाकर वह स्वतन्त्र हो गया, और इस प्रकार बैक्ट्रिया मे एक स्वतन्त्र ग्रीक (यवन) राज्य की स्थापना हुई (२५० ई० पू०)। बैक्ट्रिया की आबादी मे यवन लोगो का महत्त्वपूर्ण स्थान था, यद्यपि वहाँ के मूल निवासी जाति से यवन नही थे। राजा और शासक वर्ग के यवन होने के कारण बैक्ट्रिया के राज्य को भी यवन-राज्य कहा जाता है। बैक्ट्रिया के पश्चिम और कैस्पियन सागर के दक्षिण-पूर्व मे पार्थिया का प्रदेश था। सीरिया की निर्बलता से लाभ उठाकर वहाँ के निवासियों ने भी विद्रोह कर दिया, और २४८ ई० पू० के लगभग स्वतन्त्र पार्थियन राज्य की स्थापना हुई। पार्थियन विद्रोह के नेता अरसक और तिरिदात नाम के दो भाई थे। उन्होंने धीरे-धीरे पार्थियन राज्य की शक्ति को बहुत बढा लिया, और शीघ्र ही ईरान का सम्पूर्ण प्रदेश उनकी अधीनता मे आ गया।

२२३ ई० पू० में सीरिया के राजसिंहासन पर एण्टियोकस तृतीय आरूढ़ हुआ, और उसने अपने वंश के लुप्त गौरव के पुनरुद्धार का प्रयत्न किया। पार्थिया पर आक्रमण कर उसने उसे जीतने की योजना बनाई, जो सफल नही हो सकी। पार्थियन राजा को जीतने में असफल होकर एण्टियोकस तृतीय ने उसके साथ सन्धि कर ली। पार्थिया की ओर से निश्चिन्त होकर उसने बैक्ट्रिया पर आक्रमण किया (२१२ ई० पू० के लगभग)। उस समय बैक्ट्रिया के राजसिंहासन पर युथिडिमास विराजमान था, जो वीर व शक्तिशाली राजा था। दो वर्ष तक वह निरन्तर एण्टियोकस से युद्ध करता रहा, और सीरियन सम्राट् उसे परास्त कर सकने में असमर्थ रहा। अन्त में विवश होकर एण्टियोकस ने युथिडिमास के साथ सन्धि कर ली, और इस सन्धि को स्थिर करने के

लिए अपनी पुत्री का विवाह बैक्ट्रिया के राजा के पुत्र डेमेट्रियस (दिमित्र) के साथ कर दिया।

पार्थिया और बैक्ट्रिया के साथ सन्धि कर एण्टियोकस तृतीय ने अफगानिस्तान की ओर प्रस्थान किया। इस क्षेत्र के जो प्रदेश सैल्युकस द्वारा चन्द्रगुप्त मौर्य को प्रदान कर दिये गये थे, एण्टियोकस की दृष्टि में वे सीरियन साम्राज्य के अंग थे। अतः स्वाभाविक रूप से उसकी यह इच्छा थी कि उन्हे जीतकर अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर ले। इसी उद्देश्य से उसने २०६ ई० पू० के लगभग हिन्दुकुश पर्वतमाला के प्रदेश पर आक्रमण किया। ग्रीक विवरणो से सूचित होता है कि एण्टियोकस हिन्दुकुश पर्वतमाला को पार कर काबुल की घाटी मे प्रविष्ट हो गया, और वहाँ का राजा उसका मुकाबला नही कर सका। ग्रीक लेखक पोलिबिअस ने इस राजा का नाम सोफागसेनस (Sophagasenus) लिखा है, और उसे भारतीय राजा कहा है। सोफागसेनस सम्भवत संस्कृत सुभागसेन का ग्रीक रूपान्तर है। अशोक के पश्चात् मौर्यो की निर्बलता से लाभ उठाकर गान्धार भी मगध की अधीनता से स्वतन्त्र हो गया था, और एण्टियोकस तृतीय के समय मे सुभागसेन वहाँ के राजसिंहासन पर विराजमान था। सुभागसेन ने भी एण्टियोकस के साथ सन्धि कर ली, और उसे प्रचुर युद्ध सामग्री प्रदान की।

पर गान्धार मे देर तक सुभागसेन व उसके उत्तराधिकारियो का शासन कायम नही रहा। बैक्ट्रिया (बाल्त्री) के यवन राजा युथिडिमास ने भी कुछ समय पश्चात् हिन्दुकुश पर्वतमाला के क्षेत्र पर आक्रमण किया, और उसे जीतकर अपने अधीन कर लिया। हीरात, कन्दहार, सीस्तान आदि के प्रदेशो मे युथिडिमास के सिक्के अच्छी बडी संख्या मे उपलब्ध हुए हैं, जिससे यह अनुमान किया जाता है कि ये सब प्रदेश उसके शासन मे आ गए थे। युथिडिमास का उत्तराधिकारी बैक्ट्रियन राजा डेमेट्रियस था, जिसने सिन्धु नदी को पार कर भारत पर दूर-दूर तक आक्रमण किए थे। ग्रीक लेखकों ने डेमेट्रियस को भारत का राजा लिखा है। इसमे सन्देह नही, कि वह अफगानिस्तान और भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशो पर अपना आधिपत्य स्थापित करने मे समर्थ हुआ था। पाश्चात्य ससार मे डेमेट्रियस के भारत-विजय की स्मृति इतने सुदीर्घ काल तक कायम रही, कि अग्रेज कवि चौसर ने 'इन्द के राजा' (भारत के राजा) डेमेट्रियस का वर्णन किया है, जो निस्सन्देह बैक्ट्रिया का राजा डेमेट्रियस ही था। भारत की प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति मे सिकन्दर और सैल्युकस का कही उल्लेख नही मिलता। पर डेमेट्रियस का उल्लेख पतंजलि के महाभाष्य और महाभारत मे विद्यमान है। पतजलि के महाभाष्य मे दत्तामित्री नाम की नगरी का उल्लेख है, टीकाकार के अनुसार जो यवन राजा दत्तामित्र द्वारा स्थापित की गई थी। महाभारत मे भी इस यवन राजा को 'दत्तामित्र' नाम से लिखा गया है। गार्ग्य संहिता में इसका 'धर्ममीत' नाम से उल्लेख मिलता है। यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है, कि बैक्ट्रिया के यवन राजा डेमेट्रियस ने सम्पूर्ण अफगानिस्तान और उसके समीपवर्ती उत्तर-पश्चिमी भारत को अपने साम्राज्य में सम्मिलित करने में सफलता प्राप्त की

थी, और उस के प्रयत्न से अफगानिस्तान पर यवनों का शासन स्थापित हो गया था। यही कारण है, कि इस क्षेत्र में बहुत-से ऐसे सिक्के उपलब्ध हुए हैं, जो यवन राजाओं द्वारा प्रचलित किए गए थे।

पर अफगानिस्तान पर शासन करने वाले ये यवन राजा भारतीय संस्कृति के प्रभाव में आने से नहीं बच सके ! इसी का यह परिणाम था, कि इन राजाओं के बहुत-से सिक्कों पर ग्रीक भाषा व लिपि के साथ-साथ खरोष्ठी लिपि मे प्राकृत भाषा के लेख भी अंकित हैं। डेमेट्रियस के कुछ सिक्के ऐसे भी मिले हैं, जिन पर एक ओर 'महराजस अपरिजितस देमेत्रियस' शब्द खरोष्ठी लिपि में उत्कीर्ण हैं। एक अन्य यवन राजा युक्रेटीदस के सिक्कों पर जहाँ ग्रीक लिपि में 'बसिलेग्रस मेगलू युक्रेतिद्' उत्कीर्ण है, वहाँ दूसरी ओर खरोष्ठी लिपि मे 'काविसिये नगरदेवता' उत्कीर्ण किया गया है। ये सिक्के कपिशा से जारी किये गए थे। पान्तलेओन और अगथोक्लीज नाम के यवन राजाओं के सिक्के ऐसे भी मिले हैं, जिन मे ब्राह्मी लिपि का उपयोग किया गया है। अफगानिस्तान और उसके समीपवर्ती भारतीय प्रदेशों के यवन राजाओ पर भारत की भाषा, लिपि, धर्म और संस्कृति आदि का प्रभाव इतना अधिक बढता गया, कि बाद के मिनान्दर और अपोल्लोडोटस सदृश यवन राजाओं ने अपने सिक्कों पर न केवल भारतीय भाषा और लिपि का ही प्रयोग किया, अपितु अपने नामों के साथ ऐसे विशेषण भी प्रयुक्त किए, जिनसे उनका भारतीय धर्मों मे दीक्षित होने का संकेत मिलता है। मिनान्दर के अनेक सिक्को पर बौद्ध धर्म के धर्म-चक्र-प्रवर्तन का चिन्ह धर्म-चक्र अंकित है, और उसके नाम के साथ 'ध्रमिक' (धार्मिक) विशेषण दिया गया है। उसके कतिपय अन्य सिक्कों पर 'महाराजस त्रातरस मेनेन्द्रस' उत्कीर्ण है। अपोल्लोडोटस के सिक्कों पर 'महाराजस अपलदतस त्रातरस' अंकित है, और उसके सिक्के कन्दहार से लगाकर सिन्ध नदी के मुहाने तक के प्रदेशों से मिले हैं। अफगानिस्तान और उसके समीपवर्ती प्रदेशों के इन विविध यवन राजाओ के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने का प्रधान साधन उनके सिक्के ही हैं। इसीलिए उनके इतिहास के विषय मे ऐतिहासिको में बहुत मतभेद है। पर यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है, कि इस क्षेत्र के यवन राजा भारतीय संस्कृति के प्रभाव मे आ गए थे, और उनमें से बहुतो ने बौद्ध, वैष्णव व शैव सदृश भारतीय धर्मों को भी अपना लिया था।

पर बैक्ट्रिया, अफगानिस्तान और उत्तर पश्चिमी भारत के यवन राजा देर तक अपनी शक्ति को कायम नही रख सके। बैक्ट्रिया से यवनों के शासन का अन्त शक लोगों के आक्रमणो से हुआ था। शक जातियों का मूल निवास-स्थान सीर नदी के परवर्ती प्रदेश मे था। दूसरी सदी ई० पू० में उन पर युइशि (ऋषिक) जाति ने आक्रमण किया। युइशि लोग हूणों के हमलों के कारण अपने प्राचीन अभिजन को छोडकर आगे बढने के लिए विवश हुए थे। युइशियों से परास्त होकर शकों को अपना प्रदेश छोड़ना पडा, और उनके विविध जन (कबीले) विविध दिशाओं में आगे बढ़े। उनकी एक शाखा ने बैक्ट्रिया पर आक्रमण किया, और वहाँ के तत्कालीन राजा हेलिओक्लीज को युद्ध में परास्त किया। बैक्ट्रिया पर कब्जा करके शक लोग दक्षिण-

पश्चिम की ओर अग्रसर हुए और उन्होंने पार्थिया पर आक्रमण किया। उसके राजाओं ने शकों की बाढ़ को रोकने का प्रयत्न किया, पर उन्हे सफलता प्राप्त नही हुई और दो पार्थियन राजा (फ्रावत द्वितीय और आर्तेबानस) शको से लड़ते हुए मृत्यु के ग्रास बने। पर आर्तेबानस का उत्तराधिकारी मिथ्रिदातस द्वितीय (१२३-८८ ई० पू०) बड़ा शक्तिशाली था। वह शकों को परास्त करने मे समर्थ हुआ, और मिथ्रिदातस की शक्ति के सम्मुख असहाय होकर शकों का प्रवाह पश्चिम की ओर से हटकर दक्षिण-पूर्व की ओर हो गया। अब उन्होंने सिन्ध के प्रदेश मे प्रवेश किया और मीननगर को राजधानी बनाकर अपने राज्य की स्थापना की। यहाँ से वे भारत के अन्य प्रदेशो मे गए, और सौराष्ट्र को जीतकर उन्होंने उज्जैनी पर भी चढाई की (१०० ई० पू०)। भारत के अनेक प्रदेश इस समय शको की अधीनता मे आ गए थे। शको की एक शाखा ने गान्धार तथा उत्तर-पश्चिमी भारत पर भी आक्रमण किया, और वहाँ के यवन राजाओं को युद्ध मे परास्त किया। शक राजा माओस (मोग) का शासन काबुल की घाटी मे विद्यमान था, और पुष्कलावती तथा तक्षशिला नगर उसके अधीन थे। गान्धार के क्षेत्र से शक राजाओ के बहुत से सिक्के उपलब्ध हुए है, और साथ ही अनेक उत्कीर्ण लेख भी। इनमे सब से अधिक महत्त्वपूर्ण लेख तक्षशिला से प्राप्त हुआ है, जो एक ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण है। इसके अनुसार महाराज महान् मोग के राज्य मे क्षहरात चक्षु के क्षवप लिग्रक कुसलक के पुत्र पतिक ने तक्षशिला मे भगवान् शाक्य मुनि के अप्रतिष्ठापित शरीर-धातु को प्रतिष्ठापित किया था। भारत के विविध प्रदेशों मे शको के जो लेख मिले है, वे प्राय सस्कृत और प्राकृत भाषाओ मे है, और उनसे उनका मुख्यतया जैन और बौद्ध धर्मों का अनुयायी होना प्रगट होता है। यद्यपि शक लोग विदेशी थे, पर भारत मे आकर उन्होंने भी इस देश की सस्कृति को अपना लिया था। गान्धार के शक राजा भी पूर्णतया भारत के प्रभाव मे आ गए थे। पर इस प्रसग मे यह ध्यान मे रखना चाहिए, कि अफगानिस्तान के सब प्रदेश शको के अधीन नही हुए थे। काबुल घाटी के उत्तरी क्षेत्र मे अब भी यवनो का शासन विद्यमान रहा था।

अफगानिस्तान के जो प्रदेश शको के अधीन थे, उन पर भी वे देर तक निर्बाध रूप से शासन नही कर सके। ऐसा प्रतीत होता है, कि मिथ्रदातस द्वितीय के किसी उत्तराधिकारी राजा के समय मे पार्थियन लोगो ने पूर्व की ओर आगे बढकर सीस्तान तथा कन्दहार के प्रदेशो को जीत लिया था। इन प्रदेशो पर पार्थियन लोगो ने एक पृथक् राज्य की स्थापना की, जिसका प्रथम राजा वोनोनस (वनान) था (४० ई० पू०)। सीस्तान (शकस्थान) मे वनान के जो सिक्के मिले हैं, उन पर केवल ग्रीक लेख हैं। पर कन्दहार के प्रदेश से मिले उसके सिक्को पर एक ओर तो ग्रीक लेख है, और दूसरी ओर प्राकृत भाषा के लेख उत्कीर्ण है। कन्दहार के शासन के लिए वनान ने अपने भाई स्पलहोरस को नियुक्त किया था। उसके सिक्को पर 'महाराजभ्रातस ध्रमिअस स्पलहोरस' लेख अकित हैं। स्पलहोर के बाद कन्दहार का शासक उसका पुत्र स्पलगदम बना। उसके सिक्को पर 'स्पलहोर पुत्रस ध्रमिअस स्पलगदमस' उत्कीर्ण हैं। इन सिक्को द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है, कि पहली सदी ई० पू० मे कन्दहार तथा

उसके समीपवर्ती प्रदेशों के पार्थियन शासकों ने प्राकृत भाषा तथा खरोष्ठी लिपि को अपना लिया था। इन पार्थियन शासकों ने अपने नाम के साथ 'ध्रमिक' व 'ध्रमिअ' विशेषण प्रयुक्त किए हैं, जिससे सूचित होता है कि यवन और शक राजाओं के समान वे भी भारतीय धर्म के प्रभाव में आ गए थे। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में पार्थिया को 'पह्लव' कहा गया है, और पुराणों में शक और पह्लव नाम प्रायः साथ-साथ आते हैं।

अफगानिस्तान के क्षेत्र में न शक लोग देर तक शासन कर सके, और न पार्थियन। जिन युइशि (ऋषिक) जातियों के आक्रमणों से विवश होकर शक लोगों ने अपने मूल अभिजन का परित्याग कर बैक्ट्रिया और पार्थिया की ओर प्रस्थान किया था, वे भी शकों के पीछे-पीछे बैक्ट्रिया में प्रविष्ट हुईं, और उस पर उन्होंने कब्जा कर लिया। युइशि लोगों ने बैक्ट्रिया तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों में अपने पाँच राज्य कायम किए (पहली सदी ई० पू०) थे। इन पाँच राज्यों में अन्यतम कुएई-शुआंग था। २५ ई० पू० के लगभग इस राज्य का स्वामी कुजुल कफस कदफिसस नामक वीर पुरुष हुआ, जिसके शासन में इस राज्य की बहुत उन्नति हुई। उसने धीरे-धीरे अन्य युइशि राज्यों को जीत लिया। हिन्दुकुश पर्वतमाला को पार कर उसने काबुल और कन्दहार पर भी आक्रमण किए, और वहाँ से पार्थियन लोगों के शासन का अन्त किया। इस प्रकार बैक्ट्रिया (बाल्ह्री) के अतिरिक्त काबुल और कन्दहार के प्रदेश भी कुजुल कफस कदफिसस की अधीनता में आ गए। इस राजा के जो सिक्के मिले हैं, उनमें कुजुल के साथ कुशण या कुशाण शब्द भी आया है। कुछ ऐतिहासिकों के मत में इसका व्यक्तिगत नाम कुशाण था, और कुजुल इसका विशेषण था। अन्य ऐतिहासिकों ने यह प्रतिपादित किया है, कि 'कुशाण' वंश या जाति का परिचायक है, व्यक्तिगत नाम नहीं है। पर इसमें सन्देह नहीं, कि इसके वंशज 'कुशाण' कहे जाते थे। कुजुल कुशाण का उत्तराधिकारी विम कथफिस था। उसने अपने राज्य का और अधिक विस्तार किया, और उत्तर-पश्चिमी भारत में जो विविध यवन और शक राज्य थे, उन सबको जीतकर अपने अधीन कर लिया। सम्भवतः, मथुरा और गंगा-यमुना के प्रदेश भी उसके राज्य के अन्तर्गत थे। विम के उत्तराधिकारियों में कनिष्क बहुत प्रसिद्ध है। वह एक महान् विजेता था। उसने पूर्व में साकेत (अयोध्या) और पाटलिपुत्र तक की विजय की, और उत्तर-पूर्व में मध्य एशिया के क्षेत्र में अपनी शक्ति का विस्तार किया। मध्य एशिया, बैक्ट्रिया, अफगानिस्तान, उत्तर-पश्चिमी भारत और भारत का मध्यदेश—सब उसके साम्राज्य में सम्मिलित थे।

युइशि या कुशाण वंश के इन प्रतापी राजाओं ने बैक्ट्रिया, अफगानिस्तान तथा भारत के सम्पर्क में आकर भारत की भाषा, संस्कृति और धर्म को पूरी तरह से अपना लिया था। कुजुल के सिक्कों पर 'यउअस कुजुल कफसस सचध्रमथितस', 'यवगुस ध्रमथिदस', 'कुयुल कउस कुषणस' आदि लेख अंकित हैं। एक सिक्के पर उसके नाम के साथ 'महरजस', 'रय रयस' और 'देवपुत्रस' विशेषण भी दिए गए हैं। उसके नाम के साथ 'देवपुत्रस' विशेषण की सत्ता इस बात का संकेत करती है, कि उसने बौद्ध धर्म को अपना लिया था। राजा विम कथफिस के सिक्कों पर के लेख प्रायः इस ढंग के

हैं—'महरजस रजथिरस सब लोग ईश्वरस महिश्वरस विम कथफिशस भरतस'। मथुरा में इस राजा की एक मूर्ति मिली है, जिस पर 'महाराजो राजाधिराजो देवपुत्रो कुशाण-पुत्रो वेम···' उत्कीर्ण हैं। सम्भवतः, विम कथफिश ने शैव-धर्म को स्वीकार कर लिया था। इसीलिए उसके कुछ सिक्को पर शिव तथा नन्दी की प्रतिमाएँ तथा त्रिशूल अंकित हैं। उसके कुछ सिक्कों पर विम के साथ 'महिश्वरस' विशेषण का प्रयोग भी उसके शैव धर्म का अनुयायी होने का परिचायक है। राजा कनिष्क बौद्ध धर्म का अनुयायी था। बौद्ध अनुश्रुति मे उसका स्थान अशोक के समान ही महत्त्वपूर्ण है। उसके समय में बौद्धो की चौथी सगीति (महासभा) कनिष्क के सरक्षण में कश्मीर के कुण्डलवन में आयोजित की गई थी। इस राजा के बहुत-से सिक्को पर यवन, जरथुस्त्री (ईरानी) और भारतीय—सभी प्रकार के देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ अकित है। ईरान के अग्नि (आतश), चन्द्र (माह) और सूर्य (मिहिर), ग्रीक देवता हेलिय, प्राचीन एलम की देवी नौना, भारत के शिव, स्कन्द, वायु और बुद्ध—ये सब देवता उसके सिक्को पर नाम या चित्रों द्वारा विद्यमान हैं। इससे सूचित होता है, कि कनिष्क सब धर्मों का सम्मान करता था, और सब के देवी-देवताओ को आदर की दृष्टि से देखता था। पर बाद मे उसका झुकाव प्रधानतया बौद्ध धर्म के प्रति हो गया था, और आचार्य बुद्धघोष द्वारा उसे बौद्ध धर्म मे दीक्षित भी कर लिया गया था। पाटलिपुत्र से लगाकर मध्य एशिया तक कनिष्क के विशाल साम्राज्य का केन्द्र-बिन्दु गान्धार देश मे था। इसीलिए उसने वहाँ पुष्पपुर नाम से एक नई नगरी का निर्माण कराया, और उसे अपने साम्राज्य की राजधानी नियत किया। यही पुष्पपुर आजकल का पेशावर है। कनिष्क के बाद वाशिष्क, कनिष्क द्वितीय, हुविष्क और वासुदेव पुष्पपुर के राजसिंहासन पर आरूढ हुए। ये सब भारतीय धर्मों के अनुयायी थे, और भारतीय सस्कृति को इन्होने पूर्णरूप से अपना लिया था।

अफगानिस्तान के इतिहास मे कुशाणो का काल एक सुवर्ण-युग के समान था। इस वश के राजाओ ने, विशेषतया कनिष्क ने वहाँ बहुत-से विहारों तथा स्तूपो का निर्माण कराया था। अफगानिस्तान के निवासियो मे यवन, शक तथा पार्थियन लोग भी अच्छी बडी सख्या मे थे। पर प्राय उन सब ने भारतीय धर्म स्वीकार कर लिए थे, और वे भारतीय भाषा का प्रयोग करने लगे थे। ब्राह्मी और खरोष्ठी—दोनों ही लिपियाँ इस काल मे वहाँ प्रचलित थी। भारत की मूर्तिकला मे इस समय एक नई शैली का विकास हुआ, जिसे 'गान्धार शैली' कहते हैं। यह शैली यवन (ग्रीक) और भारतीय शैलियो के सम्मिश्रण का परिणाम थी, और इसका विकास गान्धार के क्षेत्र से ही प्रारम्भ हुआ था। न केवल पुष्पपुर ही, अपितु पुष्करावती, नगरहार, कपिशा आदि इन प्रदेशो की पुरानी नगरियाँ भी इस काल मे बौद्ध धर्म तथा भारतीय सस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गई थी। बौद्ध लोगों की दृष्टि में जो महत्त्व पहले मगध का था, प्रायः वही इस काल मे गान्धार का भी हो गया।

(३) हूण, तुर्क और मुसलिम काल

कुशाण साम्राज्य भी देर तक कायम नहीं रह सका। ईसा की दूसरी सदी में वह खण्ड-खण्ड होना प्रारम्भ हो गया। नाग भारशिव राजाओं ने भारत के मध्यदेश से कुशाणों के शासन का अन्त किया, और सातवाहनों ने दक्षिणापथ से। यौधेय, कुनिन्द आदि गणराज्य पंजाब तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों में स्वतन्त्र हो गए, और उनके कारण वहां से भी कुशाणों के प्रभुत्व का अन्त हो गया। पर अफगानिस्तान तथा उत्तर-पश्चिमी भारत इस समय भी कुशाणों की अधीनता में रहे, और उनके "देवपुत्र शाहिशाहानुशाही" राजाओं का शासन वहाँ कायम रहा। जब गुप्त वंश के प्रतापी राजा समुद्रगुप्त ने दिग्विजय द्वारा भारत मे एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की, तो अफगानिस्तान क्षेत्र के शाहिशाहानुशाही राजा ने भी "आत्म-निवेदन, कन्योपायन, दान, और गरुड़ध्वज से अंकित आज्ञापत्रो के ग्रहण" आदि उपायो से गुप्त सम्राट् को सन्तुष्ट किया। समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारियों मे चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (३७८-४१४ ई० प०) ने गान्धार कम्बोज (अफगानिस्तान तथा उसके परे का प्रदेश) के कुशाण राजाओ को परास्त कर वाह्लीक देश पर आक्रमण किया और अपने साम्राज्य की सीमा को वक्षु नदी तक विस्तृत किया। पर गुप्त वंश के सम्राट् इन प्रदेशों को देर तक अपने अधीन नही रख सके। इसका कारण हूणो का आक्रमण था।

हूणो के विषय मे इसी अध्याय मे ऊपर लिखा जा चुका है। उन्ही के आक्रमणों के कारण युइशि लोग अपने प्राचीन निवास-स्थान को छोडकर पश्चिम-दक्षिण की ओर अग्रसर होने को विवश हुए थे, और उनसे खदेड़े जाकर शक लोग ईरान, भारत और अफगानिस्तान की ओर आए थे। पर हूण लोग युइशियो के प्रदेश को अधिगत करके ही सन्तुष्ट नही हुए। उनकी एक शाखा ने गुप्त साम्राज्य पर हमला किया, और कम्बोज जनपद को जीत कर गान्धार मे प्रविष्ट होना प्रारम्भ किया। ये सब प्रदेश उस समय गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत थे। गुप्त सम्राट् स्कन्द गुप्त (४५५-४६७ ई०) ने हूणो का डटकर मुकाबला किया, और उनकी गति को अवरुद्ध करने मे सफलता प्राप्त की। पर बाद के गुप्तवंशी राजा हूणो के सम्मुख नही टिक सके। कम्बोज और गान्धार उनके कब्जे मे आ गए, और सिन्ध नदी को पार कर उन्होंने पजाब तथा सिन्ध को भी आक्रान्त करना प्रारम्भ कर दिया। पाँचवी सदी के अन्तिम भाग में हूणों का राजा तोरमाण था। मध्य एशिया, कम्बोज और गान्धार के सब प्रदेश उसके शासन मे थे। उसने सिन्ध के पूर्व में गुप्त साम्राज्य पर भी हमले किए, पर भानुगुप्त बालादित्य के विरुद्ध उसे विशेष सफलता नहीं हुई। तोरमाण के बाद मिहिरगुल हूणों का नेता बना। कल्हणकृत राजतरंङ्गिणी मे इसे 'त्रिकोटिहा' या तीन करोड़ मनुष्यों का संहार करने वाला कहा गया है। सुंग-युन ने मिहिरगुल के नृशंस कृत्यों का विशद रूप से वर्णन किया है। यह चीनी यात्री ५१८ से ५२२ ईस्वी तक बामियान (अफगानिस्तान) में रहा था, जो उस समय हूणों के राज्य का अन्यतम केन्द्र था। सुग-युन ने गान्धार तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों का जो वर्णन लिखा है, उससे ज्ञात होता है कि

इन प्रदेशों मे बहुत-से बौद्ध विहार और चैत्य तथा हिन्दू मन्दिर विद्यमान थे, और ये विद्या, ज्ञान तथा संस्कृति के महत्वपूर्ण केन्द्र थे। इसी का यह परिणाम हुआ, कि हूण लोग भी भारत के धर्म तथा संस्कृति के प्रभाव में आने से बचे नहीं रह सके। शुरू में हूणों ने असाधारण बर्बरता प्रदर्शित की थी, पर बाद में वे भारत के सम्पर्क में आकर इस देश के समाज के अंग बन गए थे। हूण राजा मिहिरगुल ने शैव धर्म को स्वीकार कर लिया था। उसके एक शिलालेख मे लिखा है, कि स्थाणु शिव के अतिरिक्त वह किसी के सम्मुख सिर नही झुकाता था। उसके जो सिक्के मिले हैं, उन पर त्रिशूल और नन्दी के चिह्न अंकित हैं, और 'जयतु वृष' ये शब्द उत्कीर्ण हैं। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार मिहिरगुल ने बौद्धो पर अत्याचार किए थे, और गान्धार में उनके विहारो तथा चैत्यो को नष्ट भी किया था। अफगानिस्तान के क्षेत्र मे बौद्ध धर्म के ह्रास की प्रक्रिया का प्रारम्भ सम्भवत हूणो के समय मे ही हो गया था।

पर हूण लोग भी देर तक अफगानिस्तान के क्षेत्र को अपने शासन में नही रख सके। मगोलिया के एक सुदूरवर्ती प्रदेश मे तुर्क जाति का निवास था, जिसे चीनी लोग 'तू-कियू' कहते थे। छठी सदी ईस्वी मे इस जाति के उत्कर्ष का प्रारम्भ हुआ, और ईरान के सासानी राजा खुसरो अनुशीरवाँ के साथ मिलकर उसने हूणो की शक्ति को नष्ट करने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। छठी सदी का अन्त होने से पूर्व ही तुर्कों ने बल्ख से लगाकर हिन्दुकुश पर्वतमाला तक के सब प्रदेशो को अपने अधीन कर लिया था। ये प्रदेश पहले हूणो के अधीन थे। सातवी सदी के पूर्वार्द्ध मे जब चीनी यात्री ह्यु एन-त्साग ने इन प्रदेशो की यात्रा की थी, तब ये सब तुर्कों के शासन मे थे। हिन्दुकुश के दक्षिण मे भी उन्होने प्रवेश कर लिया था, और वहाँ भी अपना शासन स्थापित कर लिया था। पर अफगानिस्तान तथा उनके समीपवर्ती प्रदेशो के ये नये शासक भी भारतीय धर्म तथा संस्कृति के प्रभाव मे आये बिना नही रहे। उन्होने भी बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया, और वे बौद्ध भिक्षुओ तथा विद्वानो का अपने गुरुओ के समान आदर करने लगे। यही कारण है, कि जब प्रभाकरमित्र नाम का बौद्ध भिक्षु चीन जाते हुए तुर्कों की राजधानी मे पहुँचा, तो उनके राजा सिहूं-कगन ने उसका धूमधाम के साथ स्वागत किया (६२६ ईस्वी)। इसी प्रकार कुछ वर्ष पश्चात् जब चीनी यात्री ह्यु एन-त्साग बौद्ध धर्म के अनुशीलन के लिए भारत आते हुए तुर्क राज्य मे पहुचा, तो सिहूं-कगन ने न केवल उसका स्वागत किया, अपितु अपने विशाल साम्राज्य मे निरापद रूप से उसकी यात्रा के सम्बन्ध मे सब व्यवस्था भी कर दी। कुशाण वश के बौद्ध राजाओ के समान बौद्ध धर्म के अनुयायी तुर्क राजाओं ने भी अनेक बौद्ध विहारों और चैत्यो का निर्माण कराया था। वू-कुग नाम का चीनी यात्री ७५९ से ७६४ ईस्वी तक के काल मे जब काश्मीर और गान्धार देशो मे आया था, तो उसने एक तुर्क राजा द्वारा बनवाये हुए ऐसे विहारो को अपनी आँखो से देखा था। सातवी सदी मे अफगानिस्तान और उसके समीपवर्ती सब प्रदेश तुर्कों के शासन में रहे, पर इससे वहाँ भारतीय धर्म तथा संस्कृति की सत्ता में कोई अ..र नही आया। तुर्कों ने बौद्ध धर्म को अपना लिया था, और बहुत-से संस्कृत ग्रन्थ उसी ढंग से तुर्की भाषा मे अनूदित कराए गए

थे, जैसे कि चीनी और तिब्बती भाषाओं में। जब अरबों का तुर्कों से सम्पर्क हुआ, तो उन्होंने तुर्की में अनूदित संस्कृत ग्रन्थों का अरबी मे अनुवाद किया।

सातवीं सदी में अरब में इस्लाम का प्रादुर्भाव हुआ। उसके प्रवर्तक हजरत मुहम्मद ने न केवल एक नये धर्म का सूत्रपात किया, अपितु अरब के बहुत-से छोटे-छोटे राज्यों को एक सूत्र में संगठित कर अपने देश को एक शक्तिशाली राष्ट्र का रूप भी प्रदान किया। मुहम्मद के उत्तराधिकारियों ने अरब की इस नई शक्ति का उपयोग साम्राज्य के विस्तार के लिए किया, और उन्होंने चारों ओर आक्रमण प्रारम्भ किये। देखते-देखते सीरिया, मिस्र, उत्तरी अफ्रीका, स्पेन और ईरान अरबों के आधिपत्य में आ गये। ईरान को जीतकर अरब सेनाओं ने अफगानिस्तान पर आक्रमण किया, और कन्दहार, काबुल आदि की विजय कर ली। ६६३ ईस्वी में एक अरब सेना बल्ख की ओर अग्रसर हुई, और उसे भी जीत लिया गया। अरब के ये आक्रान्ता इन प्रदेशों की विजय करके ही सन्तुष्ट नहीं हो गए, उन्होंने वहाँ के निवासियों को इस्लाम में भी दीक्षित किया, जिसके परिणामस्वरूप अफगानिस्तान तथा बल्ख आदि से बौद्ध धर्म का अन्त हो गया। बामियान के तुर्क शासकों ने खलीफा अल-मन्सूर (७५४-७७५ ई०) के समय मे इस्लाम की दीक्षा ग्रहण की, और काबुल के शासकों ने खलीफा मामूँ (८१३-८३३ ई०) के समय मे। चीनी यात्री वू-कुंग ७५३ ई० मे गान्धार आया था। वहाँ का वर्णन करते हुए वू-कुंग ने सुखावती और पद्मावती नामक दो बौद्ध-विहारों का उल्लेख किया है। चीन के बौद्ध साहित्य मे कुभा (काबुल) के एक श्रमण का वर्णन मिलता है, जिसका नाम प्रज्ञा था और जिसने ७८५ ई० के लगभग अनेक बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था। नौवीं सदी के एक शिलालेख मे नगरहार के एक बौद्ध भिक्षु का उल्लेख है, जिसे पालवंशी राजा देवपाल ने नालन्दा विहार का प्रधान आचार्य नियुक्त किया था। ये सब तथ्य यह सूचित करने के लिए पर्याप्त हैं, कि आठवीं सदी के मध्य तक गान्धार में और नौवीं सदी के प्रारम्भ तक काबुल में बौद्ध धर्म फलफूल रहा था। पर इसके कुछ समय बाद ही अरबों के आक्रमणों के कारण इन प्रदेशों से बौद्ध धर्म का लोप हो गया, और भारतीय संस्कृति के स्थान पर वहाँ के निवासियों ने अरब की संस्कृति को अपनाना प्रारम्भ कर दिया।

अफगानिस्तान के क्षेत्र में बौद्ध तुर्कों और मुसलिम अरबों के बीच जो संघर्ष हुए उनका वृत्तान्त यहाँ लिख सकना सम्भव नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि खलीफा मामूँ के बाद भी इस क्षेत्र में बौद्ध धर्म की सत्ता रही, और कुछ स्थानीय बौद्ध राजा अपने-अपने प्रदेशों में स्वतन्त्रतापूर्वक शासन करते रहे। इस क्षेत्र में इस्लाम की सुदृढ़ रूप से स्थापना का प्रधान श्रेय याकूब को प्राप्त है जिसके पिता ने ईरान मे एक नये तुर्क राजवंश का प्रारम्भ किया था। सातवीं सदी का अन्त होने से पहले ही अरबों ने ईरान को जीत लिया था, और वह बगदाद के खलीफाओं के शासन में आ गया था। पर नौवीं सदी के प्रारम्भ में तुर्कों ने बगदाद के अरब खलीफाओं की शक्ति का अन्त कर दिया, और उनके भग्नावशेषों पर जो अनेक तुर्क राज्य स्थापित किये, ईरान का तुर्क राज्य भी उनमें से एक था। अरब के सम्पर्क में आकर इन तुर्कों ने भी इस्लाम को स्वीकार

कर लिया था। ८७०-८७१ ईस्वी में याकूब ने बल्ख, बामियान और काबुल को भी जीत लिया, और वहाँ जो अनेक बौद्ध राज्य अभी विद्यमान थे, उनकी समाप्ति कर दी। काबुल के जिस राजा को याकूब ने परास्त किया, वह जाति से तुर्क था और धर्म से बौद्ध। सम्भवत., इसका नाम लगतूमनि था जिसे अल-बरूनी ने हिन्दू तुर्क वश का अन्तिम राजा लिखा है। लगतूमनि का मन्त्री कल्लर नाम का एक ब्राह्मण था। उसने एक नये राजवंश की नीव डाली, जो 'हिन्दूसाही' या 'ब्राह्मण साही' नाम से प्रसिद्ध है। कल्लर के बाद इस वंश मे सामन्द, कमलू, भीम, जयपाल, आनन्दपाल, तरलोचनपाल और भीमपाल राजा हुए। इस राज्य की राजधानी ओहिन्द (उद्भाण्डपुर) नगरी थी, और उत्तर-पश्चिमी भारत तथा पजाब के सब प्रदेश इस राज्य के अन्तर्गत थे। हिन्दूसाही राजा तुरुष्को (मुस्लिम तुर्कों) से निरन्तर युद्ध मे व्यापृत रहे, और बाद मे उन्होने गान्धार तथा काबुल पर भी अधिकार कर लिया। हिन्दूसाही वश के एक राजा के शासनकाल मे एक चीनी यात्री की-ये गान्धार होता हुआ काश्मीर गया था। की-ये बौद्ध था, और वह तीन सौ बौद्ध भिक्षुओ के साथ यात्रा के लिए निकला था (९६० ई०)। उसके यात्रा विवरण से ज्ञात होता है, कि दसवी सदी के मध्य तक भी गान्धार के प्रदेश मे बौद्ध धर्म की सत्ता थी और उद्भाण्डपुर के हिन्दूसाही राजा सफलता के साथ इस्लाम का सामना करने मे तत्पर थे। पर वे देर तक मुसलिम तुर्कों के सामने नही टिक सके। याकूब के आक्रमणो के परिणामस्वरूप अफगानिस्तान के अनेक प्रदेश मुसलिम तुर्कों के शासन मे आ गये थे, और वहाँ उन्होने अपने पृथक् राज्य स्थापित कर लिए थे। इनमे एक गजनी का राज्य था, जिसका राजा सुबुक्तगीन (९७७-९९७ ई०) था। उसने हिन्दूसाही राज्य पर आक्रमण किया, और हिन्दुकुश पर्वतमाला के पूर्व के अनेक दुर्गों व नगरो को जीत लिया। नगरहार के उत्तर-पश्चिम के पहाडो की उस तराई को, जिसमे अलीशाग नदी काबुल नदी से मिलती है, आजकल लमगान कहते हैं। प्राचीन समय मे इसे लम्पाक कहते थे। सुबुक्तगीन ने इसे जीतने का प्रयत्न किया। खुर्रम नदी की घाटी मे मुस्लिम तुर्कों और हिन्दूसाही राज्य की सेनाओ मे घनघोर युद्ध हुआ। कन्नौज के राजा राज्यपाल और जभौती के राजा धग की सेनाएँ इस युद्ध मे हिन्दूसाही राजा जयपाल की सहायता कर रही थी। युद्ध मे सुबुक्तगीन विजयी हुआ, और लमगान पर मुसलिम तुर्कों का अधिकार हो गया। सुबुक्तगीन के बाद ९९७ ई० मे उसका पुत्र महमूद गजनी की राजगद्दी पर बैठा। वह ससार के सबसे बडे विजेताओ मे स्थान रखता है। १००१ ई० मे उसने लमगान से आगे बढ़कर पेशावर पर आक्रमण किया। जयपाल के पुत्र आनन्दपाल ने एक बडी सेना के साथ महमूद का डटकर सामना किया, पर उसे सफलता प्राप्त नही हुई। वह परास्त हो गया, और सिन्ध नदी के पश्चिम के सब प्रदेश हिन्दूसाही राज्य से महमूद ने जीत लिये। पर आनन्दपाल ने अब भी हिम्मत नहीं हारी। उसने पहले भेरा (नमक की पहाडियो के समीप) को अपनी राजधानी बनाया, और फिर भटिण्डा को। वहाँ से वह महमूद के विरुद्ध सघर्ष में तत्पर रहा। आनन्दपाल के पश्चात् तरलोचनपाल और भीमपाल ने भी इस संघर्ष को जारी रखा, पर महमूद के विरुद्ध वे सफल नहीं हो सके। परिणाम

यह हुआ, कि हिन्दूसाही राज्य का अन्त हो गया, और अफगानिस्तान तथा उसके समीपवर्ती सब प्रदेश मुसलिम तुर्कों के शासन मे आ गये। इस क्षेत्र के अन्तिम हिन्दू या भारतीय राज्य का अन्त १०२६ ईस्वी मे हुआ था।

गजनी के तुर्क राजा इस्लाम के अनुयायी थे। अपने राज्य मे उन्होंने बौद्ध तथा अन्य भारतीय धर्मो के मन्दिरो, बिहारो तथा अन्य धर्मस्थानो का बुरी तरह से ध्वंस किया। अलबरूनी के शब्दों में महमूद गजनवी ने हिन्दुओं को खाक में मिला दिया था, और उसके भय से ही काश्मीर तथा वाराणसी सदृश ऐसे प्रदेशो में उन्होंने जाकर आश्रय ग्रहण किया था जो तुर्क सल्तनत के अन्तर्गत नही थे। पर महमूद भी भारतीय संस्कृति के प्रभाव से अपने को अछूता नही रख सकता था। उसके ऐसे सिक्के भी मिले हैं, जिन पर कलमे का संस्कृत अनुवाद "अव्यक्तमेकं अवतार मुहम्मद" ऐसा अंकित किया गया है। पर इसमे सन्देह नहीं, कि इस्लाम के जोश मे तुर्क राजाओ ने अफगानिस्तान के हिन्दुओ और बौद्धों पर भयंकर अत्याचार किये, उनके धर्मस्थानो को ध्वस किया और बलपूर्वक उन्हें इस्लाम को स्वीकार करने के लिये विवश किया। इसी का यह परिणाम हुआ, कि ग्यारहवी सदी से अफगानिस्तान तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशो से भारतीय संस्कृति का प्रभाव क्षीण हो गया। जो भारतीय यवन, शक, पार्थियन, युइशि तथा हूण जातियो को आत्मसात् कर सकने मे समर्थ हुए थे, मुसलिम तुर्कों को वे अपने प्रभाव मे नही ला सके।

धर्म और सस्कृति की दृष्टि से अफगानिस्तान यद्यपि भारत के प्रभाव मे नही रहा, पर उसके मुसलिम शासक भी भाषा के क्षेत्र मे भारत के प्रभाव को दूर नही कर सके। वहाँ की भाषाओ पर अब तक भी भारत का प्रभाव विद्यमान है, और उनका सम्बन्ध ईरान या अरब की अपेक्षा भारतीय भाषाओं से बहुत अधिक है।

जहाँ तक अफगानिस्तान और भारत के राजनीतिक सम्बन्ध का प्रश्न है, मुसलिम तुर्कों के साथ इस सम्बन्ध का सदा के लिये अन्त नही हो गया। मुगलो के साम्राज्य मे अफगानिस्तान के भी अनेक प्रदेश अन्तर्गत थे, और अकबर तथा उसके उत्तराधिकारी मुगल बादशाहो का शासन काबुल के क्षेत्र में विद्यमान था, यद्यपि ईरान के राजा उसे अपनी अधीनता मे लाने के लिए निरन्तर संघर्ष करते रहते थे।

(४) अफगानिस्तान के प्राचीन इतिहास की खोज का सूत्रपात

वर्तमान समय में अफगानिस्तान की जो दशा है, उसे देखकर यह कल्पना भी नही की जा सकती, कि किसी समय यह देश भारतीय सभ्यता, धर्म और सस्कृति का अत्यन्त महत्वपूर्ण केन्द्र था। बौद्ध और सनातन हिन्दू धर्म के बिहारो, चैत्यों और मन्दिरों के जो बहुत-से अवशेष वहाँ विद्यमान हैं, उनका भी किसी को पता नही था। उन्नीसवी सदी मे जब पाश्चात्य विद्वानो ने एशिया के विविध देशों के प्राचीन इतिहास की खोज प्रारम्भ की, और संस्कृत, पालि, चीनी आदि प्राच्य भाषाओं के साहित्य का अनुशीलन उन्होंने शुरू किया, तो उनका ध्यान अफगानिस्तान की ओर भी गया। पाँचवीं सदी में चीनी यात्री फाइयान मध्य एशिया और अफगानिस्तान होता हुआ भारत

आया था, और सातवीं सदी में ह्यु एनत्सांग। बाद मे अन्य भी अनेक चीनी यात्री बौद्ध धर्म तथा दर्शन का अध्ययन करने के लिए भारत आते रहे। प्राय ये सभी यात्री मध्य एशिया तथा अफगानिस्तान के मार्ग से ही भारत आये थे। इन्होंने अपने देश लौटकर अपनी यात्रा के जो विवरण लिखे, उनमें भारत की उत्तर पश्चिमी-सीमा के परे के देशो का भी वर्णन किया। वहाँ जिन बौद्ध धर्म-स्थलो का इन्होंने अवलोकन किया, जिन विहारो मे ये ठहरे और जिन राजाओ के ये सम्पर्क मे आये, उनके वृत्तान्त को भी इन्होंने लेखबद्ध किया। चीनी यात्रियो के यात्रा-विवरण मध्य एशिया तथा अफगानिस्तान के प्राचीन इतिहास का परिज्ञान प्राप्त करने के बहुत प्रामाणिक तथा महत्वपूर्ण साधन है।

पर इनसे भी अधिक महत्व के वे भग्नावशेष है, जो अफगानिस्तान के विविध प्रदेशो मे अब तक भी विद्यमान हैं। आधुनिक समय मे इनसे किस प्रकार परिचय प्राप्त किया गया, इस सम्बन्ध मे भी कुछ प्रकाश डालना उपयोगी होगा। उन्नसवी सदी के प्रारम्भिक भाग मे विलियम मूरक्राफ्ट नाम का एक अग्रेज इस प्रयोजन से तुर्किस्तान गया था, ताकि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लिये वहाँ से घोडे खरीदे जा सके। मूरक्राफ्ट एक पशुचिकित्सक था, और तुर्किस्तान के घोडो का वह भारत मे आयात करना चाहता था। जार्ज अरबीक नाम के एक अन्य अंग्रेज के साथ १८१९ मे उसने भारत से प्रस्थान किया, और अनेक विघ्न-बाधाओ का सामना करते हुए वह काबुल के रास्ते से बोखारा पहुचने मे समर्थ हुआ। अपनी यात्रा को पूरा कर वे भारत नही लौट सके। १८२५ मे उनकी मृत्यु हो गई। पर अपनी यात्रा का जो विवरण उन्होंने लिखा था वह १८३१ मे प्रकाशित किया गया, और उसके द्वारा पाश्चात्य विद्वानो का ध्यान उन स्तूपो तथा बामियान के गुहा-मन्दिरो की ओर आकृष्ट हुआ, अफगानिस्तान मे जिन्हे मूरक्राफ्ट ने अपनी आँखो से देखा था, और जिनका वर्णन उसने अपने यात्रा-विवरण मे लिखा था। इसी समय अलेग्जैण्डर बर्नेस नाम के एक अग्रेज अफसर के मन मे यह बात आयी, कि उस मार्ग का अवगाहन किया जाना चाहिये जिसका अनुसरण कर सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया था। अपने मित्र डा० जेम्स गेरार्ड के साथ उसने पंजाब से पेशावर होते हुए अफगानिस्तान में प्रवेश किया, और हिन्दुकुश पर्वतमाला को पार कर वह बोखारा पहुँच जाने मे समर्थ हुआ (१८३२)। बर्नेस ने अपनी इस यात्रा का जो विवरण लिखा, उसमे उन स्तूपों, गुहा-मन्दिरो और बुर्जों आदि का भी वर्णन किया, जो उसने जलालाबाद तथा काबुल के प्रदेशो में देखे थे। बामियान के गुहा-मन्दिरों ने बर्नेस को विशेष रूप से आकृष्ट किया था। इनके विषय में उसने आश्चर्य के साथ यह लिखा, कि बामियान की ये गुफाएँ मुहम्मद से भी पहले के उस समय की हैं, जबकि इस क्षेत्र में 'काफिरों' का निवास था और जब वहाँ 'जोहक' (Zohak) का शासन था, जिसका काल ईसाई धर्म के प्रादुर्भाव से भी पहले था। बर्नेस के साथ इस यात्रा में मोहनलाल नामक एक काश्मीरी भी गया था, जिसे फारसी भाषा का अच्छा ज्ञान था। इसी समय के लगभग चार्ल्स मैस्सन नाम के अमेरिकन ने भी इस प्रयोजन से अफगानिस्तान का अवगाहन किया, ताकि उस अलैग्जेण्ड्रिया नगरी के स्थान का ठीक-ठीक पता लगाया जा सके,

जिसे कोकेशस पर्वत की उपत्यका में सिकन्दर ने स्थापित किया था। मैस्सन १८३४ से १८३७ तक अफगानिस्तान में रहा, और उसने काबुल तथा जलालाबाद के क्षेत्र में स्थित बहुत-से स्तूपो का पता लगाया। वहाँ से उसने बहुत-से प्राचीन सिक्के, धातु-मञ्जूषाएँ तथा अन्य पुरानी वस्तुएँ भी प्राप्त की। काबुल नगरी के उत्तर-पश्चिम में २५ मील के लगभग दूरी पर स्थित बेग्रम के एक पुराने डूह से उसने ३०,००० से भी अधिक प्राचीन सिक्के प्राप्त किये। ये सिक्के यवन, शक, सासानी, हिन्दू तथा मुस्लिम राजाओं के हैं और अफगानिस्तान के प्राचीन इतिहास का अनुशीलन करने के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। मैस्सन द्वारा की गई खोज के विवरण एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका मे प्रकाशित हुए, जिन्हे पढकर यूरोप के विद्वानों का ध्यान अफगानिस्तान के प्राचीन इतिहास की ओर आकृष्ट हुआ। पर वे और अधिक शोध के लिये अफगानिस्तान नहीं जा सके, क्योकि १८३९ मे अग्रेज़ो और अफगानो मे युद्ध प्रारम्भ हो गया था, और अफगानिस्तान के राजा ने विदेशियों के अपने देश में प्रवेश को निषिद्ध कर दिया था। इस युद्ध मे विन्सेन्ट आयर नाम का एक अग्रेज सैनिक अफगानो के हाथ कैद हो गया था। बन्दी जीवन व्यतीत करते हुए भी उसने बामियान के गुहा-मन्दिरो का अवगाहन किया, और इनके सम्बन्ध मे जो विवरण लिखा, उसे पढकर विद्वानों की अफगानिस्तान के प्राचीन अवशेषों मे दिलचस्पी बहुत बढ गई। कुछ समय पश्चात् फेरिये नामक एक फ्रेञ्च अफसर ने स्थल मार्ग द्वारा बगदाद से लाहौर तक की यात्रा की। अफगानिस्तान से गुजरते हुए उसने सिगलक नामक स्थान पर ऐसे बौद्ध गुहा-मन्दिरो को देखा जिन्हें विशाल पर्वत शिलाओ को काटकर बनाया गया था। १८७८-८० के अफगान युद्ध के समय विलियम सिम्पसन नामक अंग्रेज सवाददाता ने जलालाबाद के बौद्ध स्तूपों और गुहा-मन्दिरो का अवलोकन किया, और उनका विस्तृत विवरण रायल एशियाटिक सोसायटी के जर्नल मे प्रकाशित कराया (१८८२)। इस विवरण मे चित्रो का भी प्रयोग किया गया था, जिससे बौद्ध युग के इन भग्नावशेषो को सजीव रूप मे देख सकने का विद्वानो को अवसर मिला। १८८५ ई० मे लार्ड डफरिन की सरकार द्वारा एक कमीशन की नियुक्ति की गई थी, जिसे अफगानिस्तान और रूस के बीच की सीमा को निर्धारित करने का कार्य सुपुर्द किया गया था। इस कमीशन के अफसरो ने बामियान के गुहा-मन्दिरो का एक अत्यधिक विशद विवरण तैयार किया।

सन् १९२२ मे अफगानिस्तान के राजा ने अपने देश मे पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोज करने का एकाधिकार तीस वर्षों के लिए फ्रास को प्रदान कर दिया। फ्रास ने इस कार्य के लिए जो मण्डली नियुक्त की, उसके नेता डा० फूशे थे। फूशे के पथ-प्रदर्शन में फ्रांस के विद्वानों ने अफगानिस्तान के पुरातत्त्व-सम्बन्धी प्राचीन अवशेषों के अन्वेषण तथा अध्ययन के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इस अध्ययन के परिणाम अब प्रकाशित हो चुके हैं, और उन द्वारा अफगानिस्तान के प्राचीन इतिहास के उस युग का सही-सही चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है जबकि उस देश के निवासी बौद्ध आदि भारतीय धर्मों के अनुयायी थे, भारतीय भाषाएँ एवं लिपियाँ वहाँ प्रयुक्त होती थी और वहाँ भी उसी ढंग के विहार, चैत्य, मन्दिर आदि विद्यमान थे, जैसे कि भारत में थे। वस्तुतः,

उस युग का अफगानिस्तान भारत का ही एक अंग था। मध्य एशिया, ईरान और भारत के मध्य में स्थित होने के कारण इस देश में यद्यपि अनेक जातियों तथा धर्मों का सम्मिश्रण हुआ, पर वहाँ भारतीय संस्कृति का ही प्राधान्य रहा। यवन, शक, युइशि, पार्थियन, हूण आदि जो भी जातियाँ इस प्रदेश में प्रविष्ट हुईं, वे कुछ समय के लिए वहाँ अपने-अपने राज्य स्थापित करने में अवश्य सफल हुईं, पर धर्म, संस्कृति, भाषा आदि के क्षेत्र में वे भारत से पराजित ही होती रहीं। अपनी विशेषताओं को कायम रखते हुए भी ये जातियाँ भारतीय संस्कृति के रंग में रँग गईं।

पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोजों तथा चीनी यात्रियों के विवरणों द्वारा अफगानिस्तान की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति पर जो प्रकाश पड़ता है, हम उसका इसी अध्याय के छठे प्रकरण में उल्लेख करेंगे।

(५) चीनी यात्रियों के विवरणों के अनुसार अफगानिस्तान का धर्म तथा संस्कृति

प्राचीन काल में चीन के अनेक भिक्षु बौद्ध धर्म का गम्भीर अध्ययन करने और अपने धर्म के पवित्र तीर्थ-स्थानों की यात्रा के प्रयोजन से स्थल मार्ग द्वारा भारत आये थे। मध्य एशिया और अफगानिस्तान होते हुए भी इन्होंने भारत में प्रवेश किया था। इनके यात्रा विवरणों द्वारा प्राचीन अफगानिस्तान के धर्म तथा संस्कृति के सम्बन्ध में बहुत कुछ जानकारी प्राप्त की जा सकती है। अपनी आँखों से देखकर इन्होंने जो विवरण लिखे, उनकी प्रामाणिकता असंदिग्ध है।

फाइयान—यह चीनी यात्री पाँचवीं सदी के प्रारम्भ में भारत आया था। अफगानिस्तान के जिन स्थानों पर वह ठहरा, उनके सम्बन्ध में उसके निम्नलिखित विवरण उल्लेखनीय हैं—

"कुफेन (काबुल) में एक सहस्र से अधिक भिक्षु हैं। सब महायान सम्प्रदाय के अनुयायी हैं।"

"वू-चांग (उद्यान) से उत्तरी भारत प्रारम्भ हो जाता है। इस देश में वही भाषा बोली जाती है, जो (भारत के) मध्य देश में प्रयुक्त होती है। यहाँ के निवासियों का पहरावा, भोजन तथा पान भी मध्य देश के लोगों के सदृश है। बुद्ध का धर्म यहाँ भलीभाँति फलफूल रहा है। जिस स्थान पर श्रमण और भिक्षु निवास करते हैं, उसे संघाराम कहा जाता है। यहाँ ५०० संघाराम हैं, जिनका सम्बन्ध हीनयान सम्प्रदाय के साथ है। यदि कोई भिक्षु बाहर से इन संघारामों में आता है, तो इनमें तीन दिन के लिये उसके निवास आदि की सब व्यवस्था कर दी जाती है।"

"गान्धार के सब निवासी हीनयान के अनुयायी हैं। यह वही प्रदेश है, जहाँ अशोक के समय में उसका पुत्र धर्मवर्धन शासक के रूप में नियुक्त था। बुद्ध ने अपने एक पूर्वजन्म में, जबकि वह बोधिसत्त्व था, एक मनुष्य को यहीं पर चक्षुदान किया था। यहाँ एक चैत्य विद्यमान है, जो सोने और चाँदी से मण्डित है। तक्षशिला में राजा, मन्त्री और जनसाधारण सब स्तूपों की पूजा करते हैं। इन पर पुष्प और दीप

चढ़ाने वालों का ताँता कभी नहीं टूटता।"

"पुरुषपुर (पेशावर) में सात सौ से अधिक श्रमण व भिक्षु होंगे।" यहाँ के एक स्तूप के विषय में फाइयान ने लिखा है, कि वह जम्बूद्वीप मे सबसे ऊँचा स्तूप है, और बहुत से मणिमाणिक्यों से मण्डित है।

"(पेशावर) से १६ योजन की दूरी पर नगरहार का प्रदेश है, जिसकी सीमा पर हड्डा (हे लो) नगर है। यहाँ के विहार पर सोने के पत्तर चढ़े हैं, और सप्तरत्न जड़े हैं। इस विहार में बुद्ध के सिर की एक अस्थि है, जिसकी रक्षा के लिये यहाँ के राजा ने अपने राज्य के सर्वप्रधान परिवारों के व्यक्तियों को नियुक्त किया हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति द्वार पर अपनी मुहर लगा देता है, जिससे कि धातु की सुरक्षा सम्भव हो सके। प्रातः-काल इन मुहरों की जाँच की जाती है, और तब द्वार खोला जाता है। फिर सुगन्धित जल से अपने हाथ धोकर ये व्यक्ति अस्थि को विहार से बाहर लाते हैं, और उसे एक सिंहासन पर रख देते हैं।"

"हड्डा से एक योजन उत्तर में नगरहार की राजधानी है। यहाँ एक विहार है, जो बुद्ध के दाँत पर बनाया गया है। इसकी भी उसी ढंग से पूजा की जाती है, जैसे कि हड्डा में बुद्ध के मस्तक की अस्थि की।"

"रोही (अफगानिस्तान में) के समीप ३००० श्रमण और भिक्षु निवास करते हैं। हीनयान और महायान दोनो सम्प्रदायो के अनुयायी इनमें हैं।"

"रोही से दक्षिण की ओर दस दिन की यात्रा के बाद बन्नू है। यहाँ ३००० से अधिक श्रमण और भिक्षु निवास करते हैं। ये सब हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायी हैं।"

कुछ समय बन्नू रहकर फाइयान ने सिन्धु नदी को पार किया. और वह पंजाब मे आ पहुँचा। सिन्ध नदी के पश्चिम के प्रदेशों में वर्तमान समय में पठानो का निवास है, जो इस्लाम के अनुयायी हैं। पर फाइयान के समय में पख्तूनिस्तान तथा अफगा-निस्तान के इन प्रदेशो मे बौद्ध धर्म का प्रचार था, और वहाँ बहुत-से विहार, चैत्य तथा स्तूप विद्यमान थे, जिनमे हजारो श्रमण और भिक्षु निवास करते थे।

ह्यु एन्-त्सांग—इस चीनी यात्री ने सातवी सदी के पूर्वार्द्ध मे भारत की यात्रा की थी, और इसने भारत आने के लिए मध्य एशिया तथा अफगानिस्तान के स्थल मार्ग का प्रयोग किया था। ह्यु एन्-त्साग ने इन देशो की यात्रा करते हुए केवल बौद्ध साहित्य व धर्म का ही अध्ययन नहीं किया, अपितु इनकी सामाजिक दशा, रीति-रिवाज, विश्वास तथा ऐतिहासिक अनुश्रुति आदि का भी गम्भीरतापूर्वक अनुशीलन किया। उसने जो यात्रा-विवरण लिखा है, वह ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व का है। अफगानिस्तान के विविध प्रदेश तथा नगरो के सम्बन्ध में जो बहुत-सी बातें ह्यु एन्-त्सांग ने लिखी हैं, उनमे से कुछ को हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

बामियान का प्रदेश हिम से ढके पर्वतों से घिरा हुआ है। यहाँ बहुत सरदी पड़ती है। फूल और फल यहाँ नही होते। गेहूँ उत्पन्न होता है, और भेड, बकरी तथा घोडों के लिए यहाँ उत्तम चरागाह विद्यमान हैं। बामियान में दसों बौद्ध विहार हैं, जिनमें हजारों भिक्षु निवास करते हैं। ये हीनयान के लोकोत्तरवादी सम्प्रदाय के

अनुयायी हैं। बामियान की राजधानी के उत्तर-पूर्व में बुद्ध की एक विशाल मूर्ति है, जो पत्थर की बनी हुई है और ऊँचाई मे १५० फीट के लगभग है। यह मणि-रत्नो से जडित है। इस मूर्ति के पूर्व मे एक विहार है, जिसे इस देश के एक पुराने राजा ने बनवाया था। इसके पूर्व मे शाक्यमुनि बुद्ध की मूर्ति है, जो ऊँचाई मे १०० फीट है। बामियान की राजधानी से तीन मील पूर्व की ओर बुद्ध की १००० फीट लम्बी मूर्ति है, जिसे लेटी हुई (निर्वाण की) दशा मे बनाया गया है। यहाँ प्रति पाँच वर्ष के पश्चात् राजा द्वारा एक सभा की जाती है, जिसमे वह अपना सर्वस्व दान कर देता है।

कपिशा का राजा क्षत्रिय जाति का है, और बौद्ध धर्म का अनुयायी है। वह हर साल बुद्ध की एक चाँदी की मूर्ति बनवाता है, जो १८ फीट ऊँची होती है। उसके द्वारा एक मोक्ष-परिषद् का भी प्रतिवर्ष आयोजन किया जाता है, जिसमे निर्धनो, विधवाओ तथा विधुरो को उदारतापूर्वक दान दिया जाता है। यहाँ १०० से भी अधिक विहार है, जिनमे ६००० से भी अधिक श्रमण व भिक्षु निवास करते है। ये प्रधानतया महायान सम्प्रदाय के अनुयायी है। यहाँ के विहार और स्तूप अत्यन्त विशाल है, और अच्छी दशा मे है। दसो की सख्या मे यहाँ अन्य धर्मों के भी मन्दिर है, जिनमे एक हजार से ऊपर दिगम्बर तथा पाशुपत आदि सम्प्रदायो के अनुयायी साधु निवास करते है। कपिशा से एक मील के लगभग पूर्व मे एक विशाल सघाराम है, जो पर्वत की उपत्यका मे स्थित है। इसमे ३०० के लगभग भिक्षुओ का निवास है। ये भिक्षु हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। राजा कनिष्क ने जब उत्तर तथा पश्चिम के दूर-दूर के प्रदेशो को जीत कर अपने अधीन कर लिया, तो उनके पडोस के कतिपय कबीलो ने कनिष्क के भय से कुछ प्रमुख व्यक्तियो को उसके दरबार मे बन्धक के रूप मे भेज दिया था। कनिष्क ने इन बन्धको के प्रति उत्तम बरताव किया, और शीत तथा ग्रीष्म ऋतुओ मे इनके निवास के लिए पृथक्-पृथक् व्यवस्था की। सरदियो मे ये भारत मे निवास करते थे, और गरमियो मे कपिशा मे। कपिशा से एक मील पूर्व की ओर जो सघाराम है, उसका निर्माण इन बन्धको के निवास के लिए ही कराया गया था। इस सघाराम की दीवारो पर जो चित्र बने हुए है, वे इन बन्धको के ही हैं। बाद मे जब इन बन्धको को अपने देश वापस लौट जाने दिया गया, तो भी ये इस सघाराम को नही भूले और यहाँ पूजा के निमित्त भेट भेजते रहे।

नगरहार के निवासी प्रधानतया बौद्ध धर्म के अनुयायी है, यद्यपि वहाँ अन्य देवी-देवताओ के भी पाँच मन्दिर विद्यमान है, जिनमे सौ के लगभग साधु निवास करते है। नगरहार के पूर्व मे ३०० फीट ऊँचा एक स्तूप है, जिसे राजा अशोक ने बनवाया था। नगर के पश्चिम मे एक सघाराम है, जिसमे निवास करने वाले भिक्षुओ की सख्या बहुत कम है। नगरहार के बीच एक ऐसा स्तूप है, जिसकी केवल नीव ही इस समय शेष है। अनुश्रुति के अनुसार इसका निर्माण बुद्ध के एक दाँत के ऊपर कराया गया था। पर अब न यहाँ कोई दाँत है, और न स्तूप। पुराने स्तूप की केवल नीव ही विद्यमान है। पर इसके समीप ही एक अन्य स्तूप है, जिसकी ऊँचाई ३० फीट है। यह कब बना और इसे किसने बनवाया, इस विषय मे लोग कुछ नही जानते। वे समझते हैं कि यह

आकाश से गिरा था और किसी मनुष्य की कृति न होकर देवताओं द्वारा निर्मित है। नगरहार के दक्षिण-पश्चिम मे चार मील की दूरी पर एक संघाराम है, जिसके समीप राजा अशोक द्वारा बनवाया हुआ २०० फीट ऊँचा एक स्तूप है। पर इस संघाराम मे भी कोई रौनक नहीं है।

नगरहार के दक्षिण-पूर्व मे हड्डा नगर है। यहाँ एक स्तूप है, जिस पर सप्तरत्न जडे हैं। इसमें तथागत बुद्ध के सिर की एक अस्थि विद्यमान है, जिसकी परिधि १४ इन्च के लगभग है। इसी नगर मे एक अन्य स्तूप है, जिसमे तथागत की आँख रखी हुई है। यहाँ एक मञ्जूषा मे बुद्ध का एक वस्त्र तथा दण्ड भी सुरक्षित हैं। लोग इनकी श्रद्धापूर्वक पूजा करते हैं, और यह मानते हैं कि इनकी पूजा से अभिलषित फल की प्राप्ति की जा सकती है।

गान्धार की राजधानी पुरुषपुर है। इसकी स्वतन्त्रता व पृथक् सत्ता अब नष्ट हो चुकी है, और यह अब कपिशा के राजा के अधीन है। गान्धार के नगर और गाँव उजडी हुई दशा मे है, और वहाँ की आबादी बहुत है। इस देश मे बौद्ध धर्म का अधिक प्रचार नही है, लोग प्राय अन्य धर्मों के अनुयायी हैं। यहाँ अब भी एक हजार के लगभग सघाराम विद्यमान है, पर वे उजाड पडे हैं। उनमे झाड-झंकाड उग आये है। यही दशा स्तूपो की भी है। यहाँ सौ के लगभग देवी-देवताओ के मन्दिर है, जिनमे विधर्मी सम्प्रदायो के साधु अच्छी बडी संख्या मे निवास करते है। पुरुषपुर नगरी के उत्तर-पूर्वी भाग मे पुराने युग के भग्नावशेष विद्यमान है, जो एक ऐसे स्तूप के हैं जिसका निर्माण भगवान् बुद्ध के भिक्षापात्र के लिए किया गया था। कई सदियो तक यहाँ इस भिक्षापात्र की पूजा होती रही। पर बाद मे इसे अन्य देशो मे ले जाया गया, और अब पर्शिया मे है। नगरी के बाहर राजा कनिष्क द्वारा बनवाया हुआ एक स्तूप है, जो अपने मूल रूप मे ४०० फीट से भी अधिक ऊँचा था। आधार मे इसकी परिधि ६०० गज के लगभग थी। लोगो का विश्वास है कि इसकी पूजा से असाध्य रोगो की चिकित्सा हो सकती है। इसीलिए वे यहाँ धूप जलाते हैं, और इस पर फूल चढाते हैं। इस विशाल स्तूप के दक्षिण-पश्चिम मे सौ कदमो की दूरी पर बुद्ध की एक मूर्ति है, जो श्वेत पत्थर की बनी हुई है और ऊँचाई मे अठारह फीट है। विशाल स्तूप के पश्चिम की ओर एक सघाराम है। इसका निर्माण भी राजा कनिष्क द्वारा कराया गया था। यह अब भग्न दशा मे है, पर इसके अवशेषो से यह भलीभाँति अनुमान लगाया जा सकता है, कि पहले यह कितना शानदार तथा विशाल होगा। यहाँ निवास करनेवाले भिक्षु संख्या मे अधिक नही हैं, और वे हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। पर इस संघाराम मे बहुत-से ऐसे व्यक्ति निवास कर चुके हैं, जो शास्त्रों के अगाध विद्वान् थे और जिन्होंने अर्हत् पद भी प्राप्त कर लिया था। इसी संघाराम के एक भाग मे कभी आचार्य पार्श्व निवास करते थे, जो त्रिपिटक के प्रकाण्ड पण्डित थे और जिन्होंने त्रिविद्या (अनित्य, दुःख और अनात्म) का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया हुआ था। पार्श्व के निवास-स्थान के समीप ही एक पुरानी इमारत है, जहाँ रहते हुए आचार्य वसुबन्धु ने अभिधर्म-कोषशास्त्र की रचना की थी। वसुबन्धु के मकान से पचास कदम की दूरी एक दुमंजिली इमारत है,

जहाँ रहकर सब शास्त्रों के आचार्य मनोरथ ने बिभाषाशास्त्र लिखा था।

पुष्कलावती (पश्चिमी गान्धार की प्राचीन राजधानी) के पश्चिमी द्वार के बाहर एक देव-मन्दिर है, जिसमे प्रतिष्ठापित मूर्ति अत्यन्त भव्य तथा चमत्कारपूर्ण है। पुष्कलावती के पूर्व मे राजा अशोक द्वारा निर्मित एक स्तूप है। यही वह स्थान है, जहाँ रहते हुए आचार्य वसुमित्र ने अभिधर्म-प्रकरणपद्र-शास्त्र की रचना की थी। नगर के उत्तर मे एक पुराना सघाराम है, जहाँ कभी सयुक्ताभिधर्मशास्त्र का रचयिता आचार्य धर्मत्रात निवास करता था। इस सघाराम के समीप राजा अशोक द्वारा निर्मित एक स्तूप है, जो ऊँचाई मे कई सौ फीट है।

पुष्कलावती से ४० मील के लगभग दूर पो-लू-शा (वर्तमान पालो ढेरी) है, जहाँ हीनयान और महायान दोनो सम्प्रदायो के सघाराम विद्यमान हैं। यहाँ भी राजा अशोक द्वारा बनवाया हुआ एक स्तूप है। यही रहकर आचार्य ईश्वर ने सयुक्ताभिधर्म-हृदयशास्त्र की रचना की थी। पो-लू-शा के उत्तर-पूर्व मे दन्तलोक नामक पर्वत है, जिसके शिखर पर राजा अशोक ने एक स्तूप का निर्माण कराया था। यहाँ से २० मील के लगभग दूर वह स्थान है, जहाँ कभी ऋषि एकशृंग निवास करते थे।

पो-लू-शा से १० मील दूर एक ऊँची पहाडी है, जहाँ पत्थर काटकर भीमादेवी की मूर्ति बनायी गई है। इसके बारे मे अनेक चमत्कार कहे जाते हैं। यही कारण है, जो दूर-दूर से श्रद्धालु नर-नारी इसके दर्शन तथा पूजा के लिए आते है। भीमादेवी के मन्दिर के दक्षिण-पूर्व मे ५० मील के लगभग दूर उदखण्ड नगर है। यह व्यापार का महत्त्वपूर्ण केन्द्र है, और दूर-दूर के व्यापारी अपना पण्य लेकर यहाँ आते हैं। उदखण्ड से चार मील उत्तर-पश्चिम मे पो-लो-तु-लो (शलातुर) की स्थिति है, जहाँ संस्कृत के प्रसिद्ध वैयाकरण आचार्य पाणिनि निवास करते थे।

उद्यान (पेशावर या पुरुषपुर के उत्तर-पश्चिम मे स्वात नदी की घाटी का प्रदेश) के निवासी महायान सम्प्रदाय के अनुयायी हैं, और बुद्ध के प्रति अगाध श्रद्धा रखते हैं। यहाँ अगूर और अन्य फल प्रचुरता से होते हैं, और यहाँ की भूमि भी सुवर्ण तथा लोहे से परिपूर्ण है। यहाँ की भाषा भारत की भाषा से मिलती-जुलती है। सुवास्तु (स्वात) नदी के दोनो तटो पर १४०० के लगभग पुराने सघाराम है, जो अब उजड गए हैं। पहले कभी इनमे १८,००० से भी अधिक श्रमण और भिक्षु निवास करते थे, पर बाद मे उनकी सख्या मे निरन्तर कमी आती गई और अब वहाँ बहुत कम भिक्षु रह गए हैं। ये भिक्षु महायान के सर्वास्तिवादी, धर्मगुप्त, महीसासिक, कश्यपीय और महासाघिक सम्प्रदायो के अनुयायी है। उद्यान देश की राजधानी मुगली (वर्तमान मिंगलौर) है, जिसके पूर्व मे एक बिशाल स्तूप विद्यमान है। मुगली के दक्षिण मे ४० मील की दूरी पर महावन संघाराम है। उसके दक्षिण-पश्चिम मे मसूर संघाराम की सत्ता है, जिसके साथ १०० फीट ऊँचा एक स्तूप है। यह सम्पूर्ण प्रदेश स्तूपों और बिहारों से परिपूर्ण है। मुगली के उत्तर-पूर्व मे २०० मील की दूरी पर ता-ली-लो की घाटी है, जहाँ सौ फीट से भी ऊँची मैत्रेय बुद्ध की एक मूर्ति है। इसका निर्माण अर्हत मध्यन्तिक द्वारा कराया गया था। ता-ली-लो से पर्वत-शृंखलाओ को पार कर पो-लू-लो

(बोलोर या बालटिस्तान) का प्रदेश है। यहाँ सौ के लगभग संघाराम हैं, जिनमें हजार के लगभग भिक्षु निवास करते हैं।

ह्यु एन्-त्सांग ने अफगानिस्तान के प्रदेश में स्थित संघारामों, विहारों तथा स्तूपों आदि का जिस ढंग से वर्णन किया है, उसका यहाँ अत्यन्त संक्षेप के साथ उल्लेख किया गया है। पर इसे पढ़कर उस युग के अफगानिस्तान के धर्म तथा संस्कृति का एक स्पष्ट चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है। सातवीं सदी के पूर्वार्द्ध में यह सम्पूर्ण प्रदेश भारतीय धर्मों तथा सभ्यता का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। वहाँ हजारों संघाराम तथा स्तूप आदि विद्यमान थे, और पौराणिक हिन्दू धर्म के विविध सम्प्रदायों के बहुत-से मन्दिरों की भी वहाँ सत्ता थी। इस युग से पूर्व ही भारत में बौद्ध धर्म का ह्रास प्रारम्भ हो चुका था। उसका प्रभाव अफगानिस्तान पर भी पड़ा था, और वहाँ भी इस धर्म के ह्रास की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई थी।

(६) अफगानिस्तान में भारतीय संस्कृति के अवशेष

प्राचीन काल में गान्धार और कपिशा भारतीय सभ्यता और संस्कृति के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। ये प्राचीन जनपद इस समय अफगानिस्तान राज्य के अन्तर्गत हैं, यद्यपि गान्धार का एक भाग पाकिस्तान मे भी है। पूर्वी गान्धार की राजधानी तक्षशिला थी, और पश्चिमी गान्धार की पुष्कलावती। इन दोनों नगरियों के समीपवर्ती प्रदेश पुराने सांस्कृतिक अवशेषो से परिपूर्ण हैं। भारतीय कला की जिस शैली को 'गान्धार कला' कहा जाता है, उसका विकास प्रधानतया तक्षशिला में ही हुआ था। वहाँ के भग्नावशेषो मे धर्मराजिका स्तूप सबसे प्रसिद्ध है। यह स्तूप एक गोलाकार चबूतरे पर बना है। चबूतरे के बाह्य भाग पर नानाविध अलंकरण है और बोधिसत्वो की मूर्तियों को स्थापित करने के लिए बहुत-से आले बने हुए हैं। पुष्कलावती के भग्नावशेषों में सबसे महत्त्वपूर्ण हारिती का मन्दिर है, जो बहुत विशाल है। इसके समीप ही बालाहिसार में कुणाल का स्तूप है। यह स्तूप उस स्थान पर बनवाया गया था, जहाँ कि अशोक की आज्ञा के अनुसार कुणाल को अन्धा किया गया था। बालाहिसार के समीप पलटूढेरी नामक स्थान है। वहाँ भी अनेक बौद्ध मूर्तियाँ तथा स्तूपों आदि के अवशेष मिले हैं। इनमें बुद्ध की महाभिनिष्क्रमण की मूर्ति विशेष महत्त्व की है। एक मूर्ति में दीपंकर जातक की उस कथा को अंकित किया गया है, जिसमें सुमेध नामक युवक ने दीपंकर बुद्ध के पैरों को मैला होने से बचाने के लिए अपने बाल कीचड पर बिछा दिये थे। पुष्कलावती के समीप ही सहरी बहलोल नामक स्थान है। वहाँ भी बुद्ध, बोधिसत्वों आदि की बहुत-सी मूर्तियाँ विद्यमान हैं, और अनेक प्रस्तर-फलकों पर बुद्ध के जीवन की विविध घटनाओं को उत्कीर्ण किया गया है। बुद्ध के जन्म, तपस्या, धर्मचक्रप्रवर्तन आदि को प्रस्तर-फलकों पर उत्कीर्ण कर जातक कथाओं को भी वहाँ प्रस्तर-शिल्प द्वारा प्रस्तुत किया गया है। सहरी बहलोल के उत्तर में तख्ते बाही है। वहाँ भी अनेक विहारों, स्तूपों और चैत्यों के भग्नावशेष विद्यमान हैं, और बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों की बहुत-सी मूर्तियाँ भी वहाँ पायी गई हैं। कतिपय प्रस्तर-फलको पर जातक कथाएँ भी उत्कीर्ण हैं। पुष्कलावती

का क्षेत्र प्राचीन भारतीय सस्कृति के अवशेषो की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है।

पुष्कलावती के दक्षिण मे पेशावर (पुरुषपुर) है। उसके समीप शाहजी की ढेरी नामक स्थान हैं, जहाँ से कनिष्क के विशाल स्तूप के भग्नावशेष प्राप्त हुए है। फाइयान और ह्य,एन्-त्सांग ने इस स्तूप का जो वर्णन लिखा है, उसे इसी अध्याय मे ऊपर दिया जा चुका है। इस स्तूप के भग्नावशेषो मे सोने का पानी चढायी हुई एक ताम्र-मजूषा मिली है, जिसकी ऊँचाई ६ फीट के लगभग है। मजूषा के ढक्कन पर पद्मासन मे विराजमान बुद्ध की प्रतिमा अकित है। बुद्ध के दायी ओर इन्द्र है, और बायी ओर ब्रह्मा। दोनो ने हाथ जोडे हुए हैं। बुद्ध के मुखमण्डल पर अनुपम प्रभा है, और उन्होंने अपना दायाँ हाथ अभयमुद्रा मे उठाया हुआ है। मजूषा के ढक्कन पर अनेक अन्य चित्र भी अकित हैं, यथा उडते हुए हसो की पंक्ति और कमलपुष्प की खिली हुई पखुडियाँ। मजूषा पर एक अभिलेख भी उत्कीर्ण है, जिसमे कनिष्क और अगिपाल नामक शिल्पियों के नाम दिये गए हैं।

यद्यपि ये स्थान इस समय पाकिस्तान मे हैं, पर इनकी स्थिति पाकिस्तान के ऐसे प्रदेश मे है, जहाँ पक्थ (पठान) जाति के लोगो का निवास है, और जो वस्तुत: अफगानिस्तान का ही अंग है। पेशावर से बल्ख (बैक्ट्रिया) जाने वाले मार्ग पर जलालाबाद आता है, जो प्राचीन नगरहार का स्थानापन्न है। वहाँ बीमरान नामक स्थान पर एक पात्र मे रखी हुई एक स्वर्ण मजूषा मिली है, जो बुद्ध के 'शरीर' (धातु) के लिए प्रयुक्त हुई होगी। इसके समीप ही हड्डा है, जो प्राचीन भारतीय सास्कृतिक अवशेषो की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। इस स्थान पर भी गान्धार शैली की अनेक प्रस्तर-मूर्तियाँ मिली है। साथ ही, एक स्तूप के भग्नावशेष भी हड्डा मे विद्यमान हैं।

कपिशा या कापिशी—पुष्कलावती के पश्चिम मे और कुभा (काबुल) नदी के उत्तर की ओर कपिशी नगरी स्थित थी, जो कापिशा जनपद की राजधानी थी। वर्तमान समय का बेग्राम उस स्थान को सूचित करता है, जहाँ प्राचीन समय मे कपिशा नगरी की स्थिति थी। बेग्राम के भग्नावशेषो की खोज का कार्य फ्रेञ्च विद्वानो द्वारा किया गया है, और उसके खण्डहरो से बहुत-से हाथी दांत के फलक प्राप्त हुए है, जो कभी शृगारपेटियो या सुवर्ण-रत्न-मजूषाओ पर जडे हुए थे। हाथी दाँत के ये फलक सैकडो की सख्या मे है, और इन पर जो चित्र उत्कीर्ण है वे प्राय. भारतीय चित्रकला के है, यद्यपि कतिपय ऐसे चित्र भी है जिन्हे ग्रीक व रोमन कला के कहा जा सकता है। चित्रकला के मथुरा शैली के ऐसे चित्र भी इन फलको पर है, जिनमे अशोक वृक्ष पर वामपाद से प्रहार करती हुई स्त्रियाँ चित्रित की गई है। इनके बालो की वेणी को कई घेरो मे तथा एक-दूसरे से ऊपर उठाकर बनाया गया है, और उनसे निकलकर लटकती हुई लटाएँ भी प्रदर्शित की गई है। हाथी दाँत के फलको पर उत्कीर्ण अन्य चित्रो में शृगार की सामग्री को ले जाने वाली प्रसाधिकाओ, उडते हुए हसो, हसक्रीडाओ, पूर्ण-घट, नृत्य करने वाली स्त्रियो, बाँसुरी बजाती हुई स्त्रियो और लम्बे बालो से पानी निचोड़ती हुई स्त्रियो को प्रदर्शित किया गया है। इन स्त्रियो के शरीर मांसल बनाये

गए हैं, जिनसे कामुकता की अभिव्यक्ति होती है। ये चित्र मथुरा शैली के हैं। ग्रीक और रोमन कलाओं के प्रभाव को सूचित करने वाले चित्र प्राय: प्यालो पर अंकित हैं। बेग्राम के भग्नावशेषों मे बहुत-से प्याले पाये गए हैं। अनेक द्रव्यो को मिलाकर बनाये गये गोल-मोल टिकरे भी अच्छी बडी संख्या मे बेग्राम मे मिले हैं, जिन पर पाश्चात्य स्त्री-पुरुषो के तथा पान-गोष्ठियो के चित्र अंकित हैं। प्राचीन समय में कापिशी नगरी व्यापार का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण केन्द्र थी, और पाश्चात्य जगत् के व्यापारी भी वहाँ बडी सख्या मे आया करते थे। अत. यह सर्वथा स्वाभाविक था कि वहाँ की कला पर पाश्चात्य देशो का भी प्रभाव पडे। कापिशी (बेग्राम) के समीपवर्ती प्रदेशो मे भी भारतीय संस्कृति के बहुत-से अवशेष भग्न स्तूपो, मूर्तियो आदि के रूप मे विद्यमान हैं।

बामियान—पर अफगानिस्तान के जिस स्थान से भारतीय धर्म तथा संस्कृति के सबसे महत्त्वपूर्ण अवशेष मिले है, वह बामियान है। काबुल से २५० मील उत्तर-पश्चिम मे बामियान की उपत्यका है, जिसके एक ओर हिन्दूकुश की हिम से आच्छादित पर्वतमाला है, और दूसरी ओर शस्यश्यामल उपजाऊ घाटी है। इस उपत्यका का दृश्य अत्यन्त सुन्दर है, और प्राचीन विहारो, स्तूपों, चैत्यो तथा मन्दिरों के भग्नावशेष इसमे सर्वत्र बिखरे पडे हैं। इन अवशेषो मे सबसे महत्त्व की दो अत्यन्त विशाल बुद्ध-मूर्तियाँ है। एक मूर्ति १७५ फीट ऊँची है, और दूसरी मूर्ति की ऊँचाई १२० फीट है। इन्हे पहाडी को काट-काट कर बनाया गया है, और गान्धार शैली के अनुसार बुद्ध के परिधान के चुन्नट आदि को भली-भाँति प्रगट करने के लिए पत्थर की मूर्ति के ऊपर तृण और मिट्टी के गारे का प्लास्टर कर दिया गया है। १२० फीट ऊँची मूर्ति अधिक पुरानी है। उसे तीसरी या दूसरी सदी का माना जाता है। गारे के प्लास्टर के कारण इस मूर्ति पर बुद्ध के उत्तरीय के चुन्नट सर्वथा स्पष्ट रूप से उभर आये हैं। प्रस्तर-मूर्ति पर गारे का प्लास्टर करके उसके ऊपर नीला रग किया गया था और हाथो तथा मुखमण्डल को सोने के पत्तरो से मढ दिया गया था। फाइयान ने इस मूर्ति को इसके असली रूप मे देखा था। पर अब यह भग्न दशा मे है। दोनो हाथ टूट गए हैं, और मुख को भी तोड दिया गया है। बडी बुद्ध-मूर्ति को भी पहाडी काटकर बनाया गया है। परिधान के चुन्नटो को प्रगट करने के लिए मूर्ति पर रस्से लगाए गए थे, और उन्हे लकडी के टुकडो पर ठोंक कर ठीक स्थान पर जमाया गया था। फिर मूर्ति पर तृण तथा मिट्टी से मिलाकर बनाये गये गारे का मोटा प्लास्टर किया गया था, और उसके ऊपर चूने का गहरा प्लास्टर कर दिया गया था। इस मूर्ति को लाल रंग से रँगा गया था, और इसके भी हाथो तथा मुखमण्डल को सोने के पत्तरों से मढ़ दिया गया था। मूर्ति का दायाँ हाथ अभय मुद्रा मे ऊपर की ओर उठा हुआ था और बायाँ हाथ नीचे लटक रहा था। पर अब एक भी हाथ शेष नहीं है, और मुख को भी क्षत-विक्षत कर दिया है। बडी मूर्ति को पाँचवी सदी में निर्मित माना जाता है।

दोनो मूर्तियो के साथ-साथ दोनो ओर गुहामन्दिरो की शृंखलाएँ चली गई है। बडी मूर्ति के साथ की गुहा-शृंखला मे दस गुहा-मन्दिर हैं। पर प्रत्येक गुहामन्दिर

अपने आप मे अनेक भवनो का समुच्चय है । प्रायः प्रत्येक गुहा मे एक-एक बड़ा सभा भवन, एक-एक पूजा-कोष्ठ, एक-एक गलियारा और एक-एक अन्य भवन है, जिन सबको चट्टानें काट-काट कर बनाया गया है । पर सब गुहा-मन्दिर आकार आदि की दृष्टि से एक-समान नही है । इन गुहामन्दिरो की दीवारो के साथ-साथ जो बुद्ध व बोधिसत्त्वो की मूर्तियाँ स्थापित थी, वे अब नष्ट हो चुकी हैं, पर जिन आधारो पर वे स्थापित की गई थी वे अब भी विद्यमान हैं । गुहाओ की भित्तियों पर जो चित्र अंकित हैं, वे सासानी, भारतीय तथा मध्य एशिया की शैलियो के है । इन्हें चित्रित करने के लिए गुहाओ की प्रस्तर-भित्तियों को चूने के प्लास्टर की मोटी तह से समतल किया गया था, और फिर उस पर चित्र बनाये गये थे, जिनके लिए रंगीन मिट्टी तथा खनिज द्रव्यो के प्राकृतिक रंगो का प्रयोग किया गया था । भारतीय शैली के जो चित्र इन गुहाओ में हैं, वे प्रायः गुप्त शैली के है । भित्तियो पर चित्रित रूपावलियो से बुद्ध को विविध मुद्राओ मे प्रदर्शित किया गया है, और उनके ऊपर ऐसे चित्रफलक हैं, जिनमे पुष्प तथा रत्न बखेरती हुई अप्सराओ को अंकित किया गया है । बहुत-सी भित्तियाँ ऐसी भी है, जिन पर चित्र न होकर प्रतिमाएँ उत्कीर्ण की गई है । भित्ति-चित्रो के निर्माण के लिए केवल बुद्ध, बोधिसत्त्व या बौद्ध धर्म से सम्बन्ध रखने वाली कथाओ का ही उपयोग नही किया गया है, अपितु पशु-पक्षियो तथा अन्य देवी-देवताओ को भी चित्रो मे अंकित किया गया है । मोतियो की मालाओ को चोंचों मे दबाये हुए पक्षी, जगली सुअरों का शिकार करते हुए शिकारी एव इसी प्रकार के कितने ही चित्र बामियान के गुहा-मन्दिरों की भित्तियो आदि पर विद्यमान है । छोटी बुद्ध-मूर्ति के साथ के गुहा-मन्दिरो के एक गलियारे मे सूर्य देवता का चित्र भी है, जिसमे उन्हे रथ पर आरूढ प्रदर्शित किया गया है ।

बामियान की इन गुहाओ को पहले कबायली लोगो ने अपना निवास-स्थान बनाया हुआ था । वे उनमे भोजन बनाने और आग तापने के लिए लकडियाँ जलाया करते थे, जिनके धुएँ के कारण कालस की मोटी तहे भित्तियो तथा छतो पर जम गई थी । अब बडे परिश्रम से उन्हे साफ किया जा रहा है, जिससे उन पर बने हुए सुन्दर एव कलात्मक चित्र दिखायी पडने लगे हैं, यद्यपि सदियों को उपेक्षा के कारण वे प्रायः ध्वस्त दशा मे है । गुहामन्दिरो के गलियारो व पूजा-भवनो मे जो बहुत-सी मूर्तियाँ स्थापित थी, वे भी नष्ट हो चुकी हैं, यद्यपि किसी-किसी मूर्ति के सिर या हाथ आदि अब भी मिल जाते है । कोई-कोई मूर्ति अच्छी दशा मे भी मिली है, जिन सबको काबुल के सग्रहालय मे सुरक्षित रख दिया गया है ।

बामियान से ३ मील की दूरी पर कक्रक नामक स्थान है । वहाँ भी एक विशाल गुहामन्दिर है, जो ५० फीट ऊँचा है। इसमे भी पहले एक बुद्ध-मूर्ति स्थापित थी, जिसके भग्नावशेष अब तक भी वहाँ विद्यमान हैं । इस गुहामन्दिर तथा इसकी बुद्ध मूर्ति को सातवी सदी का माना जाता है । कला की दृष्टि से यह बुद्ध मूर्ति अत्यन्त उत्कृष्ट है । इसके मुखमण्डल पर जो शान्ति और आध्यात्मिकता परिलक्षित होती है, वह वस्तुतः अनुपम है । कक्रक के गुहामन्दिर मे भी बहुत से भित्ति चित्र विद्यमान हैं ।

बामियान के पश्चिम में ७५ मील की दूरी पर सियाह गर्द नामक गाँव है, और उसके समीप फोंदुकिस्तान की घाटी है। इस घाटी में भी प्राचीन काल के बहुत-से भग्नावशेष मिले हैं, जिनमे बोधिसत्त्वो की मृण्मूर्तियाँ अत्यन्त सजीव तथा कलात्मक हैं। उनके मुखमण्डलों पर दैवी मुसकान है। ये छठी सदी की गुप्त शैली के अनुरूप हैं। यहाँ अनेक विहारो के भग्नावशेष भी विद्यमान हैं, जिनके भित्ति-चित्र अजन्ता के चित्रों से सादृश्य रखते हैं। काबुल से १२ मील उत्तर मे खैरखाना नामक स्थान पर एक पुराने मन्दिर के खण्डहर हैं, जिनमें सूर्य की भी एक मूर्ति पायी गई है। इस मूर्ति में सूर्य देवता को दोनों पैर लटकाये हुए अपने सेवक दण्ड और पिंगल के बीच में दो घोड़ो के रथ पर बैठे हुए प्रदर्शित किया गया है। वस्तुतः, अफगानिस्तान प्राचीन भारतीय संस्कृति के अवशेषों से परिपूर्ण है, क्योकि वह पहले भारत का ही एक अंग था।

चौथा अध्याय

मध्य एशिया में भारतीय संस्कृति तथा धर्म का प्रसार

(१) मध्य एशिया का पुरातन इतिहास

चीन के पश्चिम, ईरान तथा अफगानिस्तान के उत्तर-पूर्व, तिब्बत के उत्तर और एशियाई रूस के दक्षिण मे जो विशाल भूखण्ड है, उसे ही स्थूल रूप से 'मध्य एशिया' कहा जाता है। इस क्षेत्र के निवासी प्राय तुर्क जातियो के है, जिसके कारण इसे 'तुर्किस्तान' भी कहते है। राजनीतिक दृष्टि से वर्तमान समय मे यह दो भागो मे विभक्त है, चीनी तुर्किस्तान या सिगकियाग और रूसी तुर्किस्तान। इन्हे क्रमश पूर्वी मध्य एशिया और पश्चिमी मध्य एशिया भी कह सकते हैं। रूस मे कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित हो जाने पर रूसी तुर्किस्तान मे अनेक सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिकें स्थापित हो गई है। प्राकृतिक दृष्टि से पश्चिमी मध्य एशिया के दो भाग हैं, दक्षिणापथ और उत्तरापथ। सीर नदी और अराल सागर के दक्षिण मे पश्चिमी मध्य एशिया का जो भाग है, उसे दक्षिणापथ कह सकते है। रूसी सोवियत समाजवादी जनतन्त्र सघ के अन्तर्गत तुर्कमान रिपब्लिक, ताजिक रिपब्लिक और उजबक रिपब्लिक इसी भाग मे स्थित हैं। उत्तरापथ मे खिरगिज रिपब्लिक और कज्जाक रिपब्लिक की सत्ता है। पूर्वी मध्य एशिया चीन के सघराज्य के अन्तर्गत है, और चीन मे उसे सिगकिआग कहा जाता है। मध्य एशिया के इस विशाल भूखण्ड का बडा भाग मरुभूमि के रूप मे है, यद्यपि सीता (तारीम), सीर, आमू (वक्षु) आदि अनेक नदियाँ इसमे विद्यमान हैं। थियानशान, अल्ताई, सरीकोल, क्युनलिन और कराकुरम आदि की अनेक पर्वतमालाओं की भी इस भूखण्ड मे सत्ता है।

विश्व के अन्य अनेक देशो के समान मध्य एशिया मे भी पुरातन प्रस्तर युग, मध्य प्रस्तर युग और नवीन प्रस्तर युग के बहुत-से अवशेष पाये गये हैं, जिनसे सूचित होता है कि अत्यन्त प्राचीन समय मे भी इस भू-भाग मे मनुष्यो का निवास था, और वे धीरे-धीरे सभ्यता के मार्ग पर अग्रसर होने मे तत्पर थे। प्रस्तर युग के पश्चात् मध्य एशिया मे भी ताम्र, ब्रोज तथा लौह युगो का प्रारम्भ हुआ, और वहाँ के निवासी पशु-पालन तथा कृषि के साथ-साथ धातुओ का भी प्रयोग करने लगे। मध्य एशिया के ये आदिवासी किस जाति के थे, इस प्रश्न पर ऐतिहासिको मे मतभेद है। कुछ उन्हे मुण्डा-द्रविड जाति का मानते है, और कुछ इण्डो-यूरोपियन जाति का। अनौ (अश्काबाद के समीप) और ख्वारिज्म मे ताम्र युग के जो अवशेष मिले है, वे सिन्धु घाटी और मैसोपोटामिया की प्राचीन सभ्यताओ के अवशेषो से बहुत सादृश्य रखते हैं। विशेषतया सिन्धु घाटी की प्राचीन सभ्यता से इनकी समता बहुत अधिक है। इसी को दृष्टि में

रखकार रूस के विद्वान् ताल्सताफ ने यह प्रतिपादित किया है, कि मध्य एशिया में ताम्र-युग के प्राचीन निवासी मुण्डा-द्रविड जाति के थे, जो इण्डो-यूरोपियन लोगों के प्रवेश से पूर्व इस भू-भाग मे बसी हुई थी।

बाद मे इण्डो-यूरोपियन जातियो ने मध्य एशिया में प्रवेश किया। इस जाति की दो शाखाएँ इस भू-भाग मे आबाद हुईं, शक और आर्य। शक जाति ने सीर नदी और अराल सागर के उत्तर के प्रदेशो को आबाद किया, और आर्यों ने उनके दक्षिण के प्रदेशों को। वक्षु (आमू) और रसा (सीर) नदियो के मध्यवर्ती प्रदेशों को प्राचीन काल मे सुग्ध कहते थे, और वहाँ आर्य जाति का निवास था। सीर के उत्तर के सब प्रदेश तब शक लोगो द्वारा आबाद थे। शको की भी अनेक शाखाएँ थीं, जिन्होंने सीर नदी के उत्तर-पूर्व मे इसिक-कुल झील तथा उससे भी परे के विविध प्रदेशो को आबाद किया था। सीर के दक्षिण के प्रदेशो मे इण्डो-यूरोपियन जाति की जो शाखा (आर्य) आबाद हुई, वह उस प्राचीन सभ्यता के सम्पर्क मे आयी, जिसके भग्नावशेष अनौ तथा ख्वारिज्म आदि मे उपलब्ध हुए हैं। भारत की सिन्धु-घाटी सभ्यता के समान मध्य एशिया के दक्षिणापथ की यह सभ्यता भी बहुत उन्नत थी। उसके साथ सम्पर्क का यह परिणाम हुआ, कि आर्य लोग उन्नति के मार्ग पर तेजी के साथ अग्रसर होने लगे। पर सीर नदी के उत्तर के जिन प्रदेशो में शक लोग आबाद हुए थे, उनके पुराने निवासी सभ्यता मे अधिक उन्नत नही थे। इसी कारण शक आर्यों की तुलना मे पिछड गए। दूसरी सदी ईस्वी पूर्व तक भी शक लोग फिरन्दर या घुमन्तू दशा मे रहे, जब कि आर्यों ने ग्रामो और नगरो मे स्थायी रूप से बस कर खेती, शि प, कला आदि मे समुचित उन्नति करना प्रारम्भ कर दिया था।

छठी सदी ईस्वी पूर्व मे ईरान के हखामनी वंश के राजा दारयवहु ने अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए उन सब प्रदेशो को जीत कर अपने अधीन कर लिया, जो पश्चिमी मध्य एशिया के दक्षिणापथ के अन्तर्गत थे और जिनमे आर्य जाति ने अपनी बहुत-सी बस्तियाँ कायम की हुई थी। ख्वारिज्म, बल्ख और सुग्ध के प्रदेश उसके अधीन थे। शको से भी उसके अनेक युद्ध हुए थे, पर सीर नदी के उत्तर मे निवास करने वाली इस जाति को वह अपना वशवर्ती नही बना सका था। गत वर्षों मे रूस के पुरातत्त्ववेत्ताओ ने शकों के प्राचीन भग्नावशेषो का अनुसन्धान कर इस जाति के धर्म, रीतिरिवाज तथा सभ्यता के विषय मे बहुत-सी नई बातें मालूम की हैं। शक लोग स्वलियु (सूर्य), दिव्र (द्यौ), अपिया (आप्या=पृथ्वी), पक (भग) आदि की पूजा करते थे, और अपने शवों के साथ उन अनेक वस्तुओं को रख दिया करते थे, जिनका उपयोग जीवन-काल मे मृत व्यक्ति द्वारा किया जाता था। शक जाति की बहुत-सी उपशाखाएँ थी, जो सीर नदी के उत्तर-पूर्व में दूर-दूर तक के प्रदेशो में बसी हुई थीं। इनमें एक उपशाखा वू-सुन थी, जो इसिक-कुल झील के पूर्व की ओर के प्रदेश में बसी हुई थी। शकों की ही एक अन्य उपशाखा युइशि थी, जिसका निवास ठेठ चीन के पश्चिम में लोपनौर झील के क्षेत्र मे था। वू-सुन और युइशि जातियों द्वारा आबाद प्रदेशों के बीच में तारीम नदी के उत्तर तथा श्वेत पर्वत (पाई शान) के दक्षिण के प्रदेश में तुखार

जाति निवास करती थी। यह भी शकों की ही एक उपशाखा थी। इस प्रकार चीन के पश्चिम से लगा कर अराल सागर तक के सब प्रदेशो मे विविध शक जातियो का निवास था, जो प्रायः फिरन्दर व घुमन्तू दशा मे थी।

इस विशाल शक-भूमि के उत्तर-पूर्व मे हूण जातियाँ बसी हुई थी। वर्तमान समय के मंगोलिया, मञ्चूरिया और उनके उत्तर के साइबीरिया के प्रदेश हूण लोगों की भूमि थे, जिस मे वे अपने पशुओ को चराया करते थे। हूण लोग बहुत-से कबीलों मे संगठित थे, जिन्हे ओई कहा जाता था। समय-समय पर ये अपने प्रदेश के दक्षिण मे स्थित चीन देश पर आक्रमण करते रहते थे, जिनसे अपना बचाव करने के प्रयोजन से तीसरी सदी ई० पू० मे चीन की विशाल दीवार का निर्माण कराया गया था।

शको की विविध शाखाओ तथा हूणो के राजनीतिक इतिहास के सम्बन्ध मे अनेक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक बातें शोध द्वारा इस समय ज्ञात हो चुकी हैं। पर उनका इस ग्रन्थ के लिए विशेष उपयोग नहीं है। मध्य एशिया के विविध प्रदेशो मे भारतीय संस्कृति तथा धर्म का प्रवेश कब और किस प्रकार हुआ, यही हमे इस ग्रन्थ मे प्रदर्शित करना है। इसके लिए यह जान लेना ही पर्याप्त होगा, कि पश्चिमी मध्य एशिया का दक्षिणी भाग जिसे इन्डो-यूरोपियन जाति की आर्य शाखा ने आबाद किया था, पहले ईरान के हखामनी साम्राज्य के अधीन हुआ, और बाद में जब ईरान की शक्ति क्षीण हो गई, तो सिकन्दर के नेतृत्व मे यवन लोगो ने उसे अपने आधिपत्य मे ले लिया। पर सीर नदी के उत्तर के पश्चिमी मध्य एशिया के जो प्रदेश इन्डो-यूरोपियन जाति की शक शाखा द्वारा आबाद थे, ईरानी तथा यवन आक्रान्ता उनकी स्वतन्त्र सत्ता का अन्त नही कर सके। पर इन शक जातियो को एक अन्य सकट का सामना करना पडा। तीसरी सदी ईस्वी पूर्व मे जब चीन के सम्राटो ने हूणो से अपने देश की रक्षा करने के प्रयोजन से एक विशाल दीवार बनवा ली, तो इस घुमन्तू जाति के लिए चीन पर आक्रमण करते रहना सम्भव नही रहा। अब हूणों के लिए केवल यह मार्ग रह गया, कि वे पश्चिम-दक्षिण की ओर उन प्रदेशो को आक्रान्त करें, जहाँ युइशि, वू-सुन तथा तुखार आदि शक जातियो का निवास था। १७६ ई० पू० के लगभग उन्होने उस प्रदेश पर आक्रमण किया, जहाँ युइशि लोग रहते थे। युइशि हूणो के सम्मुख नही टिक सके। उनसे हारकर वे तारीम नदी के उत्तर तथा श्वेत पर्वत के दक्षिण के उस प्रदेश मे प्रविष्ट हो गए, जहाँ तुखार लोग रहते थे। तुखारो को युइशियो ने अपने अधीन कर लिया। पर हूणों ने वहाँ भी युइशियो को चैन से नही रहने दिया। १६५ ई० पू० मे उन्होने इस प्रदेश पर भी चढ़ाई की। हूणो के सम्मुख अपने को असहाय पाकर युइशियो तथा तुखारो ने पश्चिम-दक्षिण की ओर प्रस्थान कर दिया, और थियानशान की पर्वतमाला को लांघकर सीर नदी की घाटी के उस प्रदेश मे जा पहुँचे, जहाँ कि शक जाति की प्रधान शाखा का निवास था। मार्ग मे उन्होने वू-सुन लोगो से भी अनेक युद्ध किए, और उनको भी बुरी तरह से पददलित किया। तुखारो तथा युइशियो द्वारा परास्त होकर शक लोग सुग्ध तथा वाह्लीक की ओर अग्रसर हुए। पर तुखार-युइशियो ने वहाँ भी उनका पीछा नही छोड़ा। उन दिनो वाह्लीक (बैक्ट्रिया-बल्ख) मे यवनो का शासन था। युइशियों

द्वारा इस यवन (ग्रीक) राज्य का अन्त किया गया, और वे उस प्रदेश में फैल गए जिसे वर्तमान समय में बदख्शाँ कहते हैं। तुखार-युइशियो के कारण यह अब तुखार देश कहाने लगा।

जिन हूणो के भय से चीन मे विशाल दीवार का निर्माण कराया गया था, वे अब चीन के पश्चिम के उन प्रदेशों में आ बसे थे, जहाँ पहले युइशियो का निवास था। अब वे उत्तर की ओर से तो चीन पर आक्रमण नहीं कर सकते थे, पर समय-समय पर वे चीन पर पश्चिम की ओर से हमले करते रहते थे, जिनका सामना करना चीन के लिए बहुत सुगम नही था। इस दशा मे चीन के सम्राट् वू-ती (१४२-८५ ई० पू०) ने अपने सेनापति चाङ्-कियन को इस प्रयोजन से युइशियो के पास अपना दूत बना कर भेजा, ताकि हूणो की शक्ति को नष्ट करने के कार्य मे वह उनका सहयोग प्राप्त कर सके। हूण युइशियो के पुराने शत्रु थे, और उन्होंने युइशियो को अपने मूल अभिजन का परित्याग करने के लिए विवश किया था। अत. वू-ती को आशा थी, कि हूणों के विरुद्ध युइशियो का सहयोग वह प्राप्त कर सकेगा। उसकी योजना यह थी, कि चीन हूणों पर पूर्व की ओर से आक्रमण करे, और युइशि पश्चिम से। जब हूण परास्त हो जाएँ, तो युइशि फिर अपने पुराने अभिजन मे आ बसें। १३८ ई० पू० मे चाङ्-कियन ने अपनी यात्रा प्रारम्भ की, पर मार्ग मे उसे हूणों ने पकड लिया और वह दस साल तक उनकी कैद मे रहा। कैद से छूटकर वह सीर नदी के दक्षिण मे स्थित खोकन्द पहुँचा, और वहाँ से समरकन्द होता हुआ बल्ख (बैक्ट्रिया) आ गया, जो उस समय युइशियों के शासन मे था। चाङ्-कियन ने युइशियो को हूणो के विरुद्ध संघर्ष में चीन का सहयोग प्रदान करने तथा अपने मूल अभिजन को वापस लौट चलने को बहुत प्रेरित किया, पर वे इसके लिए उद्यत नही हुए। बल्ख का प्रदेश सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से अत्यन्त उन्नत था। वहाँ के वैभवपूर्ण जीवन का परित्याग कर घुमन्तू जीवन बिताने और हूणो से उलझने का विचार उन्हे पसन्द नहीं आया। युइशियो से किसी भी प्रकार के सहयोग से निराश होकर सम्राट् वू-ती के चाङ्-कियन को वू-सुनो के पास भेजा (११५ ई० पू०), उस समय जिनका निवास इसिक-कुल झील के समीपवर्ती प्रदेशो में था। हूणो के विरुद्ध वू-सुन लोगो की सहायता प्राप्त करने के अतिरिक्त चाङ्-कियन को यह कार्य भी सुपुर्द किया गया, कि वह पश्चिम के सब देशो के सम्बन्ध मे समुचित जानकारी प्राप्त करे, ताकि चीन उनके साथ अपने व्यापार को बढ़ा सके। इसीलिए उसने अपने अनेक दूत पश्चिम के विविध राज्यो मे भेजे, और उन्होंने वहाँ जाकर जो जानकारी प्राप्त की, उसकी रिपोर्ट चीन के सम्राट् को दे दी गई। यह रिपोर्ट अपने मूल रूप मे प्राप्य नहीं है। पर बाद के दो चीनी लेखकों ने अपनी पुस्तकों में इस रिपोर्ट का प्रयोग किया था, जिनसे इस युग के मध्य एशिया के देशो के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। यद्यपि सम्राट् वू-ती हूणों के विरुद्ध युइशि तथा वू-सुन लोगों की सहायता प्राप्त नहीं कर सका था, पर उसने अपनी शक्ति के भरोसे तीन बार हूणों पर आक्रमण किये (१२६ ई० पू०, ११६ ई० पू० और ९९ ई० पू० में) जिनके परिणामस्वरूप हूणों की शक्ति को जबर्दस्त धक्का लगा। उन्हें चीन की पश्चिमी

सीमा से उत्तर की ओर खदेड दिया गया, जिसके कारण चीन की पश्चिमी सीमा से खोकन्द (सीर नदी के दक्षिण मे) और ताशकन्द तक जाने वाला मार्ग चीन के व्यापार के लिए सर्वथा सुरक्षित हो गया। हूणो की पराजय का एक परिणाम यह भी हुआ, कि श्वेत पर्वत (पाई शान) और तारीम नदी के मध्यवर्ती प्रदेशो मे निवास करने वाली विविध जातियाँ, जो पहले हूणो के प्रमुत्व को स्वीकार करती थी, अब चीन के सम्राट् को अपना अधिपति मानने लगी।

सम्राट् वू-ती ने हूणो को पराजित कर उत्तर की ओर खदेड दिया था, और पश्चिम मे खोकन्द तथा ताशकन्द तक के सब प्रदेशो पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। पर युइशियो को वह अपना वशवर्ती नही बना सका। वक्षु (आमू) नदी के दक्षिण तथा समीपवर्ती प्रदेशो मे वे स्वतन्त्रतापूर्वक शासन करते रहे। धीरे-धीरे युइशियो ने दक्षिण-पूर्व के उन प्रदेशो मे भी प्रवेश कर लिया, जहाँ पहले कपिशा और गान्धार के राज्य थे और अब जहाँ शको तथा पल्हवो (पार्थिवो) ने अपने कतिपय राज्य स्थापित किए हुए थे। उन्होने इन राज्यो को जीत लिया। युइशियो के इस उत्कर्ष का सूत्रपात कुजुल कफ्स कदफिसस नाम के राजा द्वारा हुआ, जो कुशाण वश का था। कुजुल का उत्तराधिकारी विम कथफिस था, जिसने पूर्वी पजाब तथा मथुरा तक अपने राज्य का विस्तार किया था। इस कुशाण राजा का शासन-काल ३५ से ६५ ईस्वी तक माना जाता है, यद्यपि इस विषय मे ऐतिहासिको मे मतभेद है। विम के बाद कनिष्क विशाल युइशि या कुशाण साम्राज्य का स्वामी बना। चारो दिशाओं मे उसने विजययात्राएँ की, और अपने साम्राज्य का बहुत विस्तार किया। प्राय: सम्पूर्ण उत्तरी भारत उसकी अधीनता मे था, और उत्तर-पश्चिम मे वक्षु (आमू) तथा रसा (सीर) नदियो के मध्यवर्ती प्रदेश तक उसका शासन स्वीकार किया जाता था। पर कनिष्क इससे सन्तुष्ट नही था। वह चाहता था, कि युइशियो के प्राचीन अभिजन (लोपनौर झील से थियानशान पर्वतमाला तक के प्रदेश) पर भी अपने आधिपत्य को स्थापित करे। पर उस समय यह देश चीन के प्रभुत्व मे था। जिन दिनो कुशाण राजा विम कथफिस पूर्वी पजाब तथा मथुरा के प्रदेशो को अपनी अधीनता मे ले आने के लिए प्रयत्नशील था, चीन के सम्राट् मध्य एशिया पर अपना आधिपत्य स्थापित करने मे तत्पर थे। तकला मकान की मरुभूमि के दक्षिण मे उन दिनो तेरह राज्य थे, जिनमे खोतन सर्व-प्रधान था। चीनी सम्राट् हो-ती ने अपने सेनापति पान-छाओ को इस उद्देश्य से खोतन भेजा, ताकि वहाँ के राजा से सहयोग प्राप्त कर इन सब राज्यो को चीन का वशवर्ती बना लिया जाए (७३ ईस्वी)। पान-छाओ को अपने उद्देश्य की पूर्ति मे अनुपम सफलता प्राप्त हुई, और उसने न केवल दक्षिणी मध्य एशिया के सब राज्यो को चीन की अधीनता स्वीकृत करने के लिए विवश किया, अपितु सुग्ध देश की विजय कर चीनी साम्राज्य की पश्चिमी सीमा को कैस्पियन सागर तक पहुँचा दिया। तारीम नदी की घाटी मे जो अनेक राज्य थे, पान-छाओ ने उनसे भी चीन का वशवर्ती होकर रहना स्वीकार कराया। इन दशा मे कनिष्क के लिए यह सुगम नही था, कि वह अपने प्राचीन जातीय अभिजन को फिर से अधिगत कर सके। साथ ही, इस बात की भी

आशंका थी, कि पान-छाओ कहीं उन प्रदेशों पर भी आक्रमण न कर दे, जो कि कनिष्क की अधीनता में थे। अतः कनिष्क ने यही उचित समझा, कि चीन के सम्राट् के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित कर लिया जाए। उसने अपना दूत यह संदेश लेकर पान-छाओ के पास भेजा, कि एक चीनी राजकुमारी का उसके साथ विवाह कर दिया जाए। उस युग में राजाओं में मैत्री स्थापित करने के लिए विवाह-सम्बन्ध का बहुधा आश्रय लिया जाता था। पर पान-छाओ ने कनिष्क के दूत को जेल मे डाल दिया। इस पर कनिष्क ने एक बडी सेना के साथ उत्तर-पश्चिम की ओर प्रस्थान किया, पर पान-छाओ ने उसे पामीर से पूर्व की ओर अग्रसर नही होने लिया। ईस्वी सन् की पहली सदी के समाप्त होने से पूर्व ही पान-छाओ की मृत्यु हो गई थी, और उसका पुत्र पान-छांग चीन की पश्चिमी सेना का सेनापति बन गया था। अब कनिष्क ने एक बार फिर चीन के विरुद्ध अपनी सैन्यशक्ति को आजमाया, और पान-छांग को परास्त कर न केवल अपने पुराने जातीय अभिजन को फिर से अपने अधिकार मे ले लिया, अपितु मध्य एशिया के उन सब प्रदेशो पर भी अपना प्रभुत्त्व स्थापित कर लिया जो पहले चीन के वशवर्ती थे। चीन कही फिर उसके विरुद्ध सैन्यशक्ति का प्रयोग न करे, इसके लिए वह कुछ चीनी राजकुमारो को बन्धक या जामिन के रूप में अपने साथ भारत ले आया। क्योकि उत्तरी भारत और मध्य एशिया इस समय एक ही राजा के शासन मे थे, अत इनमें परस्पर सम्पर्क मे बहुत वृद्धि हुई, और भारतीय संस्कृति तथा धर्म के मध्य एशिया के विविध प्रदेशों मे प्रसार मे भी इससे बहुत सहायता मिली।

कनिष्क के पश्चात् (१०० ईस्वी) आधी सदी के लगभग तक विशाल कुशाण साम्राज्य प्राय. अक्षुण्ण रहा। पर कुशाण वासुदेव (१५२-१८६ ईस्वी) के समय से इस साम्राज्य मे शिथिलता आने लग गई, और इसकी अखण्डता कायम नही रह सकी। भारत मे गंगा-यमुना के क्षेत्र से भारशिव-नाग वंश के राजाओं ने कुशाणों के शासन का अन्त किया, और राजस्थान मे मालव गण और हरयाणा मे यौधेय तथा कुणिन्द गणों ने स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली। तीसरी सदी में पश्चिमी पंजाब भी कुशाणो के हाथ से निकल गया। इसी समय ईरान मे सासानी वंश के राजाओं ने अपनी शक्ति बढानी शुरू की, और मध्य एशिया के बाह्लीक (बल्ख) तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों को कुशाणो से जीत लिया। पर अफगानिस्तान, पश्चिमी गान्धार तथा सुग्ध देश अब भी कुशाणो के शासन मे रहे। जिस प्रकार विविध राजनीतिक शक्तियो द्वारा भारत से कुशाणो का अन्त किया गया था, वैसे ही मध्य एशिया मे उनका जो विशाल साम्राज्य था, वह वहाँ की स्थानीय शक्तियो के सम्मुख अपने को कायम नहीं रख सका। मध्य एशिया के प्रदेशों से कुशाणों के शासन का अन्त करने में प्रधान कर्तृत्व ज्वान-ज्वान या जू-जुन लोगों का था। ये जाति से शक न होकर हूण थे। कुशाणों की निर्बलता से लाभ उठाकर इन्होने मध्य एशिया में दूर-दूर तक आक्रमण किए, और सुग्ध देश को विजय कर बल्ख मे भी प्रवेश कर लिया। यह देश उस समय (चौथी सदी का पूर्वार्ध) ईरान के सासानी सम्राट् के अधीन था। जू-जुन आक्रान्ताओं से उसके अनेक युद्ध हुए। पर अन्त मे ईरानी सम्राट् तथा जू-जुन राजा में सन्धि हो गई (३५८ ईस्वी), जिसके

अनुसार जू-ज़ुन राजा ने ईरान के सामन्त की स्थिति मे बल्ख में शासन करना स्वीकार कर लिया। इस प्रकार मध्य एशिया से कुशाणो का शासन पूर्ण रूप से उठ गया। पर अफगानिस्तान और पश्चिमी गान्धार बाद मे भी उनके हाथों मे रहे।

कुशाणो की शक्ति के क्षीण हो जाने पर मध्य एशिया के विविध प्रदेशों पर किन विविध जातियों द्वारा अपने-अपने शासन स्थापित किए, यह अभी अज्ञात है। पर पाँचवी सदी के प्रारम्भ काल मे मध्य एशिया के प्राय सभी प्रदेश एक शक्तिशाली जाति द्वारा आक्रान्त किए जा रहे थे, जो इतिहास मे श्वेत हूण या हेफताल के नाम से प्रसिद्ध हैं। कुछ ऐतिहासिको का मत है, कि हेफताल हूण न होकर शक जाति के थे, पर हूणो के सम्पर्क मे रहने के कारण उनके रहन-सहन तथा सस्कृति पर हूणो का बहुत प्रभाव हो गया था। इतिहास के ग्रन्थो मे इन्हे प्राय: श्वेत हूण के नाम से ही लिखा जाता है, अत: हम भी इसी सज्ञा का प्रयोग करेंगे। थियानशान पर्वतमाला के उत्तर से होते हुए श्वेत हूण पश्चिमी मध्य एशिया पहुँच गए, और फिर ताशकन्द से दक्षिण की ओर मुड़कर उन्होंने सीर नदी को पार किया, और सुग्ध तथा बल्ख पर कब्जा कर लिया। इस काल मे बल्ख ईरान की अधीनता स्वीकार करता था। अत' ईरान के सासानी सम्राटो के लिए हूणो की बाढ को रोकने का प्रयत्न करना आवश्यक हो गया। एक सदी से भी अधिक समय तक सासानी सम्राट् हूणो के विरुद्ध सघर्ष मे तत्पर रहे। दो सासानी सम्राट इन श्वेत हूणो से युद्ध करते हुए पञ्चत्त्व को भी प्राप्त हुए, होरमुज्द ४५४ ईस्वी मे और फिरोज ४८४ ईस्वी मे। अब श्वेत हूण मध्य एशिया की प्रधान राजनीतिक शक्ति बन गए थे। सासानियो को परास्त कर उन्होंने अफगानिस्तान पर आक्रमण किया, और वहाँ से पंजाब होते हुए वे भारत के मध्यदेश तक चले आए। गुप्त वशी सम्राट् स्कन्दगुप्त (४५५-४६७ ईस्वी) ने हूणों का सामना करने मे अद्भुत पराक्रम प्रदर्शित किया, और उनसे अपने साम्राज्य की रक्षा की। पर इस समय मध्य एशिया पर श्वेत हूणो का प्रभुत्व भली-भाति स्थापित हो गया था, और उनकी राजधानी सम्भवत: बोखारा के समीप एक ऐसे स्थान पर थी, जहाँ एक पुराने नगर के बहुत-से भग्नावशेष अब भी विद्यमान हैं। रूसी विद्वानो ने वहाँ जो खुदाई गत वर्षों मे की है, उसमे एक बडा भवन मिला है, जिसकी दीवारो पर मनुष्यों और पशुओ के बहुत-से चित्र अंकित है। श्वेत हूणो के केवल दो राजाओं के नाम भारत मे उपलब्ध हुए उनके सिक्को तथा अभिलेखो द्वारा ज्ञात हुए हैं। ये राजा तोरमाण और मिहिरकुल थे।

भारत और ईरान की उन्नत सभ्यताओ के सम्पर्क मे आकर श्वेत हूण भी अच्छे सभ्य व सुसस्कृत हो गए थे, और अपने पुराने घुमन्तू जीवन का परित्याग कर उन्होने नगरों मे निवास प्रारम्भ कर दिया था। पर अपने पूर्ववर्ती युइशियों, शको आदि के समान वे भी देर तक मध्य एशिया के क्षेत्र मे शान्तिपूर्वक निवास कर सकने मे असमर्थ रहे। चीन के उत्तर-पश्चिम मे निवास करने वाली हूण जाति का एक कबीला तुर्क था, जिसका पुराना नाम असेना था। इस कबीले के लोग नोकीली टोपी पहना करते थे, जिनके कारण वे दुर-पो कहाने लगे। दुर-पो ही आगे बिगड़ कर तिर्कू

या तुर्क हो गया। तुर-न्यो या तुर्क कबीले में एक वीर पुरुष हुआ, जिसका नाम बूमिन था। मध्य एशिया से कुशाणों की शक्ति का अन्त करने मे प्रधान कर्तृत्व ज्वान-ज्वान लोगों का था, यह हम ऊपर लिख चुके हैं। पर समयान्तर में जब इनकी शक्ति भी क्षीण हो गई, तो तुर्कों ने बूमिन के नेतृत्व में अपने उत्कर्ष का प्रारम्भ किया और ज्वान-ज्वान के राजा के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। उसे परास्त कर बूमिन ने अपने को खागान, कगान या खान घोषित कर दिया। तुर्क लोग राजा के लिए इसी शब्द का प्रयोग किया करते थे। ५५२ ईस्वी में जब बूमिन की मृत्यु हुई, तब तुर्क कबीला बहुत शक्तिशाली हो चुका था। तुर्कों ने अब शकों, युइशियों तथा श्वेत हूणों के मार्ग का अनुसरण कर पश्चिम की ओर अपनी शक्ति का विस्तार प्रारम्भ किया और कुछ ही समय में तकला मकान मरुभूमि के उत्तर तथा पश्चिम के मध्य एशिया के सब प्रदेशों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया, और इनके साम्राज्य की पश्चिमी सीमा काला सागर (ब्लैक सी) तक पहुँच गई।

मध्य एशिया के तुर्क राजाओ (खानों) मे तोबा खान का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसका शासन काल ५६६ से ५८० ईस्वी तक था। उसकी प्रसिद्धि का मुख्य कारण यह है, कि उसने बौद्धधर्म को स्वीकार कर लिया था, और उसके समय मे तुर्कों मे बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए बहुत कार्य हुआ था। कहते हैं, कि एक युद्ध मे बहुत-से बन्दी तोबा खान के हाथ लगे थे, जिनमें एक बौद्ध भिक्षु भी था। खान को उपदेश देते हुए उसने कहा, समृद्धि धर्म द्वारा ही होती है। स्यान-पी राजवंश की समृद्धि का कारण धर्म ही है। तोबा खान को बौद्ध धर्म बहुत अच्छा लगा, और उसने एक विहार भी बनवाया। स्यान-पी हूणों की एक शाखा का वंश था, जिसके नेतृत्व मे यह जाति इसिक-कुल झील के समीपवर्ती प्रदेशो से होती हुई अराल सागर, काला सागर तथा डैन्यूब नदी तक जा पहुँची थी। तोबा खान की बौद्ध धर्म के प्रति इतनी अधिक रुचि हो गई थी, कि उसने बौद्ध ग्रन्थो को लाने के लिए अपने दूत होनान भेजे थे। उसके द्वारा अनेक स्तूपो का भी निर्माण कराया गया था। इस प्रकार तुर्क लोगो मे भी बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ, और मध्य एशिया के सुविस्तृत प्रदेशो पर शासन करने वाली यह नई जाति भी उसी प्रकार भारतीय धर्म तथा संस्कृति के प्रभाव में आ गई, जैसे कि उससे पहले की यूइशि, शक आदि जातियाँ आयी थी।

तोबा खान के पश्चात् मध्य एशिया का विशाल तुर्क साम्राज्य दो भागों मे विभक्त हो गया। तोबा खान के पुत्र शेतू शेबोलियो (५८२-५८७ ईस्वी) ने साम्राज्य के पूर्वी प्रदेशो पर अपना शासन स्थापित किया, और भतीजे दाशोक्यान ने पश्चिमी प्रदेशो मे। इसी के वंशज तुन-शेखू खान के शासन काल मे चीनी यात्री ह्यु एन्-त्सांग पश्चिमी तुर्क साम्राज्य भी गया था, और वहाँ उसने तुर्क राजा से भेंट भी की थी। ह्यु एन्-त्सांग के यात्रा विवरण से ज्ञात होता है, कि तुन-शेखू खान अग्निपूजक था। ईरान के जरथुस्थी धर्म के सम्पर्क मे आने के कारण पश्चिमी तुर्क यदि अग्नि की पूजा करने लगे हों, तो यह स्वाभाविक ही है। पर पूर्वी तुर्कों ने बौद्ध धर्म अपना लिया था, यह अभी ऊपर लिखा जा चुका है। मध्य एशिया के पूर्वी प्रदेशों मे बौद्ध धर्म सदियों से

प्रचलित था, और तुर्कों से पूर्व जो लोग वहाँ निवास करते थे, वे इसी धर्म के अनुयायी थे। पर मध्य एशिया के पश्चिमी क्षेत्रो का सम्पर्क ईरानियो और यूरोपियन लोगो के साथ भी था। उन दिनो ईरान मे पारसी (जरदुस्थी) धर्म का प्रचार था, और यूरोप मे ईसाई धर्म का। पश्चिमी तुर्क इन धर्मों के सम्पर्क मे भी आये। इसी का यह परिणाम था, कि पश्चिमी तुर्क साम्राज्य का राजा तुन-शेखू खान अग्नि की भी पूजा करने लगा था। वस्तुत, मध्य एशिया के पश्चिमी प्रदेशो मे बौद्ध धर्म के साथ-साथ पारसी तथा ईसाई धर्म भी पनपने लग गये थे।

छठी सदी मे अरब मे एक महापुरुष का जन्म हुआ, जिसका नाम मुहम्मद था। उसके द्वारा एक नये धर्म का प्रारम्भ किया गया, जिसे इस्लाम कहते हैं। यह मुहम्मद केवल धर्म-प्रवर्तक ही नही थे। अरब के अनेक छोटे-छोटे राज्यो का अन्त कर उन्होने एक शक्तिशाली अरब राष्ट्र का भी निर्माण किया था। उसके उत्तराधिकारियो ने अरब की इस शक्ति का उपयोग साम्राज्य के विस्तार के लिये किया, और उन्होने (खलीफाओं ने) चारो दिशाओ मे हमले शुरू कर दिये। कुछ ही समय मे सीरिया, मिस्र, उत्तरी अफ्रीका, स्पेन और ईरान अरबो के हाथ मे चले गये। ७१२ ईस्वी मे मुहम्मद बिन कासिम के नेतृत्व मे एक अरब सेना ने सिन्ध पर भी आक्रमण किया था, और अरबो ने ईरान को भी जीत कर अपने अधीन कर लिया था। वहाँ से वे उत्तर-पूर्व की ओर मध्य एशिया के क्षेत्र में भी अग्रसर हुए। आठवी सदी मे मध्य एशिया की जो राजनीतिक दशा थी, उस पर ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है। उसका बडा भाग उन दिनो तुर्कों के शासन मे था, जिनके विविध सरदारों या खानो ने बौद्ध धर्म को अपना लिया था, यद्यपि कुछ तुर्क पारसी धर्म को भी आदर की दृष्टि से देखते थे और उसकी भी अनेक पूजा-विधियो का अनुसरण किया करते थे। तकला मकान मरुस्थल के दक्षिण तथा उत्तर दोनो ओर उस समय ऐसे नगरो तथा बस्तियो की सत्ता थी, जिनमे भारतीय भी अच्छी बडी सख्या मे निवास करते थे। शक, युइशि, हूण, तुर्क आदि जिन अनेक जातियो ने मध्य एशिया को आक्रान्त कर अपने अधीन किया, राजनीतिक दृष्टि से विजेता होती हुई भी धर्म तथा सस्कृति की दृष्टि से वे उन लोगो द्वारा परास्त कर दी गईं, जिन्हे जीत कर उन्होने अपने अधीन किया था। इन सबने भी बौद्ध धर्म, भारतीय लिपि तथा भाषा आदि को अपना लिया, और वहाँ के पुराने निवासियो मे वे मिल-जुल गये। पर जो मुसलिम अरब आठवी सदी मे दक्षिण-पश्चिम की ओर से मध्य एशिया पर आक्रमण करने को प्रवृत्त हुए, उनमे अपने धर्म के लिए अनुपम उत्साह था, और वे ससार से कुफ्र को नष्ट कर मुहम्मद के धर्म का सर्वत्र प्रसार करने के लिए कटिबद्ध थे। इसी का यह परिणाम हुआ, कि उन्होने मध्य एशिया को न केवल युद्ध के क्षेत्र मे ही परास्त किया, अपितु वहाँ के धर्म तथा सस्कृति को पराभूत कर वहाँ के निवासियो को मुसलमान बनाने मे भी सफलता प्राप्त की। मध्य एशिया के तत्कालीन तुर्क शासक वीरता मे अरबो से किसी प्रकार कम नही थे। पर उनमे एकता का अभाव था। तुर्कों के बहुत-से छोटे-छोटे राज्य उस समय विद्यमान थे, जिनके कगान या खान बहुधा आपस मे लडते रहते थे। किसी शक्तिशाली खान की अधीनता

स्वीकार कर लेने की दशा में भी उनमें वह ऐक्य व संगठन स्थापित नहीं हो पाता था, जिससे कि वे एक समर्थ राजनीतिक शक्ति का रूप प्राप्त कर सकते। इसी का यह परिणाम हुआ कि तुर्क लोग अरबों के सम्मुख नही टिक सके।

सातवी सदी के उत्तरार्ध में अरबो ने ईरान के उत्तर-पूर्व में आगे बढ़कर हीरात और बल्ख को जीत लिया था। फिर वक्षु (आमू) नदी को पार कर बोखारा और बैकन्द पर उन्होंने हमला किया (१०० ई० प०)। उन दिनो बैकन्द व्यापार का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, और चीन के रेशम आदि के विक्रय से वहाँ के व्यापारियो ने अपार सम्पत्ति सञ्चित कर ली थी। अरब सेनापति कुतैब ने इस नगरी को बुरी तरह लूटा। बैकन्द तथा बोखारा की विजय कर कुतैब सीर नदी की ओर आगे बढ़ा, और पुराने सुग्ध देश को अरब साम्राज्य मे सम्मिलित करने मे सफल हुआ। मध्य एशिया के तुर्क शासक किस प्रकार अरबो से परास्त होकर न केवल उनकी अधीनता अपितु उनके धर्म को भी स्वीकृत करने को विवश हुए, यहाँ इसका वृत्तान्त लिख सकना सम्भव नहीं है। आठवी सदी के पूर्वार्ध तक प्राय सम्पूर्ण पश्चिमी मध्य एशिया अरबो द्वारा हस्तगत कर लिया था, और उन्होने पूर्वी मध्य एशिया पर भी आक्रमण प्रारम्भ कर दिए थे। मध्य एशिया के विविध नगरो को आक्रान्त करते हुए अरब लोग न वहाँ के धर्ममन्दिरो की परवाह करते थे और न स्त्रियो तथा बच्चो की। बौद्ध विहारो, चैत्यो तथा अन्य धर्मस्थानो को लूटने तथा उनका ध्वस करने मे उन्होने जरा भी संकोच नही किया। स्त्रियो और बच्चो को उन्होने गुलाम बनाया, और विधर्मी श्रमणों तथा पुरोहितो को मौत के घाट उतारा। बीसवी सदी के प्रारम्भ काल मे ल कॉक नामक जर्मन विद्वान् ने मध्य एशिया की मरुभूमि के उजडे हुए नगरो की खुदाई कराते हुए एक घर के अन्दर बहुत-से बौद्ध तथा नेस्तारी भिक्षुओ को तलवार द्वारा कतल किया हुआ पाया था। इसमे सन्देह नही, कि मुस्लिम अरबो के आक्रमणो द्वारा मध्य एशिया मे एक नई सस्कृति तथा धर्म का प्रवेश हुआ, और न केवल वहाँ के तुर्क शासक अपितु अन्य जातियो के लोग भी इस्लाम को स्वीकार करने के लिए विवश किये गये।

पर अरब लोग मध्य एशिया को स्थायी रूप से अपने अधीन नही रख सके। तुर्कों ने इस्लाम अवश्य स्वीकार कर लिया था, पर वे राजनीतिक दृष्टि से अरबो की अधीनता मे रहने को उद्यत नही थे। मुसलमान बन जाने पर अनेक तुर्क सरदारों ने अरबों द्वारा सेना तथा शासन में उच्च पद प्राप्त कर लिये थे, और मध्य एशिया के जो प्रदेश अरब खलीफाओ के साम्राज्य मे थे, उनके शासन मे इन मुसलिम तुर्कों को महत्त्वपूर्ण स्थिति प्राप्त थी। बाद मे जब आपसी झगडों के कारण अरब साम्राज्य मे शिथिलता आने लगी, तो मध्य एशिया के तुर्क सरदार या खान (जो अब इस्लाम को अपना चुके थे) स्वतन्त्र हो गये। सीर और तारीम नदियों के उत्तर के प्रदेश अरबों द्वारा जीते नही जा सके थे। इसी प्रकार तकला मकान मरुभूमि के दक्षिण में जो बहुत-से राज्य थे, वे भी अरबो के अधीन नही हुए थे। पर राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र रहते हुए भी वे इस्लाम से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। सीर नदी के उत्तर मे तुर्कों के जिन कबीलों ने अपने राज्य कायम किये हुए थे, दसवीं सदी के मध्य भाग

तक उन्होंने मुसलिम धर्म को स्वीकार कर लिया था। पामीर और कराकुरम पर्वत-मालाओं के पूर्वी प्रदेशों में जिन तुर्कों ने अपना आधिपत्य स्थापित किया हुआ था, दसवी सदी तक उन्होंने भी इस्लाम की दीक्षा ग्रहण करली थी। मध्य एशिया मे इस्लाम के प्रवेश एवं प्रसार का यह परिणाम हुआ, कि वहाँ से भारतीय धर्म तथा संस्कृति का लोप हो गया, क्योकि इस क्षेत्र के बौद्ध मूर्ति-पूजा मे विश्वास रखते थे और मुसलमान मूर्ति-पूजा के घोर विरोधी थे। पर मध्य एशिया मे भारतीयो द्वारा जिन धार्मिक तथा दार्शनिक मन्तव्यो का विकास किया गया था, इस्लाम भी उनसे प्रभावित हुए बिना नही रहा। सूफी सम्प्रदाय का प्रारम्भ मध्य एशिया मे ही हुआ था, और इस सम्प्रदाय पर भारत के प्राचीन दार्शनिक विचारो का प्रभाव स्पष्ट रूप से विद्यमान है।

मध्य एशिया में मुसलिम तुर्कों के जो विविध राज्य दसवी सदी मे विद्यमान थे, उनका यहाँ उल्लेख करने की आवश्यकता नही है। इस काल मे इस क्षेत्र के सब प्रदेश इस्लाम और मुसलिम संस्कृति के प्रभाव मे आने लग गये थे। पर तुर्कों से भारतीय संस्कृति तथा धर्म का अन्त होने मे काफी समय लगा। दसवी और ग्यारहवी सदियो मे मध्य एशिया के क्षेत्र मे इस्लाम के अनुयायी तुर्क खान विधर्मी खानो से निरन्तर संघर्ष करते रहे। अन्त मे वे विजयी हुए, और मुसलिम तुर्कों ने अरबो के मुकाबिले मे भी अपनी शक्ति बहुत बढा ली। तुर्कों की एक शाखा एशिया माइनर तक अपने प्रभुत्व को स्थापित करने मे समर्थ हुई, और पूर्वी रोमन साम्राज्य का अन्त कर उसने बाइजेन्टियम को अपना केन्द्र बनाया (१५वी सदी)। मुसलिम तुर्कों द्वारा ही खोतन के समृद्ध एव शक्तिशाली राज्य का अन्त किया गया, जिसके कारण मध्य एशिया से बौद्ध धर्म तथा भारतीय सस्कृति का ह्रास प्रारम्भ हो गया (ग्यारहवी सदी)।

(२) मध्य एशिया के भारतीय उपनिवेश

पिछले प्रकरण मे मध्य एशिया के राजनीतिक इतिहास पर प्रकाश डालते हुए उन भारतीय उपनिवेशो या राज्यों का उल्लेख नही किया गया, जो प्राचीन समय मे मध्य एशिया के विविध प्रदेशो मे विद्यमान थे। इन्डो-यूरोपियन जाति की ही अन्यतम शाखा शक जाति ने मध्य एशिया मे अपनी सभ्यता का विकास किया था, यह ऊपर लिखा जा चुका है। पर ईस्वी सन् से तीन-चार सदी पूर्व भारतीय आर्यों ने भी इस क्षेत्र में प्रवेश करना प्रारम्भ किया, और वहाँ अपने अनेक उपनिवेश स्थापित किये। इनमे से कुछ उपनिवेश अच्छे समृद्ध तथा शक्तिशाली राज्य बन गये, और जो भारतीय उनमे जाकर आबाद हुए थे, उन्होने वहाँ के पुराने निवासियो को भी अपने धर्म तथा संस्कृति द्वारा प्रभावित किया। परिणाम यह हुआ, कि मध्य एशिया के इन उपनिवेशों व राज्यो के सब निवासी भारतीय (बौद्ध) धर्म के अनुयायी हो गये, लिखने के लिए वे भारतीय लिपियो का प्रयोग करने लगे, संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं का वहाँ प्रचार हुआ और वहाँ की अपनी भाषाएँ भी भारतीय भाषाओ से बहुत प्रभावित हुई। दसवीं सदी के अन्त तक प्राय: १२०० वर्षों के सुदीर्घ काल मे मध्य एशिया के ये भारतीय उपनिवेश बृहत्तर भारत के अग रहे। मध्य एशिया के क्षेत्र मे विविध जातियों—युइशि, वू-सुन,

ज्वान-ज्वान, हिंगनू, श्वेत, हूण, तुर्क आदि द्वारा जो राजनीतिक उथल-पुथल होती रहती थी और जिसका उल्लेख पिछले प्रकरण में किया गया है, उसके बीच में ये उपनिवेश समुद्र के मध्य द्वीपों के समान थे।

मध्य एशिया के सुविस्तृत क्षेत्र के मध्य में तकला-मकान मरुभूमि की स्थिति है, जिसके उत्तर तथा दक्षिण में अनेक ऐसे प्रदेश विद्यमान हैं, जो मनुष्यों के निवास के योग्य हैं। चीन से पश्चिमी देशों को जाने-आने वाले मार्ग इन्हीं प्रदेशों से होकर जाते थे। भारतीयों ने मध्य एशिया में अपने जिन उपनिवेशों की स्थापना की थी, वे भी इन्हीं प्रदेशों मे थे। तकला-मकान की मरुभूमि के कारण मध्य एशिया के भारतीय उपनिवेश दो भागो मे बँट गए थे, उत्तरी उपनिवेश और दक्षिणी उपनिवेश। तकला-मकान के उत्तर मे तारीम नदी बहती है, और उसके उत्तर में थियानशान पर्वतमाला स्थित है। भारतीयो की उत्तरी उपनिवेश-परम्परा तारीम नदी और थियानशान पर्वतमाला के मध्यवर्ती प्रदेश मे थी। यदि पश्चिम की ओर से इन पर दृष्टिपात किया जाए, तो काशगर के बाद अक्सू, भरुक, कुचि (कूचा), काराशहर (अग्निदेश) तथा तुर्फान (काओशांग) की सत्ता थी। दक्षिणी उपनिवेश पश्चिम से पूर्व की ओर यारकन्द (चोक्कुक), खोतन, रल्लक, भीम, नीया (निजांग), तुखार (आन्देरे), चलमद (चर्चन) और नफोमो (नाभक) थे। नफोमो के पूर्व मे चीन का प्रारम्भ हो जाता है। वहाँ भी भारतीय धर्म तथा संस्कृति के प्रभाव की सत्ता थी, यद्यपि वहाँ भारतीयो ने अपने उपनिवेश स्थापित नही किये थे।

खोतन, चोक्कुक, काशगर और चलमद मे भारतीयो की आबादी बहुत अधिक थी। बहुत बडी सख्या मे भारतीय लोग उनमे आबाद थे। पुराने निवासियो की तुलना मे वहाँ बसे हुए भारतीयो का राजनीतिक, आर्थिक व सास्कृतिक महत्त्व भी बहुत अधिक था। इसी कारण इन्हे भारतीय उपनिवेश कहा जाता है। कम्बोज और गान्धार के साथ इनका व्यापार-सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ था, और व्यापार के प्रयोजन से इनमे बसे हुए भारतीय बहुधा भारत आते-जाते रहते थे। इनमे ऐसी प्राकृत भाषाओ का प्रचलन था, जिन पर उत्तर-पश्चिमी भारत मे बोली जाने वाली प्राकृत का बहुत प्रभाव था और जो उससे मिलती-जुलती थी। लिखने के लिए इनमे खरोष्ठी लिपि प्रयोग मे लायी जाती थी। बाद मे मध्य एशिया के इन भारतीय उपनिवेशो मे सस्कृत भाषा और ब्राह्मी लिपि का भी प्रयोग होने लगा। यद्यपि सर्वसाधारण लोग पुरानी प्राकृत को ही प्रयुक्त करते रहे, पर सुशिक्षित लोग सस्कृत का अध्ययन करने के लिए प्रवृत्त हुए। चौथी सदी के अन्त मे जब चीनी यात्री फाइयान मध्य एशिया के इन प्रदेशों मे आया, तो इनका वर्णन करते हुए उसने लिखा है कि इनके निवासी धर्म और संस्कृति की दृष्टि से भारतीयो के सदृश हैं। भिक्षु लोग सस्कृत पढ़ते है, और बौद्ध धर्म की भारतीय पुस्तको का अध्ययन करते है।

मध्य एशिया के राजनीतिक इतिहास के परिज्ञान के सम्बन्ध मे अभी बहुत कम कार्य हुआ है। इसीलिए वहाँ के भारतीय उपनिवेशों की राजनीतिक व अन्य घटनाओं का लिख सकना अभी सम्भव नही है। उनके सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के जो साधन इस समय उपलब्ध हैं, वे निम्नलिखित हैं—(१) प्राचीन चीनी ग्रन्थ—चीन की

पश्चिमी सीमा मध्य एशिया के साथ लगती थी, और वर्तमान समय में इस क्षेत्र का बड़ा भाग (सिंकियाग या चीनी तुर्किस्तान) चीन के अन्तर्गत भी है। चीन के शक्तिशाली सम्राट् समय-समय पर मध्य एशिया के विविध राज्यों पर आक्रमण कर उन्हें अपने अधीन करने के लिये प्रयत्न करते रहे। इस कारण चीन के प्राचीन साहित्य मे जहाँ शक्तिशाली चीनी राजाओ की विजयो तथा साम्राज्य-विस्तार का वर्णन है, वहाँ स्वाभाविक रूप से मध्य एशिया के विविध राज्यो के विषय मे भी अनेक सूचनाएँ विद्यमान हैं। (२) तिब्बती अनुश्रुति—तकला-मकान मरुभूमि के दक्षिण मे जो अनेक उपनिवेश थे, तिब्बत की उत्तरी सीमा उनके साथ लगती थी। इस कारण कतिपय प्रतापी तिब्बती राजाओ ने भी उत्तर दिशा मे अग्रसर होकर इन उपनिवेशों पर आक्रमण किये और इन्हे अपनी अधीनता स्वीकृत करने के लिए विवश किया। अतः प्राचीन तिब्बती अनुश्रुति से भी तिब्बत के पडोस में स्थित इन भारतीय उपनिवेशों के सम्बन्ध मे बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बाते ज्ञात होती है। (३) प्राचीन अवशेष—मध्य एशिया के विविध प्रदेशों मे प्राचीन काल मे बहुत-से बौद्ध विहारो, चैत्यो, गुहा-मन्दिरों तथा स्तूपो की सत्ता थी, जिनके भग्नावशेष इस समय भी विद्यमान हैं। ये प्राय. रेत के बड़े-बडे डूहो या ढेरो के नीचे दबे पडे है। उन्नीसवी सदी में अनेक फ्रेंच, जर्मन, रूसी तथा अग्रेज विद्वानो ने मध्य एशिया का अवगाहन कर इन्हे प्रकाश मे लाने का प्रयत्न किया, जिसके कारण इस क्षेत्र मे भारतीय धर्म तथा सस्कृति की सत्ता के ठोम प्रमाण अब उपलब्ध हो गये हैं। पर अभी इस क्षेत्र से ऐसे अभिलेख, सिक्के व ग्रन्थ आदि, जिनसे वहाँ के भारतीय उपनिवेशो का राजनीतिक इतिहास तैयार करने मे सहायता मिल सके, बहुत ही कम प्राप्त हुए है। इसमे सन्देह नही, कि मध्य एशिया मे बहुत-से प्राचीन नगरो के खण्डहर भी रेत के ढेरो के नीचे दबे पडे है। अभी उनकी खुदाई का कार्य समुचित रूप से सम्पन्न नही किया गया है। रूस ने गत वर्षों मे इस ओर ध्यान दिया है, और वहाँ के पुरातत्त्व विभाग ने कतिपय ऐसे प्राचीन नगरो की खुदाई भी करायी है जो इस समय समाजवादी सोवियत रूसी सघ राज्य के अन्तर्गत प्रदेशो में हैं। पर भारत के प्राचीन उपनिवेश प्रधानतया उन प्रदेशो मे थे, जो वर्तमान काल मे चीनी तुर्किस्तान या सिंकियाग के अग है। यह आशा की जा सकती है, कि भविष्य मे चीनी तुर्किस्तान मे भी पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोज द्वारा ऐसी सामग्री उपलब्ध हो जायेगी, जिसके द्वारा इस क्षेत्र के भारतीय उपनिवेशो का प्रमाणिक इतिहास तैयार कर सकना सम्भव हो सकेगा।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, मध्य एशिया के बडे भाग मे अनेक घुमन्तू या फिरन्दर जातियो का निवास था और भारतीय उपनिवेशो (या ऐसे राज्यो, जिनमें भारतीय धर्म तथा सस्कृति की सत्ता थी) की उनके बीच मे वही स्थिति थी जो समुद्र के मध्य मे द्वीपो की होती है। मध्य एशिया के प्राचीन इतिहास को भलीभाँति समझने के लिए इस तथ्य को अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है।

मध्य एशिया के दो क्षेत्र थे, एक मे घुमन्तू जातियो का निवास था और दूसरे मे ऐसे जनपदो या राज्यो की सत्ता थी जिनके निवासी वहाँ स्थायी रूप से बसे हुए थे।

घुमन्तू जातियों के क्षेत्र के भी दो भाग थे। ठेठ चीन के उत्तर में मंचूरिया और मंगोलिया के प्रदेशों में ऐसी घुमन्तू जातियाँ रहती थीं, जो जातीय दृष्टि से आर्य न होकर मंगोल, तुर्क या हूण थी। इस क्षेत्र के पश्चिम मे थियानशान पर्वतमाला के उत्तर से लगाकर दक्षिणी रूस तक ऐसी घुमन्तू जातियो का निवास था, जो विशाल इन्डो-यूरोपियन या आर्य जाति की शाखाएँ थी। ऊपर हमने जिन युइशि, वू-सुन, तुखार तथा शक जातियों का उल्लेख किया है, वे जातीय दृष्टि से आर्य ही थी। ये जातियाँ (युइशि, वू-सुन, हिंगनू, श्वेत हूण, तुर्क आदि) समय-समय पर उन प्रदेशों पर आक्रमण करती रहीं जहाँ स्थायी रूप से बसे हुए लोगों ने अपने विविध जनपद या राज्य कायम किये हुए थे। ये स्थायी राज्य इन क्षेत्रो मे थे—(१) तकला मकान मरुस्थल के उत्तर मे भरुक, कुची, अग्निदेश आदि मे, (२) तकला मकान के दक्षिण मे यारकन्द, खोतन, चल्मद आदि में, (३) वक्षु और सीर नदियों के मध्यवर्ती सुग्ध देश मे, और (४) सुग्ध के दक्षिण में बल्ख के प्रदेश मे।

मध्य एशिया मे भारतीय संस्कृति और धर्म के केन्द्र ये जनपद ही थे, जिनमे कि आर्य जाति की ही विविध शाखाएँ स्थायी रूप से बसी हुई थी। समय-समय पर इन पर घुमन्तू जातियो के आक्रमण होते रहे, और वे इन्हें अपनी अधीनता मे भी लाती रही। पर इससे इनके सास्कृतिक जीवन मे विशेष अन्तर नही आया। घुमन्तू जातियाँ ही इनके सम्पर्क मे आकर भारतीय सस्कृति से प्रभावित होती रही।

मध्य एशिया के भारतीय उपनिवेशो मे खोतन और कुची प्रधान थे। तकला-मकान के दक्षिण मे स्थित भारतीय उपनिवेशो मे खोतन सबसे शक्तिशाली एवं समृद्ध था, और उत्तर मे कुची। हम अब इनके इतिहास पर सक्षेप से प्रकाश डालेंगे।

(२) खोतन का राज्य

खोतन की स्थापना के सम्बन्ध मे तिब्बत और चीन के प्राचीन ग्रन्थों मे अनेक कथाएँ पायी जाती हैं। रॉकहिल ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'लाइफ आफ बुद्ध' मे प्राचीन तिब्बती अनुश्रुति का सकलन किया है। वहाँ खोतन के विषय में जो कथा दी गई है, वह इस प्रकार है—

बुद्ध कश्यप के समय में कुछ ऋषि खोतन देश मे गये, पर वहाँ के निवासियों ने उनके प्रति बहुत बुरा बरताव किया। इस कारण वे वहाँ से चले गये। इससे नागों को बहुत कष्ट हुआ। उन्होने सम्पूर्ण खोतन को एक झील के रूप मे परिवर्तित कर दिया। जब बुद्ध शाक्यमुनि इस ससार मे विद्यमान थे, वे खोतन भी पधारे थे। उन्होंने खोतन की झील को प्रकाश की किरणो से घेर लिया। इस प्रकाश से ३६३ फूल उत्पन्न हुए। प्रत्येक कमल के मध्य मे एक-एक दीप प्रदीप्त हो रहा था। सब कमलो का प्रकाश एक स्थान पर एकत्र हो गया, और इस प्रकाश ने झील के चारो ओर बायें पार्श्व से दायें पार्श्व की ओर तीन बार चक्कर लगाये। इसके बाद प्रकाश लुप्त हो गया। बुद्ध शाक्य मुनि ने इसी प्रकार के अन्य भी प्रयोग किये, जिनके प्रभाव से खोतन की झील सूख गई, और वह देश मनुष्यो के निवास-योग्य हो गया।

राजा अजातशत्रु ने ३२ वर्ष राज्य किया। उसके राज्याभिषेक के पाँच वर्ष बाद बुद्ध की मृत्यु हो गई। अजातशत्रु से धर्माशोक तक कुल दस राजा हुए। धर्माशोक ने ५४ वर्ष राज्य किया। बुद्ध की मृत्यु के २३४ वर्ष बाद भारत में धर्माशोक का राज्य था। यह राजा पहले बड़ा क्रूर और अत्याचारी था। उसने अर्हत यश से बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण की, और भविष्य मे कोई भी पाप न करने की प्रतिज्ञा की। इस समय खोतन की झील सूख चुकी थी, पर वह देश अभी आबाद नही हुआ था।

राज्याभिषेक के तीसवे साल मे अशोक की महारानी के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। ज्योतिषियो ने बताया कि बालक में प्रभुता के अनेक चिह्न विद्यमान हैं, और यह पिता के जीवन काल मे ही राजा बन जायेगा। यह सुनकर अशोक को बडी चिन्ता हुई। उसने आज्ञा दी, कि इस बालक का परित्याग कर दिया जाय। परित्याग करने के बाद भी भूमि माता द्वारा बालक का पालन होता रहा। इसीलिए उसका नाम कुस्तन (कु-भूमि है स्तन जिसकी) पड गया।

उस समय चीन के एक प्रदेश मे बोधिसत्व का राज्य था। उसके ९९९ पुत्र थे। इस पर बोधिसत्व ने वैश्रवण से प्रार्थना की, कि उसके एक पुत्र और हो जाय, ताकि सख्या पूरी १००० हो जाय। वैश्रवण ने देखा, कि कुस्तन का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। वह उसे चीन ले गया और बोधिसत्व के पुत्रो मे सम्मिलित कर दिया। एक दिन जब कुस्तन का बोधिसत्व के अन्य पुत्रो के साथ झगडा हो रहा था, तो उन्होने उससे कहा—'तू सम्राट् का पुत्र नही है।' यह जानकर कुस्तन को बडा कष्ट हुआ। इस बात की सचाई का निश्चय करके उसने राजा से अपने देश का पता लगाने और वहाँ जाने की अनुमति माँगी। इस पर राजा ने कहा—'तू मेरा ही पुत्र है। यह तो तेरा अपना देश है। तुझे दुःखी नही होना चाहिए।' पर कुस्तन का इससे भी सन्तोष नही हुआ। कुस्तन ने पक्का इरादा कर लिया था, कि उसका भी अपना पृथक् राज्य हो। अतः उसने अपने दस हजार साथियो को एकत्र किया, और पश्चिम की तरफ चल पडा। इस तरह चलते-चलते वह खोतन के मेस्कर नामक स्थान पर जा पहुँचा।

सम्राट् अशोक के एक मन्त्री का नाम यश था। वह बहुत प्रभावशाली था। धीरे-धीरे वह राजा की आँखो मे खटकने लगा। यश को जब यह बात मालूम हुई, तो उसने भी यही निश्चय किया कि भारत छोडकर अपने लिए नया क्षेत्र ढूंढ ले। उसने अपने सात हजार साथियो के साथ सुदूर पश्चिम मे नये प्रदेशो का अनुसन्धान प्रारम्भ किया। इस प्रकार वह खोतन मे उथेन नदी के दक्षिणी तट पर जा पहुँचा।

अब ऐसा हुआ, कि कुस्तन के अनुयायियो मे से दो व्यापारी घूमते-फिरते तो-ला नाम के प्रदेश मे आये। यह प्रदेश उस समय बिल्कुल गैर-आबाद था। इसकी रमणीयता को देखकर उन्होंने विचार किया, कि यह प्रदेश कुमार कुस्तन द्वारा आबाद किये जाने के योग्य है। मन्त्री यश को कुस्तन के बारे मे जब पता लगा, तो उसने यह सन्देश उसके पास भेजा—'तुम राजघराने के हो और मैं कुलीन घराने का हूँ। अच्छा हो कि हम परस्पर मिल जायँ और मिलकर इस उथेन प्रदेश में बस जायँ। तुम राजा बनो और मैं तुम्हारा मन्त्री।' यह विचार कुस्तन को बहुत पसन्द आया। कुस्तन ने अपने

चीनी अनुयायियों के साथ और यश ने अपने भारतीय साथियो के साथ परस्पर सहयोग से इस प्रदेश को आबाद किया। कुस्तन राजा बना, और यश उसका मन्त्री। कुस्तन के चीनी साथी उ-थेन (खोतन) नदी के निचले भाग में बसे और यश के भारतीय साथी उ-थेन के उपरले भाग में। बीच के क्षेत्र मे चीनी और भारतीय साथ-साथ निवास करने लगे। तदनन्तर उन्होंने एक दुर्ग का निर्माण किया, जो इस राज्य की राजधानी बना। तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार "खोतन देश आधा चीनी है और आधा भारतीय। लोगो की भाषा न तो पूरी तरह भारतीय ही है और न चीनी ही। वह दोनों का सम्मिश्रण है। अक्षर बहुत कुछ भारतीय लिपि से मिलते-जुलते हैं, लोगों की आदतें चीन से बहुत कुछ मिलती हैं। धर्म और भाषा भारत से मिलते हैं। खोतन में वर्तमान भाषा का प्रवेश आर्यों (बौद्ध प्रचारको) द्वारा हुआ है। जिस समय कुस्तन बोधिसत्वों को छोड़-कर नये राज्य के अन्वेषण के लिए चला था, उसकी आयु केवल बारह साल की थी। जब उसने खोतन मे अपने राज्य की स्थापना की, तो वह १६ साल का हो गया था। बुद्ध के निर्वाण से ठीक २३४ वर्ष बाद खोतन राज्य की स्थापना हुई। अशोक अभी जीवित था। ज्योतिषियो की यह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई, कि कुमार कुस्तन अपने पिता के जीवन-काल मे ही राजा बन जायेगा।

खोतन की स्थापना के सम्बन्ध मे जो कथाएँ चीनी अनुश्रुति में पायी जाती हैं, वे तिब्बती कथा से भिन्न है। चीनी अनुश्रुति की एक कथा को ह्य् एन्-त्सांग ने अपने यात्रा-विवरण मे उल्लिखित किया है। उसके अनुसार जब कुमार कुणाल तक्षशिला मे शासन करने के लिये नियुक्त था, तो उसकी विमाता तिष्यरक्षिता ने ईर्ष्यावश उसे अन्धा करने की आज्ञा (अशोक की दन्तमुद्रा के साथ) तक्षशिला के अमात्यो को भिजवा दी। राजकीय आज्ञा का पालन किया ही जाना चाहिए, यह कहकर कुणाल ने स्वयं अपनी आँखों को निकलवा दिया। राजा अशोक को जब अपने प्रिय पुत्र कुणाल के अन्धा किए जाने का समाचार ज्ञात हुआ, तो वह बहुत क्रुद्ध हुआ और उसने तक्षशिला के उन सब लोगो को देश से बहिष्कृत कर दिया, जिन्होने कुणाल को अन्धा करने मे हाथ बँटाया था। ये सब हिम से आच्छादित पर्वतमाला के पार की मरुभूमि में जाकर बस गए, और उन्होंने अपने एक सरदार को अपना राजा निर्वाचित कर वहाँ निवास प्रारम्भ कर दिया। यही समय था, जबकि पूर्वी देश के एक राजा का एक पुत्र भी अपने राज्य से बहिष्कृत किया जाकर मरुभूमि के पूर्वी प्रदेश मे निवास कर रहा था। उस प्रदेश के निवासियों ने उसे अपना राजा बना लिया। इस प्रकार खोतन के प्रदेश में दो राज्य हो गए, जिनके राजा दो भिन्न व्यक्ति थे। इन राज्यो के निवासियों में प्राय: संघर्ष होता रहता था। इन संघर्षों मे अन्ततोगत्वा पूर्वी राज्य की जीत हुई, और उसके राजा ने सम्पूर्ण खोतन में सुव्यव-स्थित शासन का सूत्रपात किया। पर इस राजा के कोई सन्तान नहीं थी। जब वह वृद्ध हो गया, तो वैश्रवण के मन्दिर में जाकर उसने पुत्र के लिए प्रार्थना की। इस पर वैश्रवण की मूर्ति का शीर्षभाग खुल गया और उसमें से एक छोटा-सा बालक प्रकट हुआ। इसे देख कर राजा और प्रजा दोनों बहुत प्रसन्न हुए। पर यह बालक दूध नहीं

पीता था। समस्या यह उत्पन्न हुई, कि दूध के बिना बालक का पालन-पोषण कैसे किया जाए। इस पर राजा बालक को फिर वैश्रवण के मन्दिर मे ले गया, और वहाँ जाकर देवता से बालक के पालन-पोषण के लिए प्रार्थना की। राजा की प्रार्थना स्वीकार कर देव-मूर्ति के सामने की जमीन फट गई, और वहाँ एक स्तन प्रकट हुआ। बालक ने इस स्तन से निकलने वाले स्तन्य का पान किया। क्योंकि यह बालक कु (पृथिवी) के स्तन से स्तन्य पान कर बड़ा हुआ था, इसी कारण यह कुस्तन कहाया। बड़ा होकर यह कुस्तन उस देश का राजा बना, और उसके तथा उसके उत्तराधिकारियो के शासनकाल मे खोतन की बहुत उन्नति हुई।

ह्यु एन्-त्सांग द्वारा उल्लिखित इस चीनी कथा मे तिब्बती अनुश्रुति की कथा से अनेक भिन्नताएँ हैं। इसके अनुसार कुस्तन अशोक का पुत्र न होकर खोतन के ही एक राजा का पुत्र था। भारत तथा लका की प्राचीन अनुश्रुति मे कुस्तन का कही उल्लेख नही है, अत. यह निर्णय कर सकना बहुत कठिन है कि कुस्तन का भारत या अशोक के साथ कोई सम्बन्ध था या नही। पर चीन और तिब्बत दोनो देशो की कथाओ से यह बात भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है, कि राजा अशोक के समय मे भारतीयो द्वारा एक उपनिवेश खोतन मे बसाया गया था, जिसमे चीनी लोगो का सहयोग उन्हे प्राप्त था। कुस्तन और यश धर्म-प्रचारकों के रूप मे खोतन नही गए थे। वे वहाँ उपनिवेश बसाने के प्रयोजन से गए थे। उस युग मे भारत की राजनीतिक शक्ति बहुत अधिक थी। हिन्दूकुश पर्वतमाला के परे के भूखण्ड के साथ भारत का घनिष्ठ सम्बन्ध भी था, और भारत के व्यापारी इस क्षेत्र के देशो मे व्यापार के लिए आते-जाते रहते थे। बहुत-से साहसी भारतीय अपनी मातृभूमि को सदा के लिए नमस्कार कर सुदूर प्रदेशो मे नए उपनिवेश बसाने मे भी तत्पर थे। खोतन का नया राज्य भारतीयो की इसी प्रवृत्ति का परिणाम था। चीनी और तिब्बती दोनो अनुश्रुतियो के आधार मे यह तथ्य विद्यमान है, कि खोतन का प्रारम्भ भारत के एक उपनिवेश के रूप मे हुआ था और अशोक के समय मे वहाँ भारतीय धर्म तथा संस्कृति का प्रवेश शुरू हो गया था।

तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार कुस्तन के बाद उसका पुत्र ये-उ-ल खोतन का राजा बना। चीन की कथाओ मे यू-लिन नामक एक राजा का उल्लेख है, जो पहली सदी ई० पू० में खोतन मे शासन कर रहा था। तिब्बती अनुश्रुति का ये-उ-ल और चीनी कथाओ का यू-लिन एक ही राजा को सूचित करते हैं, यह कह सकना कठिन है।

तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार ये-उ-ल के बाद उसका पुत्र विजित-सम्भव खोतन के राजसिंहासन पर आरूढ हुआ। इसके शासन काल को सुनिश्चित रूप से निर्धारित कर सकना सम्भव नही है। पर उसका समय ईस्वी सन् के प्रारम्भ काल के लगभग कभी था, क्योंकि उसका उत्तराधिकारी विजितकीर्ति कुशाणवशी राजा कनिष्क का समकालीन था। विजितसम्भव के बाद जो राजा खोतन की राजगद्दी पर बैठे, उनके नाम तिब्बती अनुश्रुति मे विद्यमान हैं। इन सबके नाम 'विजित' शब्द से प्रारम्भ होते हैं। पहले 'विजित' को 'विजय' पढा गया था। पर अब यह स्वीकार कर लिया गया

है, कि खोतन के ये भारतीय राजा अपने नाम का प्रारम्भ 'विजित' से करते थे। इसीलिए इनके वंश को 'विजित वंश' भी कहा जा सकता है।

विजितसम्भव के एक वंशज ने समीप के विविध राज्यों को जीतकर अपनी शक्ति का बहुत विस्तार किया। तकला मकान की मरुभूमि के दक्षिण में जो अनेक भारतीय उपनिवेश उस समय विद्यमान थे और प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार जिनकी संख्या तेरह थी, उन सबको इस राजा ने जीत लिया। जिस समय कुशाण राजा विम कथफिस भारत मे अपनी शक्ति का विस्तार कर रहा था, खोतन के इस प्रतापी राजा ने तकला-मकान की मरुभूमि के दक्षिण में स्थित सब उपनिवेशो पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था (६० ईस्वी के लगभग)। खोतन का यह प्रतापी राजा सम्भवतः विजितधर्म या विजितसिंह था। ७६ ईस्वी मे जब चीन के सम्राट हो-ती ने अपने सेनापति पान-छाओ को पश्चिमी देशो को अपने शासन मे ले आने के लिए भेजा, तो उसने खोतन के राजा से मैत्री स्थापित की और उसकी सहायता से मध्य एशिया के प्राय. सभी राज्यो से चीन का आधिपत्य स्वीकार करा लिया। पान-छाओ जो पश्चिम मे कैस्पियन सागर तक चीन का प्रभुत्व स्थापित कर सका, उसमे खोतन के राजा का सहयोग उसे प्राप्त था।

कनिष्क ने उत्तरी भारत मे अपनी शक्ति का विस्तार करते हुए खोतन के राजा विजितकीर्ति से सहायता प्राप्त की थी, तिब्बती अनुश्रुति मे यह बात भी उल्लिखित है। एक कथा के अनुसार राजा कनिक (कनिष्क) और गुजान (कुशाण) राजा के साथ खोतन के राजा विजितकीर्ति ने उत्तरी भारत मे साकेत (अयोध्या) तक के प्रदेश को आक्रान्त किया था। कुशाणवंशी राजा कनिष्क का शासन साकेत तथा पाटलिपुत्र तक विस्तृत था। आश्चर्य नही, कि कनिष्क के इस साम्राज्य विस्तार मे खोतनराज विजयकीर्ति उसका सहायक रहा हो। मध्य एशिया तथा उत्तर के देशो की विजय के लिए कनिष्क ने जो प्रयत्न किए, और उनके कारण चीन के सेनापति पान-छाग के साथ उसके जो युद्ध हुए, उनका उल्लेख इसी अध्याय मे ऊपर किया जा चुका है। कनिष्क की इन विजयो के कारण मध्य एशिया कुशाण साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया था, और खोतन के राजा ने भी उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। पर कुशाण वासुदेव के शासनकाल (१५२-१८६ ईस्वी) मे जब कुशाण साम्राज्य मे शिथिलता आने लगी, तो खोतन स्वतन्त्र हो गया। ज्वान-ज्वान या जू-जुन नामक हूण जाति ने मध्य एशिया से कुशाणो की शक्ति का अन्त करने मे जो कर्तृत्व प्रदर्शित किया था, उसका उल्लेख भी ऊपर किया जा चुका है। पर ज्वान-ज्वान लोगो ने खोतन पर आक्रमण नही किया था, और वहाँ के राजा कुशाणो की निर्बलता से लाभ उठाकर पूर्णतया स्वतन्त्र होने मे समर्थ हो गए थे। कनिक को कनिष्क से और गुजान को कुशाण से मिलाकर ही राजा विजितकीर्ति का समय ईस्वी सन् की पहली सदी के उत्तरार्ध में निर्धारित किया गया है। पर यह ध्यान मे रखना चाहिए, कि खोतन के इन राजाओ के समय के सम्बन्ध मे सब ऐतिहासिक एकमत नही हैं। वस्तुतः, खोतन का राजनीतिक इतिहास सर्वथा अस्पष्ट है। तिब्बती अनुश्रुति द्वारा उसके राजाओं

का पौर्वापर्य क्रम अवश्य ज्ञात होता है, और साथ ही उनके विषय मे कतिपय घटनाओं के संकेत भी। वहाँ लिखा गया है, कि खोतन में बौद्ध धर्म का प्रवेश राजा विजित-सम्भव के शासन के पाँचवें वर्ष मे हुआ था, और राजा विजितधर्म ने काशगर पर आक्रमण कर उसे भी अपने अधीन कर लिया था। विजितधर्म राजा विजितसम्भव के पश्चात् ग्यारहवी पीढी मे हुआ था, और वह बौद्धधर्म का कट्टर अनुयायी था। चीनी साहित्य द्वारा भी इस तथ्य की पुष्टि होती है, कि यद्यपि काशगर पहले एक शक्तिशाली राज्य था, पर बाद मे वह खोतन के अधीन हो गया था।

पर खोतन देर तक अपनी स्वतन्त्रता को कायम नही रख सका। पाँचवी सदी के प्रारम्भ काल मे श्वेत हूणो ने उसे आक्रान्त किया, और छठी सदी मे तुर्कों ने। श्वेत हूणों तथा तुर्कों की शक्ति के प्रसार पर इसी अध्याय मे पहले प्रकाश डाला जा चुका है। सातवीं सदी के शुरू मे विजितसंग्राम नामक राजा ने खोतन को तुर्कों की अधीनता से स्वतन्त्र कराया। यह विजितसग्राम निश्चय ही खोतन के पुराने राजाओं का वशज था। पर खोतन अपनी स्वतन्त्रता को तभी कायम रख सकता था, जबकि किसी शक्तिशाली राजा का साहाय्य एव सरक्षण उसे प्राप्त रहे। इस युग मे चीन के सम्राट् भी मध्य एशिया के क्षेत्र मे अपने प्रभाव को स्थापित करने मे तत्पर थे, और साथ ही हूणो तथा तुर्कों के विरुद्ध भी वे संघर्ष मे लगे थे। इस दशा मे खोतन के नये स्वतन्त्र हुए राजा विजितसग्राम ने एक दूतमण्डल चीन के सम्राट् की सेवा मे भेजा (६३२ ईस्वी), और तीन साल बाद अपने पुत्र को भी चीन के दरबार मे प्रेषित किया। ६४८ ई० मे खोतन का राजा (जो सम्भवत. विजितसग्राम का उत्तराधिकारी था) स्वय चीन के राजदरबार मे उपस्थित हुआ था। इस काल मे चीन मे तागवंश के राजाओ का शासन था, जो अत्यन्त शक्तिशाली तथा महत्त्वाकाक्षी थे। इस वश के शासन का प्रारम्भ ६१८ ई० मे हुआ था और इसका प्रथम राजा काओत्सु खोतन को भी अपना वशवर्ती बनाने मे समर्थ हुआ था, जिसके कारण वहाँ के राजा चीन के साथ मैत्री-सम्बन्ध कायम रखने को उत्सुक रहते थे। वस्तुत:, खोतन के लिए इस समय चीन की मैत्री व साहाय्य का बहुत महत्त्व था। सातवी सदी मे तिब्बत मे स्रोङ्-गचन-गस्म-पो नाम का शक्तिशाली राजा हुआ, जिसने पडौस के अनेक राज्यो की विजय कर अपनी शक्ति का विस्तार किया था। उसके उत्तराधिकारियो ने भी विजय की प्रक्रिया को जारी रखा, और तिब्बत के उत्तर-पश्चिम मे स्थित खोतन सदृश मध्य एशिया के भारतीय औपनिवेशिक राज्यो पर भी आक्रमण किए। तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार इन आक्रमणो के कारण खोतन तिब्बत की अधीनता मे आ गया था, और उसके राजा स्रोङ्-गचन-गस्म-पो के उत्तराधिकारियो के प्रभुत्व को स्वीकृत करने लग गये थे। तिब्बती कथाओ के अनुसार खोतन के अन्तिम राजा का नाम विजितवाहम था। विजितवाहम नाम के एक राजा का उल्लेख मध्य एशिया से प्राप्त दो अभिलेखो में भी विद्यमान है, जो ईरानी भाषा मे होने पर भी भारतीय लिपि मे लिखे हुए हैं। इन अभिलेखो का विजितवाहम और तिब्बती अनुश्रुति का विजितवाहम सम्भवत: एक ही व्यक्ति हैं।

पर तिब्बत भी खोतन को देर तक अपनी अधीनता मे नहीं रख सका। चीन के तांग वंशी राजा अपनी शक्ति को पुन:स्थापित करने के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहे, और आठवीं सदी का अन्त होने से पूर्व ही यह स्थिति आ गई थी, कि मध्य एशिया के विविध प्रदेशों पर तिब्बत का आधिपत्य कायम नही रह सका था। खोतन के राजा अब तिब्बत के प्रभुत्व से प्राय: मुक्त हो गए थे, और वे अपनी स्वतन्त्र सत्ता को सुरक्षित रखने के लिए फिर से चीन के सम्राटों का साहाय्य प्राप्त करने लगे थे। यही कारण है, कि चीन की प्राचीन अनुश्रुति मे इस काल के अनेक ऐसे खोतनी राजाओं का उल्लेख है, जिन्होंने कि चीन के सम्राटो की सेवा में अपने दूतमण्डल भेजे थे, और जो विविध भेंट-उपहार आदि द्वारा उन्हें सन्तुष्ट करते रहते थे। वस्तुतः, नवीं और दसवी सदियो मे खोतन की स्थिति चीन के सरक्षित राज्य के सदृश हो गई थी। इसीलिये चीन के प्राचीन साहित्य मे खोतन के राजाओ के नाम तथा उन द्वारा चीन के सम्राटों की सेवा मे भेजे गये दूतमण्डलो आदि का बार-बार उल्लेख मिलता है।

मध्य एशिया मे तुर्कों का उत्कर्ष किस प्रकार हुआ, इस विषय पर इसी अध्याय मे ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है। ग्यारहवी सदी के प्रारम्भ तक काशगर के तुर्क खान इस्लाम के अनुयायी हो चुके थे। काशगर के राजा अब्दुल हसन नस्र इलिक करा खान ने अपने भाई यूसुफ कदर खान को १००७ ई० के लगभग खोतन की विजय के लिए भेजा। पर वह इस भारतीय राज्य को सुगमता से नही जीत सका। खोतन मे जो राजा इस समय शासन कर रहा था, मुसलिम विवरणों मे उसे "जगालू खल-खालू" विरुद से सूचित किया गया है। खोतन के बौद्ध राजा ने चिरकाल तक मुसलिम तुर्क आक्रान्ता का सामना किया, और उसकी गति को अवरुद्ध करने मे अनुपम वीरता प्रदर्शित की। पर अन्त मे वह परास्त हो गया, और खोतन ऐसे तुर्कों की अधीनता मे आ गया, जो बौद्ध धर्म का परित्याग कर इस्लाम को अपना चुके थे। मुसलिम तुर्कों मे इस्लाम के लिए अनुपम जोश था, और वे कुफ्र को सहन करने के लिए तैयार नही थे। खोतन से बौद्ध धर्म तथा भारतीय संस्कृति का अन्त करने मे उन्होंने कोई कसर उठा नही रखी, और उन्ही के प्रयत्न का यह परिणाम हुआ कि मध्य एशिया मे भारतीय धर्म तथा सभ्यता का यह महत्त्वपूर्ण केन्द्र नष्ट हो गया।

यहाँ यह स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए, कि खोतन के राजनीतिक इतिहास का जो परिचय हमने दिया है, वह सर्वसम्मत नहीं है। वस्तुतः, मध्य एशिया के भारतीय उपनिवेशो के सम्बन्ध में अभी इतनी कम सामग्री उपलब्ध है, कि उसके आधार पर कोई ऐसा इतिवृत्त तैयार नही किया जा सकता जो प्रामाणिक व ठोस आधारो पर आधारित हो। चीनी और तिब्बती अनुश्रुतियो के अस्पष्ट होते हुए भी उनके आधार पर खोतन के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध मे जो रूपरेखा तैयार की जा सकती है, उसे ही हमने यहाँ प्रस्तुत किया है, यद्यपि सब ऐतिहासिक उससे भी सहमत नहीं हैं।

(४) कुची का राज्य

तकला मकान मरुस्थल के दक्षिण मे जो स्थिति खोतन की थी, उसके उत्तर में वही कुची की थी। थियानशान पर्वतमाला और तकला मकान मरुभूमि के बीच के तारीम नदी द्वारा सिञ्चित प्रदेश मे यह राज्य स्थित था, और उस क्षेत्र के विविध राज्यो मे यह सब से अधिक शक्तिशाली और समृद्ध था। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता मे शक, पह्लव, शूलिक और चीन आदि के साथ 'कुशिक' का भी उल्लेख किया है। वराहमिहिर को कुशिक से 'कुची' ही अभिप्रेत था, यह अनुमान कर सकना कठिन नही है। अशोकावदान के चीनी अनुवाद मे कुचा या कुची को अशोक के राज्य के अन्तर्गत लिखा गया है, पर यह सम्भव प्रतीत नही होता। पर इसमे सन्देह नही कि अशोक के समय मे विदेशो मे बौद्ध धर्म के प्रचार की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई, कुछ समय पश्चात् मध्य एशिया भी उसका क्षेत्र बना और इस प्रकार इस क्षेत्र के राज्यों के साथ भारत का सम्बन्ध स्थापित हुआ।

कुची से भारतीय धर्म और सभ्यता के जो मूर्त अवशेष प्राप्त हुए है, उनका उल्लेख अगले अध्याय मे किया जाएगा। यहाँ हमे इस राज्य के राजनीतिक इतिहास पर प्रकाश डालना है। कुची का इतिहास अभी भली-भाँति ज्ञात नही हो सका है। क्योकि चीन के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा था, अत स्वाभाविक रूप से चीन के प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थो मे कुची के राजाओ का भी उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त कुची प्रदेश के भग्नावशेषो मे कतिपय ऐसे अभिलेख भी मिले हैं, जो वहाँ के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। कुची के साथ चीन का प्रथम सम्पर्क प्रसिद्ध चीनी सम्राट् वू ती (१४२-८५ ई० पूर्व) के समय मे हुआ था। तभी से चीन के प्राचीन ग्रन्थो मे कुची (या कुचा) तथा उसके राजाओ का वर्णन शुरू होता है। चीनी इतिवृत्त के अनुसार जब चीन से कुची का प्रथम सम्पर्क हुआ, तब इस राज्य मे ६९६० परिवारो का निवास था जिनके सदस्यो की सख्या ८१३०७ थी। इनमे से २१,०७६ सैनिक थे, जो शस्त्र धारण कर सदा युद्ध के लिए उद्यत रहते थे।

कुची के निवासियो की जाति के सम्बन्ध मे प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् सिल्वा लेवी ने विशद रूप से विवेचन किया है। कुची के प्राचीन अभिलेखो की भाषा का अनुशीलन कर वे इस परिणाम पर पहुँचे है, कि प्राचीन कुचिअन भाषा आर्य जाति की उन शाखाओ की भाषाओ से मिलती-जुलती है, जिन्होने पश्चिमी यूरोप के विविध देशो को आबाद किया था। सिल्वा लेवी के इस मन्तव्य को प्राय सभी ऐतिहासिकों ने स्वीकार कर लिया है, और अब यह माना जाता है कि कुची के प्राचीन निवासी विशाल आर्य जाति की ही अन्यतम शाखा थे। चीन के प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थो मे कुची के राजाओं तथा अन्य निवासियो के जो नाम मिलते हैं, उनमें से बहुत-से ऐसे हैं, जिनके साथ 'पों' प्रयुक्त किया गया है। चीनी भाषा में पो का अर्थ श्वेत होता है। इससे भी कुछ ऐतिहासिको ने यह परिणाम निकाला है कि कुची के प्राचीन निवासी श्वेत वर्ण के थे और यूरोपीय आर्यों से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था।

चीन के ग्रन्थों में कुची का प्राचीनतम उल्लेख वू-ती के समय का है, जब (१२२ ई० पू०) कि हान वंश के इस सम्राट् ने ली-कुआंग-ली नामक सेनापति को ता-युग्रान पर आक्रमण करने के लिये भेजा था। वापसी मे यह सेनापति यू-मी होकर गुजरा। यू-मी का राज्य तब कुची की अधीनता स्वीकार करता था, और वहाँ का राजा अपने पुत्र युवराज लाइ-तान को कुची के राजदरबार मे भेजने की तैयारी कर रहा था। यह जानकर ली-कुआंग-ली बहुत क्रुद्ध हुआ। उसने कहा, इस क्षेत्र के अन्य सब राजा तो चीन का आधिपत्य स्वीकार करते हैं, यू-मी क्यों कुची की अधीनता मे है। वह लाइ-तान को अपने साथ चीन ले गया। चीन के हानवंशी सम्राट् चाम्रो-ती (८६-७४ ई० पू०) ने लाइ-तान को अपने दरबार मे सम्मानपूर्वक स्थान-प्रदान किया, और उसे पश्चिम के उन प्रदेशो का उपराज्यपाल भी नियत कर दिया जो चीन की अधीनता स्वीकार करते थे। लाइ-तान का यह उत्कर्ष कुची को सहन नहीं हुआ। कू-यिन नाम के एक सामन्त ने अपने राजा से कहा कि यू-मी पहले तो कुची के अधीन था और लाइ-तान उसके राजदरबार मे आने को उद्यत था, पर अब चीन का सहारा पाकर वह कुची की जरा भी परवाह नही करता। इस पर कुची के राजा ने लाइ-तान की हत्या करा दी। अपने उपराज्यपाल के घात को चीन सहन नही कर सका। सियुआन-ती (७३-४९ ई० पू०) के शासन काल मे चीन की एक सेना ने कुची पर आक्रमण किया, जिसका सामना कर सकना वहाँ के राजा के लिए सम्भव नही हुआ। उसने यह कहकर चीनी सेनापति से क्षमायाचना की, कि कू-यिन के बहकावे मे आकर उसके पूर्ववर्ती राजा ने लाइ-तान की हत्या करा दी थी। इस पर कू-यिन को चीन ले जाया गया, और वहाँ उसे मृत्युदण्ड दिया गया।

इस समय से कुची ने भी चीन के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया, और इन दोनो देशों मे घनिष्ठ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित हो गया। कुची और चीन की मैत्री में तब और भी अधिक वृद्धि हुई, जबकि कुची के राजा कियांग-पिन ने वू-सुन लोगो के राजा की एक कन्या के साथ विवाह कर लिया। वू-सुन लोगो का राज्य कुची के उत्तर-पूर्व मे था, और चीन के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध था। वू-सुन की यह राजकुमारी अपनी माँ की ओर से चीन के राजकुल के साथ सम्बद्ध थी। ६५ ई० पू० में कियांग-पिन ने अपनी रानी के साथ चीन की यात्रा की, और हानवंशी सम्राट् के राजदरबार में जाकर अनेक भेंट उपहार अर्पित किये। हान सम्राट ने भी उसे विविध उपहार प्रदान कर सम्मानित किया। कियांग-पिन को चीन के राजप्रासाद का जीवन बहुत पसन्द आया। वहाँ के रहन-सहन, चाल-चलन, वस्त्र-परिधान और खानपान सब उसे बहुत अच्छे लगे। इसीलिए जब वह अपने देश को वापस लौटा, तो कुची मे उसने एक ऐसे राजप्रासाद का निर्माण कराया, जो ठीक हान राजप्रासाद के सदृश था। उसकी साज-सज्जा आदि भी चीनी शैली पर ही की गई थी।

कियांग-पिन के बाद उसका पुत्र तेहूंग-तो कुची के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। उसके तथा उसके उत्तराधिकारी एई-तो (३२-१ ई० पू०) के समय मे कुची तथा चीन के सम्बन्ध और भी अधिक सुदृढ़ एवं मैत्रीपूर्ण हो गये। कुची के ये राजा

चीन के हानवंशी सम्राटो को अपने धर्मपिता के समान मानते थे और उनके साथ मैत्री-सम्बन्ध को गौरव की बात समझते थे। इस काल मे चीन बहुत शक्तिशाली था, और तुर्फान, कुची आदि मध्य एशिया के राज्य हान सम्राटों के साथ सम्बन्ध रखने में गौरव अनुभव किया करते थे। हान सम्राटों का संरक्षण भी इन्हे प्राप्त था, जिसके कारण बाह्य आक्रमणों का इन्हें कोई भय नही रह गया था। इस दशा मे मध्य एशिया के राज्यो को समृद्धि तथा उन्नति के पथ पर अग्रसर होने का सुवर्णीय अवसर प्राप्त हुआ। कुची ने इस स्थिति से विशेष लाभ उठाया। चीन की पश्चिमी सीमा पर स्थित तुङ्-ह्वाग् से पश्चिमी देशों को जाने वाला जो मार्ग तकला मकान की मरुभूमि के उत्तर से होकर काशगर जाता था, कुची उसके ठीक बीच मे पडता था। चीन के रेशम की पश्चिमी देशो में बहुत माँग थी, जिसके कारण व्यापार के इस मार्ग का बहुत महत्त्व था, और इसे रेशम-पथ भी कहा जाता था। इस मार्ग के मध्य में स्थित होने के कारण कुची व्यापार का मुख्य केन्द्र बन गया, और उसकी बहुत समृद्धि हुई।

पहली सदी ईस्वी मे प्रथम हान वंश की शक्ति क्षीण होने लगी, जिसके कारण मध्य एशिया के तुर्फान, कुची आदि राज्य चीन के आधिपत्य से मुक्त हो गए, और चीन के साथ उनके सम्बन्ध की समाप्ति हो गई। हूण लोगो की अन्यतम शाखा हिगनू के आक्रमण इस समय मध्य एशिया तथा पश्चिमी चीन पर प्रारम्भ हो गए थे, जिसके परिणामस्वरूप चीन की राजशक्ति क्षीण होने लग गई थी। इस दशा मे चोक्कु (यारकन्द) के राजा हिम्रन ने कुची पर आक्रमण कर दिया और वहाँ के राजा की हत्या कर अपने पुत्र त्सो-लो को वहाँ का शासक नियत किया (४६ ई०)। पर त्सो-लो देर तक कुची का शासन नही कर सका। वहाँ के पुराने राजकुल के लोगो ने त्सो-लो का घात कर दिया और चेन-तू नामक व्यक्ति को कुची के राजसिंहासन पर आरूढ कराया। त्सो-लो की हत्या तथा चेन-तू को राजा बनाने में हिगनू लोगो का हाथ था, और उन्हीं की सहायता से कुची यारकन्द की अधीनता से मुक्त हुआ था। इस स्थिति मे यह स्वाभाविक था कि चेन-तू हिगनू राजा के आधिपत्य को स्वीकार करे, यद्यपि अपने राज्य मे वह स्वतन्त्र शासक था।

७३ ईस्वी में कुची के राजा कि-अन ने अपनी शक्ति का विस्तार करते हुए काशगर पर आक्रमण किया, और वहाँ के राजा का घात कर तू-ती नामक व्यक्ति को वहाँ का शासक नियुक्त किया। यह तू-ती कुची का ही निवासी था। पर काशगर देर तक कुची के अधीन नही रह सका। पान-छाओ इसी समय मध्य एशिया मे चीन के आधिपत्य की पुनःस्थापना का प्रयत्न कर रहा था। तकला मकान मरुभूमि के दक्षिणी राज्यो को वह पहले ही चीन की अधीनता मे ला चुका था। अब उसने काशगर की ओर रुख किया और उसे कुची की अधीनता से मुक्त किया। पान-छाओ ने अब तकलामकान मरुभूमि के उत्तर मे स्थित विविध राज्यो पर आक्रमण किया, और वहाँ के अक्सू, उच, तुर्फान आदि राज्यो को जीत लिया। अब उत्तरी मध्य एशिया मे केवल कुची ही ऐसा राज्य रह गया, जो चीन की प्रभुता को स्वीकृत करने के लिए उद्यत नहीं था। उसे परास्त करने के लिए पान-छाओ ने बहुत तैयारी की। कुची की सैन्य-

शक्ति बहुत अधिक थी, और सम्मुख युद्ध में उसे परास्त कर सकना सुगम नहीं था। अतः पान-छाओ ने कूटनीति का भी प्रयोग किया, और अन्त में वह कुची को अपना वशवर्ती बनाने में सफल हो गया (८८ ईस्वी)। वहाँ के राजा को सिंहासनच्युत कर चीन के सम्राट् द्वारा पो-पा को कुची का राजा बनाया गया। पो-पा भी कुची के राजकुल का था और चीन के आधिपत्य को स्वीकार करने को उद्यत था। पर पो-पा का मार्ग निष्कण्टक नहीं था। पान-छाओ के चीन वापस जाते ही उत्तरी मध्य एशिया के राज्यों ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया, और अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। चिरकाल तक संघर्ष के अनन्तर ही चीन इन राज्यों को पुनः अपने अधीन करने में समर्थ हुआ (१०६ ईस्वी)।

यद्यपि चीन ने तकला मकान के उत्तर मे स्थिति कुची आदि राज्यों को अपना वशवर्ती बना लिया था, पर हिंगनू लोगों का दमन करना अभी शेष था। थियान-शान पर्वतमाला के उत्तर मे हिंगनू लोगो का राज्य था, और वे चीन पर भी आक्रमण करते रहते थे। १२४ ईस्वी मे चीन की एक शक्तिशाली सेना ने हिंगनू राज्य पर आक्रमण किया, और कुची, अक्सु तथा उच तुर्फान के राजाओं ने इस युद्ध में चीन की सहायता की। इस दशा में हिंगनू लोग चीन के सम्मुख नहीं टिक सके और वे परास्त हो गए।

१८४ से २२४ ईस्वी तक का कुची का इतिहास अज्ञात है। इस काल के मध्य एशिया के राज्यों के इतिवृत्त के सम्बन्ध मे चीनी ग्रन्थों से कोई प्रकाश नहीं पडता। पर यह भरोसे के साथ कहा जा सकता है, कि इस एक सदी में कुची अत्यन्त शक्तिशाली व समृद्ध राज्य था, और उत्तरी मध्य एशिया के अन्य राज्य उसके आधिपत्य को स्वीकार करते थे। तीसरी सदी में चीन के साथ कुची का सम्बन्ध पुनःस्थापित हुआ, और कुची के राजाओं ने चीन के राजदरबार में अपने दूतमण्डल भेजने प्रारम्भ किए। यही कारण है, कि इस काल (२२४ ईस्वी) से चीन के ग्रन्थों में कुची का उल्लेख फिर से शुरू हो जाता है। तीसरी सदी मे कुची की क्या दशा थी, इसका परिचय चीन के एक ग्रन्थ के इस कथन से प्राप्त होता है, कि "कुची का राज्य लो-यांग से १६५६ मील दूर है। वहाँ के लोग नगरो मे निवास करते हैं। राजधानी के चारों ओर तीन प्राचीरें है। वहाँ बहुत-से बौद्ध स्तूप तथा संघाराम हैं, जिनकी संख्या १००० के लगभग है।" २८५ ईस्वी मे कुची के राजा ने अपने पुत्र को चीन के राजदरबार मे भेजा था, और चौथी सदी के पूर्वार्ध में भी कुची के राजदूत निरन्तर चीन जाते रहे।

पर कुची तथा चीन के सम्बन्ध देर तक मधुर नहीं रहे। ३८२ ई० में चीनी सम्राट् ने लू-कोआंग नामक सेनापति को ७०,००० सैनिकों के साथ कुची पर आक्रमण करने के लिए भेजा। कुची के राजा पो-शुन ने चीन की सैन्यशक्ति का मुकाबला करने के लिए भारी तैयारी की। दुर्ग के सब द्वार बन्द कर दिये गए, और सब नागरिकों को शस्त्र ग्रहण करने का आदेश दे दिया गया। पर लू-कोआंग की शक्तिशाली सेना के सम्मुख पो-शुन देर तक नहीं टिक सका। वह परास्त हो गया, और कुची से जो

बहुत-से व्यक्ति बन्दी बना कर चीन ले जाये गए, आचार्य कुमारजीव भी उनमे थे। उन्होंने चीन आकर बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया, उसका उल्लेख अन्यत्र यथास्थान किया जाएगा। युद्ध मे परास्त होकर कुची ने चीन के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया, और चीन के सम्राट् ने पो-शुन के स्थान पर उसके भतीजे पो-चेन को कुची की राजगद्दी पर बिठाया।

५२० ईस्वी मे सकलित बौद्ध ग्रन्थो से ज्ञात होता है, कि आचार्य कुमारजीव के समय मे कुची बौद्ध धर्म का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। वहाँ बहुत-से संघाराम तथा चैत्य विद्यमान थे, जिन्हे कलात्मक ढग से विभूषित किया गया था। राजप्रासाद के सम्मुख बुद्ध तथा बोधिसत्त्वो की मूर्तियां उसी ढग से प्रतिष्ठापित थी, जैसे कि सघारामो के बाहर होती हैं। कुची के सघारामो मे निवास करने वाले भिक्षुओ की सख्या १०,००० के लगभग थी। कुची के समान काशगर, अक्सु, उच-तुर्फान आदि मध्य-एशिया के अन्य राज्यो मे भी इस काल मे बौद्ध धर्म भली-भाति जड पकड चुका था।

लू-कोआग द्वारा परास्त होकर कुची के राजाओ ने चीन के साथ मैत्री-सम्बन्ध रखने तथा उसके आधिपत्य को स्वीकार करते रहने मे ही अपना हित समझा। इसीलिए छठी सदी के प्रथम चरण तक कुची के राजदूत निरन्तर चीन के राजदरबार मे जाते रहे, और वहाँ के सम्राट् को नानाविध भेंट-उपहारो द्वारा सन्तुष्ट करने के लिए प्रयत्नशील रहे। इस काल मे उत्तरी चीन पर वेई वश का शासन था, और उसके राजा मध्य एशिया के कुची आदि राज्यो को अपना वशवर्ती बनाकर रखने मे समर्थ थे।

सातवी सदी मे ताग वशी सम्राट् चीन मे अपना विशाल एव शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित करने मे सफल हुए थे। कुची इनके आधिपत्य मे था, और वहाँ के राजा चीन के राजदरबारो मे अनेकविध भेंट-उपहारो के साथ अपने दूत भेजते रहते थे। ६१८ ईस्वी मे कुची के राजा सू-फा-पोउ-किउ ने ताग वंशी सम्राट् काओत्सू की सेवा मे एक दूतमण्डल भेजा था। सू-फा-पोउ-किउ के उत्तराधिकारी सू-फा-ती द्वारा भी एक दूतमण्डल चीन भेजा गया था (६३० ई०)। कुची के इसी राजा के शासन काल मे ह्यु एन्-त्सांग ने कुची मे निवास किया था। सू-फा-ती के समय मे कुची मे बौद्ध धर्म की जो दशा थी, ह्यु एन्-त्साग के यात्राविवरण द्वारा वह भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है। उस समय कुची मे बहुत-से संघाराम विद्यमान थे, जिनमे हजारो भिक्षु निवास करते थे। सू-फा-ती के पश्चात् उसका अनुज हो-ली-पु-शे-पी कुची का राजा बना। ७४७ में उसने भी अपना दूतमण्डल चीन के राजदरबार मे भेजा था। पर इसी समय काराशहर (अग्निदेश) मे चीन के विरुद्ध विद्रोह हो गया, जिसमे कुची ने भी उसकी सहायता की। इस पर चीन द्वारा कुची पर भी आक्रमण किया गया, और उसके नगरो का बुरी तरह से ध्वंस किया गया। वहाँ के राजा हो-ली-पु-शे-पी को अनेक मन्त्रियो तथा उच्च राजकर्मचारियो के साथ कैद कर लिया गया, और उन सबको बन्दी बनाकर चीन भेज दिया गया। पर चीन कुची के साथ मैत्री-सम्बन्ध कायम रखने को इच्छुक था। अत कुछ साल पश्चात् हो-ली-पु-शे-पी को न केवल कैद से मुक्त ही कर दिया गया, अपितु कुची की राजगद्दी भी उसी को सौंप दी गई।

हो-ली-पु-शे-पी के बाद उसका पुत्र सू-फी कुची का राजा बना, और वह तथा उसके उत्तराधिकारी चीन के प्रति अपना सम्मान प्रगट करने के लिए अपने राजदूत वहाँ के सम्राट् की सेवा में भेजते रहे। ६९२ में कुची का राजा येन-तिऊन-तो स्वयं चीन गया, और उसने वहाँ के राजा को भेंट-उपहार अर्पित किए।

सातवी सदी के अन्त में तिब्बत की शक्ति बहुत बढ़ गई थी, और वहाँ के स्रोङ-वचन्-गम्स-पो, ख्रि-स्रोङ्-ल्दे-वचन् सदृश शक्तिशाली राजाओं ने पड़ोस के अन्य राज्यो को जीत कर अपनी शक्ति का विस्तार प्रारम्भ कर दिया था। आठवीं सदी के प्रारम्भ तक तकला मकान के दक्षिण में स्थित खोतन आदि विविध राज्य तिब्बत के आधिपत्य को स्वीकार करने लगे थे, और तिब्बती सेनाओं ने काराशहर (अग्निदेश) को भी आक्रान्त कर लिया था। पर कुची तिब्बत के अधीन नहीं हुआ, और वहाँ के राजाओ ने चीन के साथ अपने मैत्री-सम्बन्ध को पूर्ववत् कायम रखा। ७४० ईस्वी मे तो-त्सा कुची के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था। उसने अपने भाई को ७४७ और ७४८ मे दो बार चीन के राजदरबार मे भेजा था। ७४८ के बाद दसवी सदी के अन्त तक चीन के ग्रन्थो से कुची और चीन के राजनीतिक सम्बन्धो के विषय मे कोई सूचना प्राप्त नही होती। पर उनसे यह अवश्य ज्ञात हो जाता है, कि ७४८ के बाद भी कुची बौद्ध धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा। ७५१ मे चीन के सम्राट् द्वारा एक मण्डली भारत भेजी गई थी, जिसका नेता वू कोग था। उसे बौद्ध धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थो को प्राप्त करने और भारत के सम्बन्ध मे आवश्यक जानकारी प्राप्त करने का कार्य सुपुर्द किया गया था। भारत से वापसी यात्रा मे यह मण्डली काशगर होती हुई ७८८ ईस्वी मे कुची पहुँची। उन दिनो कुची के पश्चिमी द्वार के बाहर एक विशाल सघाराम था, जिसे 'उत्पल-विहार' कहते थे। इस विहार मे ऊ-ति-ति-सि-यू (उत्पल-शक्ति) नाम के एक महान् बौद्ध विद्वान् निवास करते थे। उन्हे चीनी तथा भारतीय भाषाओ का समुचित ज्ञान था। वू कोग ने आचार्य उत्पलशक्ति से दशबल सूत्र का चीनी भाषा मे अनुवाद करने की प्रार्थना की। वू कोग की प्रार्थना को स्वीकार कर आचार्य उत्पलशक्ति के दशबल सूत्र का जो अनुवाद किया, वह कोरिया के बौद्ध त्रिपिटक का अग है, और उसके कुछ अश तुङ्-ह्वाग् के गुहाविहारो से मिले है, जिनमे से कुछ को फ्रेंच विद्वान् पेलिओ ने प्राप्त किया था और कुछ को सर स्टाइन ने।

ग्यारहवी सदी मे चीन और कुची का सम्बन्ध पुनःस्थापित हुआ, और चीनी ग्रन्थो मे इस बात का उल्लेख है कि कुची के राजा किस प्रकार अपने दूत चीन के राजदरबार मे भेजते रहे। पर ग्यारहवी सदी मे कुची के जिन राजाओ का चीन के साथ सम्बन्ध था, वे वहाँ के पुराने राजवंश के न होकर जाति से उइगूर तुर्क थे। थियानशान पर्वतमाला के उत्तरी प्रदेशो मे निवासी करने वाली तुर्क जातियों (जो हूणो की ही अन्यतम शाखाएँ थी) ने आठवी व नवीं सदियो मे तारीम नदी की घाटी के राज्यो को आक्रान्त करना प्रारम्भ कर दिया था, और उन्हें जीतकर अपने शासन मे ले लिया था। अस्तु, तुर्फान और कुची आदि विविध राज्य इस काल मे उइगूर तुर्कों की अधीनता मे आ गए थे। राजनीतिक दृष्टि से विजेता होते हुए भी धर्म और

संस्कृति के क्षेत्र में तुर्क लोग इन राज्यो द्वारा परास्त हो गए थे, और उन्होंने बौद्ध धर्म को अपना लिया था। इस कारण कुचा आदि राज्य तुर्कों के अधीन हो जाने पर भी बौद्ध धर्म तथा भारतीय संस्कृति के वैसे ही केन्द्र बने रहे, जैसे कि वे पहले थे। १०६६ में कुची के तुर्क राजा ने चीन के सम्राट् के राजदरबार मे जो दूतमण्डल भेजा था, उसके हाथ भेजे गए अन्य उपहारो में भगवान् बुद्ध की एक मूर्ति भी थी जो जेड द्वारा निर्मित थी।

मध्य एशिया मे इस्लाम का प्रवेश किस प्रकार हुआ और वहाँ के तुर्क शासकों ने कैसे मुसलिम धर्म को अपनाना प्रारम्भ किया, इस पर इसी अध्याय मे ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है। बारहवी सदी में कुची मे भी इस्लाम के प्रचार का सूत्रपात हुआ, और शीघ्र ही वहाँ के बहुसख्यक निवासी मुसलमान बन गए। जनता को मुसलमान बनाने के लिए शस्त्रशक्ति का भी प्रयोग किया गया, और बहुत-से बौद्ध भिक्षुओं, स्थविरों, आचार्यों तथा विद्वानो को तलवार के घाट उतार दिया गया। 'चीनी तुर्किस्तान की भूमिगर्भगत निधियाँ' (Buried Treasures of Chinese Turkistan) नामक पुस्तक में जर्मन विद्वान् ल कॉक ने लिखा है, "हमने एक रोमाचकारी आविष्कार किया। इस घर के प्रवेश द्वार को दीवार बनाकर बन्द कर दिया गया था। घर की छत कितने ही स्थानो से गिर गई थी।...सब चीजें देख चुकने के अनन्तर हमने फर्श की ओर ध्यान दिया, जिस पर पुरानी मेहराबी छत के अवशेष पडे हुए थे। वहाँ हमें बहुत-से पुरुषो के शवो का अस्त-व्यस्त ढेर दिखायी दिया। इन शवो की संख्या कुछ सौ थी। कपडो को देखने से ये शव बौद्ध भिक्षुओ के प्रतीत होते थे। उनकी ऊपर की तह सुरक्षित दशा मे थी। उनकी चमडी, केश, सूखी आँखें, भयकर घाव, जिनके कारण उनकी मृत्यु हुई थी, सब मौजूद थे और उन्हे पहचाना जा सकता था। हमने एक खोपडी को विशेष रूप से देखा, जिसे सिर से दाँतो तक भयकर रूप से तलवार द्वारा काट दिया गया था।" इसमे सन्देह नही, कि मध्य एशिया के विविध प्रदेशों से बौद्ध धर्म तथा भारतीय संस्कृति का अन्त करने के लिए मुसलमानो ने शस्त्र-शक्ति का भी प्रयोग किया था। बारहवी सदी में कुची से भी बौद्ध धर्म का अन्त हो गया, और मध्य एशिया के अन्य राज्यो के समान वहाँ भी इस्लाम का उत्कर्ष होने लग गया।

चीन के प्राचीन ग्रन्थो द्वारा कुची के राजनीतिक इतिहास के सम्बन्ध मे जो बाते ज्ञात होती हैं, उन्ही का हमने यहाँ उल्लेख किया है। चीनी ग्रन्थों मे कुची के राजाओ के जो नाम दिये गए हैं, वे उनके वास्तविक नामो के चीनी रूप हैं। कुची से जो अनेक अभिलेख संस्कृत तथा वहाँ की अपनी भाषा मे मिले हैं, उनमे इन राजाओ के असली नाम भी दिए गए हैं। संस्कृत लेखों मे कुची के राजाओ के साथ कुचीश्वर, कुचिमहाराजा, कौचेय और कौचेयनरेन्द्र सदृश विशेषणो का प्रयोग किया गया है। कुची की अपनी भाषा मे वहाँ के एक राजा का नाम 'स्वर्णते' एक अभिलेख में उल्लिखित है। स्वर्णते स्पष्टत. संस्कृत का शब्द है, जिसका मूल संस्कृत रूप सम्भवत: स्वर्णदत्त था। इसी राजा को चीनी ग्रन्थों में सु-फा-ती कहा गया है, कुची मे जिसका शासन सातवीं

सदी के प्रथम चरण मे था, और जिसके शासनकाल में ह्यु एन-त्सांग ने कुची की यात्रा की थी। सू-फा-ती के बाद उसका जो अनुज कुची के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था, चीनी ग्रन्थों में उसका नाम हो-ली-पु-शे-पो दिया गया है। यह नाम संस्कृत के हरिपुण्य का चीनी रूपान्तर है। हिगनू लोगों की सहायता से कुची के राजकुल ने जिस श्रेन-तु को अपने देश का राजा बनाया था, उसका संस्कृत नाम सिल्वुक था। केवल राजाओं के ही नाम नहीं, अपितु कुची के सर्वसाधारण नागरिकों के नाम भी संस्कृत-मूलक थे। वहाँ के अभिलेखों में वीर्यमित्र, वीर्यसेन, ज्ञानसेन, मोक्षचन्द्र आदि अनेक नाम पाये जाते हैं, जिनसे कुची के निवासियों में भारतीय भाषा तथा संस्कृति की सत्ता के सम्बन्ध मे कोई सन्देह नहीं रह जाता। पहली सदी ईस्वी पूर्व से ग्यारहवी सदी तक कोई १२०० साल कुची का राज्य भारत के सास्कृतिक साम्राज्य के अन्तर्गत रहा, यद्यपि उसमें अनेक राजनीतिक उथल-पुथल होती रही।

(५) काराशहर (अग्निदेश) और काओशांग (तुर्फान)

तकलामकान की मरुभूमि के उत्तर में जो अनेक राज्य प्राचीन समय में विद्यमान थे, उनमें चार अधिक महत्त्व के थे—पोलिकिआ (भरुक), कि-ऊचे (कुची), अ-कि-नि (अग्नि) और काओशाग (तुर्फान)। इन सब मे भारतीय धर्म तथा संस्कृति का प्रचार था। कुची इनमे सबसे अधिक शक्तिशाली था। इसीलिये चीन के प्राचीन ग्रन्थों में उसके सम्बन्ध मे बहुत-सा इतिवृत्त विद्यमान है, जिसका उल्लेख पिछले प्रकरण मे किया जा चुका है। भरुक के विषय मे अधिक सूचनाएँ चीनी ग्रन्थों में नहीं पायी जाती। इस राज्य की स्थिति कुची के पश्चिम मे थी, और इसके राजा प्रायः कुची की अधीनता स्वीकार करते थे। कुची के पूर्व मे स्थित अग्निदेश और तुर्फान के राज्य चीन के अधिक समीप थे, और चान के शक्तिशाली सम्राटो ने उन्हे भी अपना आधिपत्य स्वीकृत करने के लिए विवश किया था। अत: स्वाभाविक रूप से इन राज्यों के राजनीतिक इतिहास के सम्बन्ध मे कतिपय सूचनाएँ प्राचीन चीनी ग्रन्थों में विद्यमान हैं।

हानवंश के सम्राट् वू-ती (१४०-८७ ई० पू०) के समय में अग्निदेश चीन के प्रभुत्व को स्वीकार करता था, और वहाँ के राजा ने अपना दूतमण्डल हान सम्राट् की सेवा मे प्रेषित किया था। पर बाद में अग्निदेश स्वतन्त्र हो गया, क्योंकि पहली सदी ईस्वी मे हानवंश की शक्ति क्षीण होने लग गई थी। ७५ ईस्वी मे अग्निदेश ने चीन के आधिपत्य के विरुद्ध स्पष्ट रूप से विद्रोह कर दिया, और वहाँ चीन की ओर से जो शासक नियुक्त था उसकी हत्या कर दी। इस समय पान-छाओ नामक चीनी सेनापति तकलामकान मरुभूमि के उत्तर मे विद्यमान विविध राज्यों को चीन का वशवर्ती बनाने के लिए प्रयत्नशील था। अपने देश के शासक की हत्या को वह सहन नहीं कर सका। एक बड़ी सेना को साथ लेकर उसने अग्निदेश पर आक्रमण किया, उसके नगरों को उसने बुरी तरह से ध्वंस किया और जनता पर घोर अत्याचार किए। अग्निदेश का राजा कुआंग भी चीनी सेनाओ से युद्ध करते हुए मारा गया। रणक्षेत्र में परास्त होकर अग्निदेश ने चीन की अधीनता पुन: स्वीकार कर ली। ९४ ईस्वी में कुआंग मोंग

नामक एक व्यक्ति को चीन द्वारा अग्निदेश के राजा के पद पर अभिषिक्त किया गया। युआंग मोग का सम्बन्ध अग्निदेश के पुराने राजकुल के साथ था, अत जनता को भी उसे राजा मानने मे कोई आपत्ति नही हुई। कुछ समय तक चीन की अधीनता मे अग्निदेश का शासन करने के अनन्तर युआग मोग ने भी अपनी प्रभुसत्ता की घोषणा कर दी (१२१ ईस्वी), पर चीन की शक्ति के सम्मुख टिक सकना उसके लिए सम्भव नही हुआ। १२७ मे एक चीनी सेना ने अग्निदेश पर आक्रमण किया, और युआग मोग को चीनी सम्राट् के आधिपत्य को स्वीकृत करने के लिए विवश किया। उसने अपने पुत्र को बहुत-से बहुमूल्य भेंट-उपहारो के साथ चीन के राजदरबार मे प्रेषित किया, और इस समय से अग्निदेश पूर्णतया चीन का वशवर्ती हो गया।

अग्निदेश के राजनीतिक इतिहास की जो घटनाएँ चीनी ग्रन्थो द्वारा ज्ञात होती है, उन्हे यहाँ उल्लिखित करने का विशेष लाभ नही है। कुची के समान अग्निदेश मे भी समय-समय पर चीन के विरुद्ध विद्रोह होते रहे, पर प्राय वह चीन के प्रभुत्व को स्वीकार करता रहा। सातवी सदी के अन्तिम भाग मे उइगूर तुर्कों ने अग्निदेश पर आक्रमण प्रारम्भ किए। चीनी सेनाएँ उनका मुकाबला नही कर सकी। इस दशा मे अग्निदेश के राजाओ ने यह उपयोगी समझा, कि उइगूर तुर्कों के साथ सन्धि व मैत्री-सम्बन्ध स्थापित कर ले। इसका परिणाम यह हुआ कि चीन के साथ अग्निदेश के सम्बन्ध की समाप्ति हो गई। ताग वश के शक्तिशाली सम्राटो ने अग्निदेश को पुन चीन का वशवर्ती बनाने मे सफलता प्राप्त की, और ७५५ ईस्वी तक उसके दूतमण्डल चीन के राजदरबार मे जाते रहे। ७५५ मे तिब्बत ने अग्निदेश पर आक्रमण किया और उसे परास्त कर अपनी प्रभुता को स्वीकार करने के लिए विवश किया। इस समय से चीन के साथ अग्निदेश के सम्बन्ध की समाप्ति हो गई। चीनी ग्रन्थो मे इसके बाद अग्निदेश के इतिहास के विषय मे कोई सूचनाएँ उपलब्ध नही है।

प्राचीन काल मे जहाँ अग्निदेश (अ-कि-नि) की स्थिति थी, वही आजकल काराशहर विद्यमान है। इसीलिए हम पहले अनेक स्थानो पर अग्निदेश का उल्लेख काराशहर के नाम से भी करते रहे हैं।

काराशहर या अग्निदेश के पूर्व-उत्तर मे काओशाग राज्य की स्थिति थी, जिसके दो भाग थे। थियानशान पर्वतमाला के दक्षिण मे इस देश का जो भाग था उसे तुर्फान कहते थे, और उत्तर मे विद्यमान भाग का नाम गुचेन था। तुर्फान और गुचेन पहले एक ही राज्य के अन्तर्गत थे, जिसे चीनी ग्रन्थो मे किउ-शे नाम से लिखा गया है। पर बाद मे यह राज्य दो भागो मे विभक्त हो गया। उत्तरी भाग (गुचेन) पर हूणो की अन्यतम शाखा हिंगनू लोगो ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया, और दक्षिणी भाग (तुर्फान) को चीन ने अपना वशवर्ती बना लिया। हूण (हिंगनू) लोगो की चीन से पुरानी शत्रुता थी। उन्ही से अपने देश की रक्षा करने के लिए चीन की प्रसिद्ध दीवार का निर्माण किया गया था। अब यह काओशाग प्रदेश हूणो और चीन के संघर्ष का क्षेत्र बन गया। ८६ ईस्वी मे हिंगनू (हूण) लोग चीनियो द्वारा परास्त हो गये, और कुछ समय के लिए गुचेन भी चीन के अधीन हो गया। पर यह स्थिति देर

तक कायम नही रही। शीघ्र ही, गुचेन के हिगनू शासकों ने चीन के जुए को उतार फेंका, और तुर्फान पर आक्रमण कर दिया। चीन की सहायता से ही तुर्फान अपनी रक्षा कर सकने में समर्थ हुआ। ६३ ईस्वी में गुचेन द्वारा प्रचण्ड रूप से तुर्फान पर आक्रमण किया गया, जिससे अपने देश की रक्षा के लिए वहाँ के राजा वेई-म्रेई-ता ने चीन की शरण ली। चीन की प्रभुता को स्वीकार करके ही वह गुचेन से अपनी रक्षा करने मे समर्थ हुआ। इस समय से तुर्फान के राजा अपने दूतमण्डल निरन्तर चीन के राजदरबार में भेजते रहे, और नानाविध भेंट-उपहार अर्पण कर वहाँ के सम्राट् को सन्तुष्ट करते रहे। २८० ई० में तुर्फान के राजा ने अपने पुत्र को चीन के दरबार मे भेजा, और ३८६ ई० मे तुर्फान का राजा मी-ती स्वय भी चीन गया। वह अपने गुरु कुमारबुद्धि को भी अपने साथ चीन ले गया था, जिसकी विद्वत्ता तथा सदाचारमय जीवन की सर्वत्र ख्याति थी। उन दिनो तुर्फान बौद्ध धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। तुर्फान चीन के अधिक समीप था, अत: स्वाभाविक रूप से इन दोनो देशो मे घनिष्ठ सम्बन्ध विकसित हो गया था, और तुर्फान को चीन का सरक्षण पूर्ण रूप से प्राप्त था।

नवी सदी मे उइगूर तुर्कों ने तुर्फान को भी अपने अधीन कर लिया। इससे कुछ समय पूर्व तुर्क लोग कुची को अपनी अधीनता मे ला चुके थे। उइगूर तुर्कों ने करखेजा नामक स्थान पर अपनी नई राजधानी स्थापित की, जिसके खण्डहर इस समय भी विद्यमान है। तुर्कों के कारण अब तुर्फान का चीन से सम्बन्ध समाप्त हो गया था।

अग्निदेश और काश्गार के राजाओ के जो नाम चीनी ग्रन्थो मे मिलते हैं, वे उनके वास्तविक नामो के चीनी रूपान्तर हैं। पर उनके मूल सस्कृत नाम इन्द्रार्जुन और चन्द्रार्जुन सदृश थे, और वहाँ की भाषा तथा लिपि भी सस्कृत एव भारतीय लिपियो पर आधारित थी।

मध्य एशिया के इन राज्यो पर उत्तर, पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण सब ओर से निरन्तर आक्रमण होते रहे। वू-सुन, ज्वान-ज्वान, युइशि, हिगनू, श्वेत हूण, उइगूर तुर्क आदि कितनी ही जातिया इन्हे आक्रान्त करती रही, और चीन तथा तिब्बत के शक्तिशाली सम्राट् भी इन्हे अपनी अधीनता मे ले आने के लिए प्रयत्नशील रहे। पर इससे इनकी सस्कृति, भाषा, धर्म व जीवन मे कोई विशेष परिवर्तन नही आया। इनके सम्पर्क से आक्रान्ता जातियो ने भी बौद्ध धर्म को अपनाया और भारत के सास्कृतिक जीवन को उन्होने आत्मसात् किया। इसी कारण १२०० के लगभग वर्षों तक ये सब राज्य भारतीय सस्कृति तथा धर्म के केन्द्र बने रहे। इनके इस स्वरूप मे तब परिवर्तन आया, जबकि इस्लाम का वहाँ प्रवेश हुआ।

(६) कुची में बौद्ध धर्म का उत्कर्ष

तकलामकान की मरुभूमि के उत्तर मे स्थित सभी राज्यों मे बौद्ध धर्म का प्रचार था। पर इन राज्यो मे जैसे राजनीतिक दृष्टि से कुची सर्वप्रधान था, वैसे ही धर्म के क्षेत्र मे भी उसकी स्थिति सर्वोपरि थी। वहाँ बहुत-से ऐसे सघाराम विद्यमान थे, जिनमे हजारो भिक्षु निवास करते थे और जिनके स्थविर, आचार्य, भिक्षु और अर्हत् अपने

ज्ञान, अध्ययन तथा सदाचारमय जीवन के लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध थे। चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार करने मे कुची के बौद्ध प्रचारकों का प्रमुख स्थान था। यही कारण है, कि प्राचीन चीनी ग्रन्थो द्वारा कुची के बौद्ध विद्वानो के सम्बन्ध मे बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं।

कुची में बौद्ध धर्म का प्रचार सम्भवतः पहली या दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में प्रारम्भ हुआ था। पर इसमे सन्देह नही, कि तीसरी सदी ईस्वी पश्चात् तक वहाँ यह धर्म सुचारु रूप से प्रचारित व स्थापित हो चुका था। चीन के चिन वंश (२६५-३१६ ई० प०) के जो इतिहासविषयक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनसे सूचित होता है, कि इस काल में कुची मे १००० के लगभग विहार व चैत्य विद्यमान थे। यही वह समय था, जबकि कुची के बौद्ध प्रचारको ने चीन जाना प्रारम्भ किया था। इनमे प्रथम स्थान पो-येन का है, जो कुची के राजकुल मे उत्पन्न हुआ था। सासारिक सुख-वैभव का परित्याग कर उसने भिक्षुव्रत ग्रहण कर लिया था, और २५३ ई० मे वह बौद्ध धर्म का प्रचार करने के प्रयोजन से चीन गया था। चीन की तत्कालीन राजधानी लो-यान के श्वेताश्व विहार मे रहकर पो-येन ने छः बौद्ध ग्रन्थो का चीनी भाषा मे अनुवाद किया था। ३०७ ईस्वी मे श्रीमित्र नाम का कुची का एक विद्वान् चीन गया और दक्षिणी चीन मे रहकर उसने तीन बौद्ध ग्रन्थो का चीनी भाषा मे अनुवाद किया। चौथी सदी मे कुची मे बौद्ध धर्म किस दशा मे था, इसका अनुमान इस काल के एक चीनी ग्रन्थ के इस कथन से किया जा सकता है, कि कुची में बहुत-से चैत्य तथा विहार विद्यमान थे, जिनमें चार विहार प्रधान थे। ता-मू विहार मे १७० भिक्षुओं का निवास था, और पो-शान पर्वत पर निर्मित चे-हू-ली विहारो मे ५० और ६० भिक्षु निवास करते थे। इनके अतिरिक्त एक अन्य नया विहार वहाँ था, जिसका निर्माण कुची के राजा ने करवाया था। इन चारो विहारो की व्यवस्था व प्रबन्ध बुद्धस्वामी नामक बौद्ध विद्वान् के अधीन थे। इन विहारो मे विनय पिटक द्वारा प्रतिपादित अनुशासन-सम्बन्धी नियमो का सूक्ष्मता के साथ पालन किया जाता था, और कोई भिक्षु एक स्थान पर तीन मास से अधिक समय तक नहीं रह सकता था। चीनी ग्रन्थो के अनुसार बुद्धस्वामी के अधीन तीन ऐसे विहार भी थे, जो भिक्षुणियो के निवास के लिए थे। इनमें आरण्यक विहार मे १८० भिक्षुणियो, लिउन-जो-कान विहार मे ५० भिक्षुणियां और अ-ली-पो विहार मे ३० भिक्षुणियाँ निवास करती थी। इन सब भिक्षुणियों का सम्बन्ध कुची के राजकुल व अन्य सम्भ्रान्त परिवारों के साथ था, और बुद्ध में अगाध श्रद्धा के कारण ही इन्होंने भिक्षुणी व्रत ग्रहण किया था। आचार्य बुद्धस्वामी द्वारा ५०० ऐसे नियमों का निर्धारण किया गया था, जिनका अविकल रूप से पालन करना इन भिक्षुणियो के लिए अनिवार्य था।

बुद्धस्वामी हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायी थे। पर उनका अन्यतम शिष्य कुमार नाम का था, जो महान् विद्वान् था। यही वह प्रसिद्ध कुमारजीव था, जिसने चीन में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए अनुपम कार्य किया और बहुत-से बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा मे अनुवाद किया। कुमारजीव हीनयान सम्प्रदाय का त्याग कर

महायान सम्प्रदाय के अनुयायी हो गए थे, और महायान के आचार्यों में उनका स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। कुमारजीव के पिता का नाम कुमारायन था। वे भारत के एक राजकुल में उत्पन्न हुए थे, और बौद्ध धर्म की उच्च शिक्षा ग्रहण कर कुची में बस गए थे। कुची के राजा ने उन्हें राजगुरु के पद पर नियुक्त किया, पर वे देर तक भिक्षु नहीं रह सके। राजकुमारी जीवा से उनका प्रेम हो गया और उन्होंने भिक्षु जीवन को त्याग कर जीवा से विवाह कर लिया। कुमारजीव की माता कुची की थी और पिता भारतीय थे। इस प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य का प्रधान कार्यक्षेत्र चीन में रहा था, अतः इनकी जीवनी का अधिक विशद रूप से परिचय "चीन के साथ भारत का सांस्कृतिक सम्बन्ध" अध्याय में दिया जायेगा। यहाँ इतना लिख देना ही पर्याप्त है, कि कुमारजीव ने काश्मीर में निवास कर बन्धुदत्त नामक विद्वान् से बौद्ध धर्म के मध्यम आगम और दीर्घ आगम (मज्झिम निकाय और दीर्घनिकाय) की शिक्षा ग्रहण की थी, और काशगर में रहकर वेद-वेदांग, दर्शन, ज्योतिष और अभिधम्म पिटक की। काशगर में उनके गुरु बुद्धयश नामक विद्वान् थे। कुमारजीव अभी काशगर में ही रह रहे थे, कि उनकी विद्वत्ता तथा ज्ञान की कीर्ति दूर-दूर तक फैल गई, और चोक्कुक (यारकन्द) के राजा स्सान-क्युिन ने अपने दो पुत्रों को उनके पास विद्याध्ययन के लिए भेजा। इन कुमारों के नाम सूर्यभद्र और सूर्यसोम थे। काशगर के बाद कुमारजीव उच-तुर्फान गए, जहाँ साम्मी सम्प्रदाय के एक विद्वान् को उन्होंने शास्त्रार्थ में परास्त किया। उच-तुर्फान की स्थिति कुची राज्य की पश्चिमी सीमा पर थी। कुची के राजा पो-शुन को जब कुमारजीव के उच-तुर्फान पधारने का समाचार ज्ञात हुआ, तो वह उन्हें अपनी नगरी में निमन्त्रित करने के लिए स्वयं वहाँ गया और बड़े सम्मान के साथ उन्हें कुची ले आया। कुमारजीव की विद्वत्ता तथा सदाचारमय जीवन से पो-शुन की पुत्री अक्षयमति बहुत प्रभावित हुई। उसे कुमारजीव ने महासन्निपात सूत्र तथा महावैपुल्य सूत्र का उपदेश दिया और उसने सांसारिक सुखवैभव को त्याग कर भिक्षुणीव्रत ग्रहण कर लिया। अब कुमारजीव पो-शुन द्वारा कुची में निर्मित नए राजकीय विहार में निवास करने लगे। इसी समय विमलाक्ष नामक विद्वान् काश्मीर से कुची पधारे। कुमारजीव ने उनसे सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के विनय पिटक का अध्ययन किया, और उनकी विद्वत्ता से लाभ उठाया।

पर कुमारजीव देर तक कुची में नहीं रह सके। ३८२ ईस्वी में चीनी सेनापति लू-कोम्रॉन ने कुची पर आक्रमण किया, और वहाँ से बहुत-से लोगों को बन्दी बनाकर वह चीन ले गया। कुमारजीव भी उनमें एक थे। पर वे देर तक बन्दी नहीं रहे। उनकी विद्वत्ता की कीर्ति सुनकर चीन के सम्राट् ने उन्हें अपने राजदरबार में निमन्त्रित किया। अब वे चांग-गान में रहकर बौद्ध धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थों का अनुवाद करने में तत्पर हुए, और अपना शेष जीवन उन्होंने चांग-गान में ही व्यतीत किया। विमलाक्ष, बुद्धयश आदि अनेक विद्वान्, जिनसे कभी कुमारजीव ने शिक्षा ग्रहण की थी, अब चांग-गान आ गए और अनुवाद कार्य में उनकी सहायता करने लगे। कुमारजीव महायान सम्प्रदाय के महान् आचार्य थे। तारीम नदी के क्षेत्र में इस सम्प्रदाय का

प्रवेश उन्ही के द्वारा हुआ था, और उन्होने ही चीन मे भी इस सम्प्रदाय का सूत्रपात किया था।

छठी सदी के अन्त मे धर्मगुप्त नामक भारतीय आचार्य कुची गया, और वह वहाँ के राजकीय नवविहार मे दो वर्ष तक रहा। फिर वह भी चीन चला गया। ६३० ई० मे ह्यु एन्-त्साग कुची गया था। वहाँ उसने बौद्ध धर्म को अत्यन्त समृद्ध दशा मे पाया। उस समय वहाँ १०० सघाराम थे, जिनमे ५००० के लगभग भिक्षुओ का निवास था। आठवी सदी मे भी कुची मे बौद्ध धर्म बहुत फल-फूल रहा था। ७५१ ई० मे वू कोग नामक चीनी विद्वान् भारत से लौटता हुआ कुची गया था, और वह वहाँ के उत्पल विहार मे ठहरा था। उस समय वहाँ एक उद्भट विद्वान् निवास करते थे, जिनका नाम ऊ-ति-ति-सि-यू (उत्पलशक्ति) था। वू कोग की प्रेरणा से उन्होने दशबल सूत्र का चीनी भाषा मे अनुवाद किया। जब उइगूर तुर्कों ने कुची मे अपना आधिपत्य स्थापित कर वहाँ की शासन-शक्ति भी अपने हाथो मे ले ली, तब भी वहाँ बौद्ध धर्म की स्थिति मे कोई अन्तर नही आया। भगवान् तथागत का धर्म वहाँ पूर्ववत् फलता-फूलता रहा, और तुर्को ने भी इस धर्म को अपना लिया।

कुची के समान काराशहर (तुर्फान) और अक्सू भी बौद्ध धर्म के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। ह्यु एन्-त्साग ने लिखा है, कि काराशहर मे १० सघाराम विद्यमान थे, जिनमे २००० भिक्षु निवास करते थे। अक्सू मे भी सघारामो की सख्या १० थी, यद्यपि वहाँ केवल १००० भिक्षुओ का निवास था। इन सब सघारामो के स्थविर और भिक्षु सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के अनुयायी थे, और सस्कृत ग्रन्थो के पठन-पाठन मे तत्पर रहते थे। भिक्षु जीवन के नियमो का ये अविकल रूप से पालन करते थे, और इनका जीवन अत्यन्त सदाचारमय था।

(७) तुखारिस्तान (तुखार देश), सुग्ध और खोतन

कुची के समान तुखारिस्तान और सुग्ध भी बौद्ध धर्म के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। तुखार देश की स्थिति भारत और ईरान के बीच मे थी, और बदख्शाँ तथा बल्ख के प्रदेश उसके अन्तर्गत थे। तीसरी सदी ईस्वी पूर्व तक इस दश मे तुखार जाति का प्रवेश नही हुआ था। तब वहाँ आर्य जाति की कतिपय शाखाएँ बसी हुई थी, और उनकी भाषा तथा धर्म आदि का भारत तथा ईरान के आर्यों से सादृश्य था। ईरान के हखामनी सम्राट् बदख्शाँ तथा बल्ख के प्रदेशो को अपने साम्राज्य मे सम्मिलित करने मे समर्थ हुए थे, और सिकन्दर की विजयो के पश्चात् बल्ख के क्षेत्र मे एक यवन (ग्रीक) राज्य स्थापित हो गया था, जिसे बैक्ट्रिया (बाल्त्री) कहते थे। दूसरी सदी ई० पू० मे मध्य एशिया के क्षेत्र मे जातियो की जो हलचल प्रारम्भ हुई, उसका उल्लेख इसी अध्याय मे ऊपर किया जा चुका है। हूणो द्वारा धकेले जाकर युइशि जाति ने पश्चिम की ओर प्रस्थान किया, और फरगाना, काशगर तथा ताशकन्द को आक्रान्त किया। वहाँ उस समय शक लोगो का निवास था। युइशियो के आक्रमण से विवश होकर शको ने अपने अभिजन का परित्याग कर दक्षिण दिशा में अग्रसर होना प्रारम्भ

किया और बैक्ट्रिया के यवन (ग्रीक) राज्य को जीत लिया। पर युइशियों ने वहाँ भी शकों का पीछा नहीं छोड़ा, और दूसरी सदी ई० पू० का अन्त होने से पहले ही बैक्ट्रिया (बल्ख) को शकों से छीन लिया। अब यह प्रदेश युइशि लोगों के हाथों में आ गया, और इन्हीं लोगों ने आगे चलकर उस विशाल कुशाण साम्राज्य की स्थापना की, जिसमें बल्ख, सुग्ध, गान्धार और उत्तरी भारत के अतिरिक्त मध्य एशिया के भी अनेक प्रदेश सम्मिलित थे। युइशि लोग भी विशाल शक जाति की ही अन्यतम शाखा थे, यह ऊपर लिखा जा चुका है। हूणों द्वारा धकेले जाकर युइशियों ने जब पश्चिम की ओर आगे बढ़ना प्रारम्भ किया था, तो सबसे पहले वे तारीम नदी के उत्तर तथा श्वेत पर्वत के दक्षिण के उस प्रदेश में प्रविष्ट हुए थे, जहाँ तुखार जाति का निवास था। युइशियों के समान तुखार भी शक जाति के थे, और युइशियों से वे बहुत भिन्न नहीं थे। तुखारों को जीत कर युइशि लोग उनके प्रदेश में बस गये, और शीघ्र ही उनमें मिल-जुल गये। पर हूणों ने तारीम नदी के प्रदेश में भी उन्हें चैन से नहीं रहने दिया। उन्हीं से आक्रान्त होकर युइशि और तुखार लोग पश्चिम के उन प्रदेशों की ओर प्रस्थान करने के लिए विवश हुए थे, जहाँ शक जाति की मुख्य शाखा का निवास था। इन शकों को दक्षिण की ओर धकेल कर युइशि-तुखार उनके प्रदेश में आबाद हो गये, और फिर बल्ख (बैक्ट्रिया) के यवन-राज्य को भी उन्होंने अपने अधीन कर लिया। युइशि-तुखारों के आबाद हो जाने के कारण ही यह प्रदेश तुखार देश या तुखारिस्तान कहाने लगा। इस तुखार देश में बदख्शाँ और बल्ख के प्रदेश तो अन्तर्गत थे ही, पर वंक्षु और सीर नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश का बड़ा भाग भी इसमें सम्मिलित था। ह्युएन्त्सांग ने इस देश का वर्णन करते हुए लिखा है, कि इसके उत्तर में दरबन्त (बदख्शाँ के समीप), दक्षिण में हिन्दूकुश पर्वत, पश्चिम में पर्शिया और पूर्व में पामीर की पर्वतमाला थी। चीन के प्राचीन ग्रन्थों में इस देश को ता-ह्निआ कहा गया है। प्राचीन भारतीय साहित्य (रामायण, महाभारत, सद्धर्म-स्मृत्युपस्थान आदि) में भी तुखार जाति का उल्लेख मिलता है, जिसका परिगणन शक, ऋषिक आदि के साथ किया गया है। क्योंकि युइशि-तुखार लोग शकों को परास्त तथा बहिष्कृत कर इस प्रदेश में बस गये थे, अतः यह तुखारदेश कहाने लगा, और अरब लोग जब इसके सम्पर्क में आये, तो वे इसे तुखारिस्तान कहने लगे। वहाँ युइशि-तुखारों ने अपने अनेक राज्य कायम किए, आगे चलकर कुशाणवंश के राजाओं ने जिन्हें जीतकर अपने अधीन कर लिया, और एक शक्तिशाली व सुविस्तृत साम्राज्य की स्थापना की। पाँचवीं सदी तक तुखारिस्तान कुशाणों के शासन में रहा।

तुखार देश भी बौद्ध धर्म का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। दूसरी सदी ईस्वी पूर्व तक वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार हो चुका था, और वहाँ के युइशि-तुखारों ने भी इस धर्म को अपना लिया था। इस देश में बौद्ध धर्म के प्रचार का वर्णन करते हुए ह्युएन्त्सांग ने एक प्राचीन अनुश्रुति का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार त्रपुस और भल्लिक द्वारा इस देश में बौद्ध धर्म का सूत्रपात किया गया था। ये दोनों वाह्लीक (बल्ख) के निवासी थे, और व्यापार इनका पेशा था। व्यापार के लिए यात्रा करते

हुए ये जब गया (मगध में) पहुँचे, तो गौतम बुद्ध वहाँ विराजमान थे, और उन्हें बोध (ज्ञान प्राप्ति) हुए अभी अधिक समय नही हुआ था। त्रपुस और भल्लिक बुद्ध के दर्शन के लिए गए, और मधु तथा कतिपय अन्य खाद्य पदार्थ उन्हें भेंट किए। साथ ही, उन्होने बुद्ध का शिष्य बन जाने का भी निश्चय किया। उन्होने भिक्षुव्रत तो ग्रहण नहीं किया, पर उपासक की स्थिति मे वे बुद्ध के शिष्य बन गए। जब वे विदा होने लगे, तो बुद्ध ने उन्हें अपने नख और केश प्रदान किये, त्रपुस और भल्लिक जिन्हें अपने साथ बल्ख ले गए, और उन पर उन्होने स्तूपों का निर्माण कराया। ह्यु एन्-त्सांग ने अपने यात्रा-विवरण मे इन स्तूपो का भी वर्णन किया है, जो कि बल्ख (बाह्लीक नगरी) के समीप विद्यमान थे। अशोक द्वारा उत्कीर्ण कराए गए शिलालेखों मे उन देशो का परिगणन किया गया है, जहाँ धर्म-महामात्रो की नियुक्ति की गई थी और धर्म द्वारा जिनकी विजय के लिए अशोक ने प्रयत्न किया था। कम्बोज और योन (यवन) देश भी इनमे है। बौद्धो की तीसरी महासभा की समाप्ति पर विभिन्न देशों मे बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए जो आयोजन आचार्य मोग्गलिपुत्त तिस्स के नेतृत्व मे किया गया था, महावंसो के अनुसार उसमे गान्धार तथा यवन देशो में भी प्रचारक भेजे गए थे। इससे यह सहज मे अनुमान किया जा सकता है, कि तीसरी सदी ईस्वी पूर्व मे अशोक के समय मे भी कतिपय बौद्ध स्थविर एव भिक्षु धर्म-प्रचार के लिए बल्ख मे गए होगे, जो उस समय यवनो (ग्रीक लोगो) के शासन मे था। दूसरी सदी ईस्वी पूर्व मे जब युइशि-तुखार इस देश मे प्रविष्ट हुए, तो यह बौद्ध धर्म का केन्द्र बन चुका था, और वहाँ के अनेक बौद्ध आचार्य व भिक्षु समीप के अन्य देशो में भी धर्म प्रचार के लिए जाने लग गए थे। बल्ख के बौद्धो के सम्पर्क में आकर युइशि-तुखारो ने भी बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया, और कनिष्क जैसे कुशाण सम्राट् ने तो इस धर्म के प्रचार के लिए सक्रिय रूप से भाग लिया। मध्य एशिया के खोतन, कुची आदि राज्यों और फिर चीन मे बौद्ध धर्म का जो प्रचार हुआ, उसमे बल्ख के निवासियो का कर्तृत्व अत्यन्त महत्त्व का था। बल्ख और उसके समीपवर्ती प्रदेशो के ये निवासी प्राय युइशि-तुखार थे, और बौद्ध धर्म मे इनकी अगाध श्रद्धा थी।

कुशाणों के काल मे तुखार देश के दो बौद्ध विद्वान् बहुत प्रसिद्ध हुए हैं, घोषक और धर्ममित्र। कुशाण राजा कनिष्क ने आचार्य पार्श्व की अध्यक्षता में बौद्धो की जिस चतुर्थ महासभा का पुष्पपुर (पेशावर) मे आयोजन किया था, घोषक भी उसमे सम्मिलित हुआ था। इस महासभा मे सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के अभिधर्म पिटक पर जो विभाषा टीका तैयार की गई थी, उसकी संरचना मे घोषक का भी महत्त्वपूर्ण कर्तृत्व था। घोषक ने अभिधर्मामृत नाम का एक ग्रन्थ भी लिखा था, जिसका चीनी अनुवाद इस समय उपलब्ध है। इसमे सन्देह नही, कि घोषक अभिधर्म (अध्यात्म) विषय का गम्भीर विद्वान् था, और बौद्धो के अन्यतम सम्प्रदाय 'वैभाषिक' के सिद्धान्तो को उन द्वारा युक्तिसगत रूप से प्रतिपादित किया गया था। घोषक को स्पष्ट रूप से तुखार कहा गया है, और उसका प्रधान कार्यक्षेत्र तुखार देश में ही था। धर्ममित्र भी तुखार देश का निवासी था। उसने विनयसूत्रटीका नाम का एक ग्रन्थ लिखा था, जिसका तिब्बती

अनुवाद तिब्बत के तंजूर के अन्तर्गत है। इस ग्रन्थ के अन्त में दी गई पुष्पिका में कहा गया है, कि वक्षू (वंक्षु या आमू) नदी के तटवर्ती तरमित (तेरमिज) के निवासी धर्ममित्र द्वारा यह ग्रन्थ विरचित है।

चीन मे बौद्ध धर्म का प्रचार करने में तुखार देश के बौद्ध भिक्षुओं का कर्तृत्व अत्यन्त महत्त्व का था। १४७ ईस्वी मे लोकक्षेम नाम का भिक्षु तुखार देश से चीन गया था, और लो-यान में रहकर उसने १८८ बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था। लोकक्षेम द्वारा अनूदित कुछ ग्रन्थ इस समय भी उपलब्ध हैं। लोकक्षेम का एक शिष्य चेकियन था, जो युइशि-तुखार जाति का था। १९० ईस्वी में वह भी चीन गया था, और नानकिंग मे रह कर उसने १०० से अधिक बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा मे अनुवाद किया था। इनमे से ४९ ग्रन्थ अब भी प्राप्य हैं। तुङ्ह्वाग् मे बसे हुए एक तुखार परिवार में उत्पन्न धर्मरक्ष ने भिक्षुव्रत धारण कर मध्य एशिया मे दूर-दूर तक यात्राएँ की थीं, और इस प्रकार उसने ३६ भाषाओ का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। २८४ ईस्वी मे वह चीन गया और वहाँ रहकर उसने २०० के लगभग बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा मे अनुवाद किया। इनमे से ९० ग्रन्थ इस समय भी उपलब्ध है। ३८३ में ले-शुन नामक तुखार भिक्षु चीन गया था, और ३८४ मे धर्मनन्दी ने तुखार देश से चीन की यात्रा की थीं। बौद्ध ग्रन्थो का चीनी भाषा मे अनुवाद करने में इन भिक्षुओ ने भी हाथ बँटाया था। धर्मनन्दी द्वारा अनूदित एकोत्तरागम ग्रन्थ इस समय भी प्राप्त हैं।

कुशाणो की शक्ति के क्षीण होने पर मध्य एशिया के विविध प्रदेशो पर जिन विविध जातियो के आक्रमण प्रारम्भ हो गए थे, उनका उल्लेख इसी अध्याय के प्रथम प्रकरण मे किया जा चुका है। युद्ध के क्षेत्र में युइशि-तुखारो को इन जातियो ने परास्त कर दिया था, पर धर्म और संस्कृति में वे तुखारों द्वारा पराजित हो गई थी। तुखार देश पर आक्रमण करने वाले जू-जुन, श्वेत हूण तथा तुर्क लोगों ने तुखारों के सम्पर्क में आकर बौद्ध धर्म को स्वीकृत कर लिया था, और वे भारतीय संस्कृति के रंग मे रँग गए थे। सातवी सदी के पूर्वार्ध मे चीनी यात्री ह्यु एन्-त्सांग तुखार देश गया था। उस समय वहाँ बौद्ध धर्म भली-भाँति फलफूल रहा था, और वहाँ बहुत-से संघाराम विद्यमान थे, जिनमे हजारों भिक्षु निवास करते थे। यह देश तुर्कों के अधीन था, और वहाँ का तुर्क कगान (खान) बौद्ध धर्म के प्रति श्रद्धा रखता था। तुखार देश के उत्तर में विद्यमान तुर्क राज्यों में यद्यपि इस समय तक बौद्ध धर्म का भलीभाँति प्रचार नहीं हुआ था, पर वंक्षु नदी से दक्षिण के सब प्रदेश बौद्ध धर्म के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। ह्यु एन्-त्सांग के समय में भी बाह्लीक नगरी (बल्ख) का नव-विहार बौद्ध धर्म तथा दर्शन के पठन-पाठन के लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध था, और वहाँ के स्थविरों तथा आचार्यों को हिन्दूकुश पर्वतमाला के उत्तर के प्रदेशों में प्रमाण रूप से स्वीकृत किया जाता था। नालन्दा का प्रसिद्ध आचार्य प्रभाकरमित्र जब अपने दस शिष्यों के साथ मध्य एशिया होकर चीन गया था, तो मार्ग में उसने पश्चिमी तुर्कों के कगान (खान) से भी भेंट की थी, और उसे बौद्ध धर्म का उपदेश भी दिया था। ह्यु एन्-त्सांग के

यात्रा-विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है, कि सातवी सदी के पूर्वार्ध मे तुखार देश में बौद्ध धर्म भली-भाँति प्रचलित था। उसके अनुसार तुखार देश की तत्कालीन राजधानी तेरमिज (ता-मी) मे दो विहार थे, जिनमे हजार से अधिक भिक्षु निवास करते थे। वहाँ के स्तूपो तथा मूर्तियो को ह्यु एन्-त्साग ने बहुत सुन्दर बताया है। तेरमिज के पूर्व मे शुगनान (शी-गा-येन्-ना) था, जहाँ पाँच विहार तो थे, पर उनमें भिक्षु बहुत कम थे। शुगनान के पूर्व मे हू-लू-मो की स्थिति थी, जहाँ दो विहार थे, जिनमें सौ से ऊपर भिक्षुओ का निवास था। कू-येत्-ना का प्रदेश वक्षु नदी के दक्षिण-पश्चिम मे था। वहाँ तीन विहार थे, जिनमे सौ से अधिक भिक्षु रहते थे। तुखार देश मे बौद्ध धर्म का प्रधान केन्द्र बल्ख (बाह्लीक) था। ह्यु एन्-त्सांग के अनुसार वहाँ १०० विहार थे, जिनमे ३००० भिक्षु निवास करते थे। नगर के बाहर दक्षिण-पश्चिम मे नवसंघाराम था, जिसे इस देश के एक पुराने राजा ने बनवाया था। हिन्दूकुश पर्वतमाला के उत्तर मे यही एक ऐसा बौद्ध विहार था, जहाँ ऐसे आचार्यो की अविच्छिन्न परम्परा चली आती थी, जो कि त्रिपिटक के व्याख्याकार होते थे। नवसघाराम मे एक बडी कलापूर्ण रत्नजटित बुद्धमूर्ति थी। सघाराम के भवन अत्यन्त मूल्यवान् वस्तुओ से सजाये हुए थे। बाह्लीक नगरी के समीप ही ती-वेई और पो-ली की स्थिति थी, जिनमे त्रपुस और भल्लिक ने भगवान् बुद्ध के नख तथा केश के सम्मान मे स्तूपो का निर्माण कराया था। बल्ख से २० मील दक्षिण मे का-शी था, जहाँ दस ऐसे विहार थे जिनमे सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के ३०० भिक्षु निवास करते थे। ह्यु एन्-त्साग के विवरण से इस बात मे कोई सन्देह नही रह जाता, कि श्वेत हूण, तुर्क आदि विविध जातियों द्वारा आक्रान्त तथा शासित हो जाने पर भी तुखार देश बौद्ध धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा।

पर तुखारिस्तान देर तक बौद्ध धर्म का केन्द्र नही रह सका। सातवी सदी का अन्त होने से पूर्व ही अरबो ने इस देश पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिए, और इसे जीत कर न केवल अपने अधीन ही कर लिया, अपितु वहा से बौद्ध धर्म का अन्त कर वहां के निवासियो को इस्लाम का अनुयायी भी बना लिया। बाह्लीक (बल्ख) नगरी के नवसघाराम का उल्लेख अभी ऊपर किया गया है। बौद्ध धर्म तथा अध्ययन का तो वह केन्द्र था ही, साथ ही उसका वैभव तथा प्रभाव भी अतुल था। पहले उसके प्रधान आचार्य तथा स्थविर गृहस्थ न होकर भिक्षु जीवन बिताया करते थे। पर बाद में कभी (सम्भवत, अरब आक्रमणो के प्रारम्भ होने के समय) वहाँ के किसी प्रधान स्थविर ने विवाह कर लिया था, और नवसंघाराम की व्यवस्था गृहस्थ महन्तो के हाथो मे आ गई थी। इन्हे अरब लेखको ने 'बरमक' कहा है, जो शायद परमक (सर्वोच्च) का अपभ्र श है। अरबो ने जब बल्ख को जीत लिया, तो नवसघाराम का उन्होंने बुरी तरह से ध्वस किया, और वहा से स्थविरो तथा भिक्षुओ को मुसलमान बना लिया। बरमकों ने भी अब इस्लाम को अपना लिया, और उन्हे बल्ख मे बगदाद ले जाया गया। बरमक नवसघाराम की पुरानी परम्परा के अनुसार गम्भीर पाण्डित्य के धनी थे, और आयुर्वेद, गणित, ज्योतिष आदि का भी उन्हें ज्ञान था। बगदाद के खलीफाओं ने उन्हें अपने दरबार मे सम्मानास्पद स्थान प्रदान किया, और उनकी योग्यता से लाभ उठाने

के लिए उन्हें मन्त्री के पद पर भी नियुक्त किया। आधी सदी के लगभग (८०३ ईस्वी) तक बगदाद के अब्बासी खलीफाओं के शासन के कर्णधार बरमक कुल के व्यक्ति ही रहे। उन्हीं की प्रेरणा से खलीफा हारुन्-अल-रशीद (७८६-८०९ ई०) ने अनेक अरब विद्वानों को दूत बनाकर इस प्रयोजन से भारत भेजा था, ताकि वे वहाँ से गणित, ज्योतिष और आयुर्वेद के ग्रन्थों को प्राप्त करें और अरबी भाषा मे उनका अनुवाद करें। अरब में विज्ञान, दर्शन तथा संस्कृति के विकास के लिए बरमक या परमक मन्त्रियों ने जो कार्य किया, वह अत्यन्त महत्त्व का था। अरब आक्रमणों से बल्ख नगरी का विनाश हो गया था, बरमकों की प्रेरणा से उसका भी पुनःनिर्माण कराया गया था, और उसके पुन निर्माण का कार्य भी बरमक परिवार के व्यक्तियों के ही सुपुर्द किया गया था। तुखार देश की इस प्रसिद्ध नगरी का अन्तिम रूप से विनाश चौदहवीं सदी मे चंगेज खाँ की मंगोल सेनाओं ने किया था। पर जहाँ तक बौद्ध धर्म तथा भारतीय सस्कृति का सम्बन्ध है, उसका अन्त इस देश से सातवी सदी के अन्त या आठवी सदी के प्रारम्भ तक ही हो गया था।

तुखार देश के उत्तर मे तथा वंक्षु (आमू) और सीर नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश मे सुग्ध देश की स्थिति थी। समरकन्द इसी का प्रधान नगर था। सुग्ध देश के प्राचीन निवासी भी शक जाति के थे और उनकी भाषा ईरानी भाषा से मिलती-जुलती थी। सुग्ध के निवासी व्यापार मे बहुत प्रवीण थे, और अपने पण्य को लेकर वे दूर-दूर तक यात्राएँ किया करते थे। व्यापार के प्रयोजन से ही उन्होंने मध्य एशिया के विविध प्रदेशों मे अपनी अनेक बस्तियाँ भी बसायी हुई थी। व्यापार-यात्राओं में सुग्ध के व्यापारियों का बौद्ध धर्म के उन केन्द्रों के साथ सम्पर्क हुआ, जो ईस्वी सन् की दूसरी सदी तक मध्य एशिया के विविध प्रदेशों मे स्थापित हो चुके थे। धीरे-धीरे सुग्ध देश में भी बौद्ध धर्म का प्रचार हो गया, और उसके भी अनेक भिक्षु धर्म-प्रचार के लिए चीन आदि विदेशों में जाने लगे। सुग्ध के इन बौद्ध भिक्षुओं का परिचय हमे चीनी साहित्य से ही प्राप्त होता है। चीन मे बौद्ध धर्म का प्रचार करने वाले सुग्ध देश के भिक्षुओं मे प्रधान स्थान सेंग-हुएइ का है, जिसने कि तीसरी सदी मे चीन जाकर उसके दक्षिणी प्रदेशों को अपना कार्यक्षेत्र बनाया था। सेंग-हुएई (संघभद्र) के अतिरिक्त कोहे-किआन नाम के एक अन्य सुग्धी भिक्षु ने भी नानकिंग मे रहकर अनेक बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था।

सुग्ध देश मे बौद्ध धर्म का किस प्रकार विकास हुआ, और इस धर्म के वहाँ कौन-कौन से प्रधान केन्द्र थे, इस सम्बन्ध मे अभी बहुत कम जानकारी उपलब्ध है। ह्यु एन्-त्सांग के समय में सुग्ध देश के प्रधान नगर समरकन्द मे केवल दो बौद्ध विहार थे, जिनके प्रति वहाँ के लोगों का रुख अच्छा नहीं था। ह्यु एन्-त्सांग के साथी भिक्षु जब वहाँ पूजा के लिए गए, तो लोगों ने उन्हें मार भगाया और विहार में आग लगा दी। इस पर समरकन्द के राजा ने उन लोगों को सजा दी, और ह्यु एन्-त्सांग को बुलाकर उससे धर्मोपदेश सुना। ऐसा प्रतीत होता है, कि सुग्ध देश के तुर्क आक्रान्ताओं ने भी बाद में बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया था, क्योंकि उन्हीं के शासनकाल में

बौद्ध धर्म के प्रति उनकी आस्था के प्रतीक के रूप मे सुग्ध या जरफ्शां नदी के तट पर एक विशाल विहार का निर्माण कराया गया था। तुर्की और मगोल भाषाओं में विहार को बुखार कहते है। इसी विशाल विहार के कारण वहाँ जो नगर विकसित हुआ, वह बुखारा या बोखारा कहाने लगा। यही आगे चलकर सुग्ध देश का प्रधान नगर बन गया। तुर्क लोगो में बौद्ध धर्म का प्रचार इतना अधिक हो गया था, कि आठवीं सदी के प्रारम्भ भाग मे एक तुर्क राजा ने अपनी रानी तथा पुत्र के साथ भारत की यात्रा की थी, और उसने काश्मीर मे दो सघारामो का निर्माण करवाया था। समरकन्द के निवासी भिक्षु सघवर्मा ने गया के महाबोधि की यात्रा की थी, और अपने समय के बौद्ध विद्वानो मे उसने प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त किया था। तुखारिस्तान के समान सुग्ध देश से भी बौद्ध धर्म का अन्त अरबो द्वारा ही किया गया। आठवी सदी मे इस क्षेत्र मे कोई एक शक्तिशाली तुर्क राजा नही था, और वहाँ अनेक छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गए थे। अरबो के विरुद्ध वे मिलकर सघर्ष नही कर सके। इसीलिए अरबो ने एक-एक करके उन्हे जीत लिया, और वहाँ उन्होने बौद्ध धर्म का अन्त कर इस्लाम को स्थापित किया।

तकला मकान मरुस्थल के दक्षिण मे विद्यमान राज्यो मे खोतन सर्वप्रधान था। कुची और बल्ख के समान वह भी बौद्ध धर्म और भारतीय सस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। पाँचवी सदी के प्रारम्भ मे जब फाइयान भारत जाते हुए मार्ग मे खोतन गया था, तो उसने वहाँ बौद्ध धर्म को फलती-फूलती दशा मे पाया था। वहाँ के गोमती विहार मे ३००० श्रमण व भिक्षु निवास करते थे। फाइयान इसी विहार मे रहा था। ह्यु एन्-त्साग ने भी खोतन के विविध विहारो, चैत्यो तथा स्तूपो का वर्णन किया है। गत शताब्दी मे मध्य एशिया के विविध प्रदेशो का पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोज के लिए जो अवगाहन किया गया है, उस द्वारा भी खोतन मे पुराने विहारो तथा स्तूपो के अनेक अवशेष प्राप्त हुए है। अगले अध्याय मे हम इन पर प्रकाश डालेंगे। यहाँ केवल यह निर्देश कर देना पर्याप्त है, कि बौद्ध धर्म तथा भारतीय सस्कृति की दृष्टि से उत्तरी मध्य एशिया मे जो स्थिति कुची की थी, वही दक्षिणी क्षेत्र मे खोतन की थी। इसी कारण अनेक बौद्ध प्रचारक खोतन से भी धर्मप्रचार के प्रयोजन से चीन गए, और चीन के बौद्ध विद्वान् भी धर्म तथा दर्शन का उच्च ज्ञान प्राप्त करने के लिए खोतन आते रहे।

बौद्ध धर्म की दृष्टि से मध्य एशिया के विविध राज्यो का महत्त्व कितना अधिक था, इसका एक सकेत सूर्यगर्भसूत्र नामक बौद्ध ग्रन्थ से मिलता है, जिसमे लिखा है कि बुद्ध के मुख-मण्डल से अनेक किरणें निकली, जिनसे भूमण्डल के सब प्रदेश आलोकित हुए और सर्वत्र बहुत-से बुद्धो का आविर्भाव हुआ। वाराणसी से चीन तक के देशों मे बुद्ध के अवतारों का वर्णन करते हुए इस ग्रन्थ मे सिन्धु, पामीर, गान्धार, उद्यान, उरसा, दरद, ईरान, काशगर, बाह्लीक, खश, खोतन, कुची और भरुक का उल्लेख किया गया है। साथ ही, यह भी कहा गया है कि बुद्धो का जो भिन्न-भिन्न स्थानो में अवतरण हुआ, उनमे ९९ बुद्ध कुची मे हुए, २५ अक्सू मे, ६० वाराणसी मे,

२० कपिलवस्तु मे, २२५ चीन मे, २६ उद्यानदेश मे, १०० पुरुषपुर में, १० गान्धार में, १८० खोतन मे, ६८ काशगर मे और १८० भोट (तिब्बत) मे। बौद्ध लेखकों ने जो वाराणसी और कपिलवस्तु की तुलना मे खोतन, काशगर और कुची सदृश मध्य एशिया के प्रदेशो मे बुद्ध के अधिक बार अवतरित होने का उल्लेख किया है, उससे इस तथ्य का संकेत मिल जाता है कि इन लेखकों की दृष्टि मे बौद्ध धर्म के केन्द्र के रूप मे मध्य एशिया और चीन का महत्त्व भारत की तुलना मे अधिक था।

पाँचवाँ अध्याय

मध्य एशिया में भारतीय धर्म तथा संस्कृति के अवशेष

(१) मध्य एशिया में पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोज

मध्य एशिया के विविध प्रदेशो मे भारतीय सभ्यता और सस्कृति के जो महत्त्व-पूर्ण केन्द्र थे, मुसलिम आक्रमणो के परिणामस्वरूप उनका ह्रास हो गया था। पर उनके भग्नावशेष अब तक भी विद्यमान है। आधुनिक विद्वानो का उनके प्रति ध्यान उन्नीसवी सदी के अन्तिम भाग मे आकृष्ट होना प्रारम्भ हुआ। सन् १८७९ मे डा० ए० रीगल नाम का जर्मन वैज्ञानिक तुर्फान गया था, और वहाँ उसने बौद्ध स्तूपो तथा चैत्यों के खण्डहरो का अवलोकन किया था। बाद मे रूस और फिनलैण्ड के अनेक विद्वान् मध्य एशिया गये, और वहाँ के प्राचीन भग्नावशेषो के जो विवरण उन्होने लिखे, उन्हे पढ़कर यूरोप के ऐतिहासिको ने यह आवश्यक समझा, कि इस क्षेत्र की पुरातत्त्व-सम्बन्धी सामग्री का नियमित रूप से अनुशीलन किया जाना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय ओरियन्टल काग्रेस का जो अधिवेशन १८९९ में रोम मे हुआ, उसमे रूस के मि० रडलाफ्फ ने यह विचार पेश किया, कि मध्य एशिया और पूर्वी एशिया के पुरातत्त्व-सम्बन्धी अवशेषों की खोज के प्रयोजन से एक अन्तर्राष्ट्रीय मण्डली का सगठन करना उपयोगी होगा। रोम मे एकत्र विद्वानो ने रडलाफ्फ के इस विचार का स्वागत किया। इस समय तक मध्य एशिया के एक प्रदेश से भोजपत्र पर लिखा हुआ वह ग्रन्थ उपलब्ध हो चुका था, जो बावर मैनुस्क्रिप्ट के नाम से प्रसिद्ध है। कुची के समीप कुम-तुरा के एक प्राचीन स्तूप से यह हस्तलिखित ग्रन्थ दो तुर्कों को मिला था, और उन्होंने उसे कर्नल बावर को बेच दिया था (१८९०)। कर्नल बावर उन दिनो कूचा मे निवास कर रहे थे। बावर ने इसे एशियाटिक सोसायटी आफ बगाल को भेज दिया। सस्कृत और पुरातत्त्व के प्रसिद्ध विद्वान् डा० हार्नले ने भोजपत्र पर लिखे इस ग्रन्थ को पढकर यह रिपोर्ट दी, कि इसकी भाषा सस्कृत है, और लिपि गुप्त युग की ब्राह्मी। इसका काल उन्होंने चौथी सदी ईस्वी का पूर्वार्ध बताया। तकलामकान मरुस्थल के उत्तर मे स्थित कुची के समीप उपलब्ध हुए इस प्राचीन सस्कृत ग्रन्थ के वर्णन को पढकर पाश्चात्य विद्वान् आश्चर्यचकित रह गये थे। इतना पुराना हस्तलिखित संस्कृत ग्रन्थ इससे पहले अन्यत्र कही नही मिला था। परिणाम यह हुआ, कि रोम की ओरियन्टल कांग्रेस में एकत्र विद्वानो ने रडलाफ्फ के विचार का हार्दिक स्वागत किया, और बहुत-से विद्वान् पुरातत्त्व सम्बन्धी अवशेषों की खोज के प्रयोजन से मध्य एशिया के अवगाहन के लिए तत्पर हो गये। यूरोप के अनेक राज्यों की सरकारो ने भी मध्य एशिया के विविध प्रदेशों मे स्थित अपने प्रतिनिधियो को यह आदेश दिया, कि वे अपने क्षेत्रों में प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थो को

प्राप्त करने का प्रयत्न करें। साथ ही, अनेक विद्वानों ने व्यक्तिगत रूप से भी इन ग्रन्थों की खोज प्रारम्भ कर दी। इस खोज का यह परिणाम हुआ, कि मध्य एशिया के अनेक प्राचीन विहारों, स्तूपों और चैत्यों के खण्डहरों से बहुत-से हस्तलिखित ग्रन्थ उपलब्ध होने लगे। इन्हें पेट्रोग्राड तथा कलकत्ता आदि भेज दिया गया, और वहाँ विद्वानों ने इनका अनुशीलन प्रारम्भ किया। बंगाल की एशियाटिक सोसायटी के जर्नल मे इनके विवरण प्रकाशित (१८८९ और १९०१) हुए, और १९१६ में 'पूर्वी तुर्किस्तान में उपलब्ध बौद्ध साहित्य के हस्तलिखित ग्रन्थों के अवशेष' (Manuscrsipt Remains of Buddhist Literature found in Eastern Turkistan) नाम से एक ग्रन्थ प्रकाशित किया गया, जिसमे इन हस्तलिखित ग्रन्थों के विवरण के साथ इनके बहुत-से पृष्ठों की फोटो भी दी गई थी।

पाश्चात्य विद्वानो के प्रयत्न से जो बहुत-से हस्तलिखित ग्रन्थ इस काल मे मध्य एशिया से प्राप्त हुए, उनमे एक धम्मपद था, जिसे १८९२ मे फ्रेंच विद्वान दुत्रइल द र्‌हा ने खोज निकाला था। यह ग्रन्थ खोतन के समीप के एक विहार के खण्डहरो से प्राप्त हुआ था। ह्यु एन्-त्सांग ने खोतन के समीपवर्ती प्रदेश मे स्थित गोश्रृंग विहार का विशद रूप से वर्णन किया है। दुत्रइल द र्‌हा को धम्मपद की जो हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई थी, वह इसी गोश्रृंग विहार के खण्डहर से मिली थी। यह ग्रन्थ भोजपत्रो पर लिखा हुआ है। इसकी लिपि खरोष्ठी है, और यह एक ऐसी प्राकृत भाषा मे है, जो अब तक प्राप्त हुए अन्य बौद्ध ग्रन्थो मे प्रयुक्त नहीं हुई है। खरोष्ठी लिपि मे लिखा हुआ यह पहला बौद्ध ग्रन्थ था, और इसका काल दूसरी सदी ईस्वी मे निर्धारित किया गया था। संस्कृत के प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् सेनार (Senart) ने धम्मपद की इस हस्तलिखित प्रति का अध्ययन किया और इसके सम्बन्ध मे जो रिपोर्ट ओरियन्टलिस्ट्स कांग्रेस के पेरिस के अधिवेशन (१८९७) के समक्ष प्रस्तुत की, उसे पढ़कर उसमे एकत्र विद्वान् आश्चर्यचकित रह गये। इसी समय के लगभग काशगर मे स्थित रूसी कान्सल-जनरल पेत्रोवस्की द्वारा म० सेनार को ज्ञात हुआ, कि खरोष्ठी लिपि में लिखे हुए धम्मपद के कुछ पृष्ठ एक रूसी यात्री को भी उपलब्ध हुए हैं, और उन्हे रूस भेज दिया गया है। मध्य एशिया के विविध प्रदेशो से प्राप्त हुए इन बौद्ध हस्तलिखित ग्रन्थों का विवरण पढ़कर पेरिस की ओरियन्टलिस्ट्स कांग्रेस (१८९७) और फिर रोम की कांग्रेस (१८९९) मे एकत्र विद्वानो को इस बात में कोई सन्देह नही रह गया, कि मध्य एशिया के विविध प्रदेश प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों की उपलब्धि के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, और उनकी खोज करना प्राचीन इतिहास के परिज्ञान के लिए बहुत उपयोगी होगा। अब तक इन ग्रन्थों की खोज के लिए कोई सुनियोजित प्रयत्न नहीं किया गया था। कर्नल बावर को ब्राह्मी लिपि मे लिखा हुआ और दुत्रइल द र्‌हा को खरोष्ठी लिपि में लिखा हुआ जो हस्तलिखित ग्रन्थ हाथ लग गया था, वह किसी सुनियोजित प्रयत्न का परिणाम नही था। अब यह उपयोगी समझा गया, कि प्राचीन ग्रन्थों की खोज के लिए मध्य एशिया मे विद्वानों की मण्डलियाँ भेजी जाएँ, और वे वहाँ की प्राचीन ऐतिहासिक निधियों को ढूँढ निकालने का प्रयत्न करें।

इस प्रयोजन से एक मण्डली की नियुक्ति १६००-१६०१ मे भारत सरकार द्वारा की गई। सर मार्क ओरेल स्टाइन को इस मण्डली का अध्यक्ष नियुक्त किया गया, और इसे खोतन के प्रदेश मे खोज करने का कार्य सुपुर्द किया गया। सर स्टाइन की मण्डली को अपने उद्देश्य मे अनुपम सफलता प्राप्त हुई, और पुरातत्त्व की दृष्टि से खोतन का उसने जो अवगाहन किया, उसकेपरिणाम प्राचीन खोतन (Ancient Khotan) नामक ग्रन्थ में उल्लिखित है। इस ग्रन्थ से यह भलीभाँति जाना जा सकता है, कि प्राचीन समय मे खोतन बौद्ध धर्म तथा भारतीय सस्कृति का कितना महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, और यवनो तथा चीनियो की सस्कृति ने भी वहाँ के निवासियो को किस प्रकार प्रभावित किया था।

खोतन मे सर स्टाइन को जो सफलता प्राप्त हुई, जर्मनी के विद्वान् उससे बहुत उत्साहित हुए। वहाँ के राजकीय कलाभवन की ओर से जर्मन विद्वानो की भी एक मण्डली मध्य एशिया भेजी गई, जिसने तुर्फान मे खोज का कार्य प्रारम्भ किया। प्रो० ग्रुएनवेडल, डा० हृथ और श्री बार्टम जैसे विद्वान् इस मण्डली के सदस्य थे। तुर्फान और उससे भी परे के कुची प्रदेश मे जर्मन विद्वानो की इस मण्डली ने प्राचीन भग्ना-वशेषो की जाँच की और वहाँ से बहुत-सी बहुमूल्य वस्तुएँ प्राप्त की (१६०२-१६०३)। इस मण्डली की सफलता से प्रोत्साहित होकर १६०४ मे एक अन्य जर्मन मण्डली तुर्फान गई, जिसके नेता डा० फान ल कॉक थे। प्रशिया की सरकार का सरक्षण तथा आर्थिक सहयोग इसे प्राप्त था। इस मण्डली ने अपना कार्य प्रारम्भ ही किया था, कि प्रो० ग्रुएनवेडल के नेतृत्व मे जर्मन विद्वानो की एक अन्य मण्डली को मध्य एशिया भेजा गया। जर्मन विद्वानो की खोज के प्रधान क्षेत्र कुची, तुर्फान और काराशहर के प्रदेशो मे थे, जिनकी स्थिति तकलामकान के मरुस्थल के उत्तर मे है। १६०७ तक ये मण्डलियाँ अपने कार्य मे व्यापृत रही, और ये न केवल बहुत-सी ऐसी मूर्तियाँ प्राप्त करने मे सफल हुई, जो बौद्ध कला की उत्कृष्ट उदाहरण है, अपितु बहुत-से हस्तलिखित ग्रन्थ भी इन्होने प्राप्त किये। ये ग्रन्थ सस्कृत, चीनी, सोग्दियन (सुग्ध देश की), सीरियन (सीरिया की) और तुर्की आदि भाषाओ मे है। सस्कृत के जो ग्रन्थ जर्मन विद्वानो ने इस क्षेत्र मे प्राप्त किये, वे ब्राह्मी तथा खरोष्ठी दोनो लिपियो मे लिखे हुए है। ऐसे ग्रन्थ भी इस क्षेत्र से मिले जो कुची और खोतन की प्राचीन भाषाओ मे है।

सन् १६०६ मे सर स्टाइन के नेतृत्व मे एक अन्य मण्डली भारत सरकार द्वारा मध्य एशिया भेजी गई। इसने न केवल खोतन के प्रदेश का पुन: अवगाहन किया, अपितु तकलामकान के दक्षिण मे जो अनेक प्रदेश खोतन के पूर्व में स्थित है, उनमें भी खोज प्रारम्भ की। दोमोको तथा नीया का अवगाहन करती हुई यह मण्डली पूर्व मे तुंड्-ह्वाग् तक पहुँच गई। यह स्थान लोपनौर झील से भी परे ठेठ चीन की पश्चिमी सीमा के समीप है। हूणो के आक्रमण से अपने देश की रक्षा करने के लिए चीन के सम्राटो ने जिस विशाल दीवार का निर्माण कराया था, उसका पश्चिमी सिरा तुड्-ह्वांग् तक आया हुआ है। सर स्टाइन की मण्डली ने तुड्-ह्वाग् के समीप इस दीवार के अवशेषो का पता किया। पर इसका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य गुहा-मन्दिरों की उस

शृंखला को ढूँढ निकालना था, जो 'सहस्र-बुद्ध-गुहा-विहार' के नाम से प्रसिद्ध है। ये गुहाएँ तुङ्-ह्वाग् से नौ मील की दूरी पर हैं, और इनकी शृंखला की लम्बाई एक हजार गज से भी अधिक है। इन गुहाओं की भित्तियों पर बहुत-से चित्र हैं, और उनमें बहुत-सी सुन्दर मूर्तियाँ भी विद्यमान हैं। सहस्र-बुद्ध-गुहा विहार की गुहाओ की छानबीन करते हुए अकस्मात् एक छोटी-सी गुहा निकल आयी, जो हस्तलिखित पुस्तको और रेशम पर बने चित्रो से परिपूर्ण थी। ग्यारहवी सदी में इस गुहा को बन्द कर दिया गया था, और उसमे संचित ग्रन्थों, चित्रों तथा अन्य कृतियो का किसी को भी पता नही रहा था। सर स्टाइन तुङ्-ह्वांग की गुहा से प्राप्त बहुत-से ग्रन्थो व चित्रों को अपने साथ ले आये। बाद मे इन्ही गुफाओ से बहुत-से हस्तलिखित ग्रन्थ व चित्र आदि फ्रेंच लोगो ने प्राप्त किये, और जो बाकी बचे, उन्हे चीन की सरकार की आज्ञा से पेकिंग भेज दिया गया। प्रो० पेलिओ ने १९०६-१९०८ मे चीनी तुर्किस्तान की यात्रा की थी। १९०६ के अभियान मे सर स्टाइन ने जो बहुमूल्य सामग्री मध्य एशिया से प्राप्त की थी, उसका विशद विवरण उन द्वारा लिखित सेर-इण्डिया (Serindia) पुस्तक मे विद्यमान है। यह पुस्तक पाँच खण्डो मे है, और इसके अध्ययन से तुर्फान, नीया, तुङ्-ह्वांग् आदि के प्राचीन भग्नावशेषो के सम्बन्ध मे समुचित जानकारी प्राप्त की जा सकती है। सर स्टाइन को केवल तुङ्-ह्वाग् से ही हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त नही हुए, अपितु दोमोको, नीया और लौ-लान से भी उन्होने बहुत-से ग्रन्थ खोज निकाले थे, जो सस्कृत, प्राकृत और चीनी भाषाओं मे हैं। इन सब स्थानो से सर स्टाइन ने बहुत-सी कला-कृतियाँ भी प्राप्त की, जो प्राचीन काल मे इन प्रदेशो की सभ्यता तथा सस्कृति पर अनुपम प्रकाश डालती हैं। कतिपय तिब्बती लेख भी इस अभियान मे प्राप्त किये गये, जो कागज के अतिरिक्त लकडी की तख्तियो पर भी लिखे हुए है।

सर स्टाइन ने १९१३ मे एक बार फिर मध्य एशिया की यात्रा की। खोतन, नीया और तुङ्-ह्वाग का पुन अवगाहन करने के पश्चात् उन्होने दक्षिण-पूर्व से उत्तर-पश्चिम की दिशा मे प्रस्थान किया, और मरुस्थल को पार कर वे काशगर तक पहुँच गये। तकलामकान के मरुस्थल के उत्तर मे विद्यमान जिन स्थानो का अवगाहन पहले जर्मन विद्वानो द्वारा किया जा चुका था, सर स्टाइन ने उनकी फिर से छानबीन की। तुर्फान, यीपान, कुची, अक्सू आदि के प्राचीन भग्नावशेषो का उन्होने भलीभांति अनुशीलन किया, और काशगर पहुँचने के बाद भी अनुसन्धान के कार्य को जारी रखा। काशगर से भारत वापस आते हुए उन्होने समरकन्द, खुरासान और सीस्तान (शकस्थान) की भी यात्रा की। इन स्थानो पर भी उन्हें बहुत-से प्राचीन अवशेष उपलब्ध हुए। सीस्तान की स्थिति ईरान के उत्तर-पूर्वी प्रदेश में है, और वह मध्य एशिया के उस क्षेत्र के साथ लगा हुआ है, जो प्राचीन काल मे बौद्ध धर्म और भारतीय सस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। यह पहला अवसर था, जबकि प्राचीन अवशेषों की खोज में एक विद्वान् ने ईरान के अन्यतम प्रदेश की भी यात्रा की थी। वहाँ कोह्-ख्वाजा पहाडी के शिखर पर एक बौद्ध धर्मस्थान के भग्नावशेष उपलब्ध हुए। ईरान की भूमि पर विद्यमान ये पहले बौद्ध अवशेष थे, जो आधुनिक विद्वानो की

दृष्टि में आये थे। इस धर्मस्थान के समीप एक इमारत पर अनेक भित्तिचित्रों का भी सर स्टाइन ने अवलोकन किया, जो ग्रीक शैली में निर्मित हैं। सर स्टाइन की मण्डली ने अपनी इस यात्रा मे जो नई खोज की, 'इनरमोस्ट इण्डिया' (Innermost India) नामक ग्रन्थ में उसका सचित्र विवरण दिया गया है।

जर्मन, ब्रिटिश और फ्रेंच विद्वानो के अतिरिक्त रूस के विद्वान् भी इस काल मे मध्य एशिया के अवगाहन मे तत्पर रहे। १६०६ और १६०६ में रूस की दो अन्य मण्डलियाँ इस क्षेत्र मे गईं, जिनके नेता क्रमश श्री बेरीवोस्की और श्री कैजालॉफ थे। कैजालॉफ की मण्डली ने खारा-खोतो के प्राचीन नगर का पता लगाया, और वहाँ से बहुत-से पुराने लेख व ग्रन्थ प्राप्त किये। ये चीनी और तंगुत भाषाओ मे हैं। तंगुत तुर्क-मगोल परिवार की एक प्राचीन भाषा थी। १६१४ मे एक रूसी मण्डली ने तुङ्-ह्वाग की यात्रा की, और वहाँ से भी बहुत-से पुराने लेख, चित्र व ग्रन्थ प्राप्त किये।

पाश्चात्य विद्वानो को मध्य एशिया के प्राचीन भग्नावशेषो की खोज मे जो अनुपम सफलता प्राप्त हो रही थी, जापान के विद्वान् भी उससे आकृष्ट हुए। काउन्ट ओतनी के नेतृत्व में एक जापानी मण्डली ने १६०४ मे तुर्फान, कुची, काशगर और रूसी तुर्किस्तान की यात्रा की, और वहाँ से बहुत-से प्राचीन अवशेष प्राप्त किये। इसके बाद भी जापानी विद्वान् इस क्षेत्र मे आते रहे, और यूरोप के विद्वानो के समान वे भी अनेक पुराने ग्रन्थ, कलात्मक कृतियाँ व मूर्तियाँ आदि एकत्र करने मे सफल हुए।

इसी प्रकरण मे हम ऊपर लिख चुके है, कि फ्रास के विद्वानो ने भी तुङ्-ह्वाग की गुहाओ से बहुत-से हस्तलिखित ग्रन्थ व चित्र आदि प्राप्त किये थे। फ्रेंच विद्वानो की इस खोज के सम्बन्ध मे विशद रूप से प्रकाश डालना उपयोगी है। १६०६ मे 'मध्य एशिया मे अनुसन्धान के प्रयोजन से सगठित फ्रेंच कमेटी' की ओर से एक मण्डली का सगठन किया गया, जिसके नेता श्री पॉल पेलिओ थे। फास की अन्य अनेक सस्थाओं ने भी इस मण्डली के सगठन मे सहयोग प्रदान किया। जनवरी, १६०७ मे यह मण्डली मास्को, ताशकन्द और काशगर होती हुई कुची पहुँच गई। कुची के क्षेत्र से फ्रेंच विद्वानो ने कुछ प्राचीन अवशेष प्राप्त किये, पर उनका लक्ष्य तुङ्-ह्वाग की गुहाओ का अवगाहन करना था, जिनकी चर्चा वे पेरिस मे ही सुन चुके थे। सर स्टाइन इन गुहाओं से बहुत-से हस्तलिखित ग्रन्थ और चित्र आदि पहले ही प्राप्त कर चुके थे। पर पेलिओ और उनके साथियो को यह आशा थी, कि तुङ्-ह्वाग की गुहाओ से अभी अन्य भी बहुत-सी बहुमूल्य सामग्री प्राप्त की जा सकती है। सर स्टाइन ने जिस गुहा से हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त किये थे, उसका संकेत उन्हे वाग-ताओ नामक एक भिक्षु से मिला था। पेलिओ ने सोचा, कि इस भिक्षु की सहायता से वे भी नई सामग्री प्राप्त कर सकते है। वाग-ताओ से सम्पर्क स्थापित करने मे पेलिओ को विशेष कठिनाई नहीं हुई। उसकी सहायता से उन्होने भी एक गुहा ढूंढ निकाली, जो हस्तलिखित ग्रन्थो तथा चित्रो आदि से परिपूर्ण थी। इनमें से कुछ पुस्तको मे उसी ढग से पृष्ठ थे, जैसे कि वर्तमान समय की पुस्तको मे होते हैं। पर बहुसख्यक ग्रन्थ बडे-बडे थानो या कुण्डलियों (rolls) के रूप मे थे, जिन्हे लपेट कर रखा जाता है। प्राचीन ग्रन्थो का जो विशाल

भण्डार श्री पेलिओ को प्राप्त हो गया था, उसमें इन थानों की संख्या ही १५,००० के लगभग थी। ये मुख्यतया चीनी, संस्कृत, तिब्बती और उइगूर भाषाओं में थे। वांग ताओ को इन ग्रन्थों के महत्त्व का कुछ भी ज्ञान नहीं था। वह कुछ धन के बदले में उन्हें पेलिओ को देने के लिए तैयार हो गया। तीन सप्ताह लगाकर पेलिओ तथा उनके साथियों ने इन ग्रन्थों की छानबीन की, और उनमें से जिन्हें अधिक महत्त्वपूर्ण पाया, उन्हें छाँट लिया। ब्राह्मी लिपि में लिखे हुए और उइगूर भाषा के सब ग्रन्थ उन्होंने अपने साथ ले जाने के लिए पृथक् कर लिए, और तिब्बती तथा चीनी भाषा के भी कुछ ग्रन्थ छाँट लिए गये। इस प्रकार चुने हुए ग्रन्थों की संख्या भी ५,००० के लगभग थी। यद्यपि बहुसंख्यक ग्रन्थो का सम्बन्ध बौद्ध धर्म से था, पर इतिहास, भूगोल, दर्शन, साहित्य आदि विषयो पर भी ग्रन्थ वहाँ उपलब्ध हुए थे। पेलिओ इन्हें अपने साथ पेरिस ले गये, और ये अब वहाँ के पुस्तकालयो मे सगृहीत हैं। इन हस्तलिखित ग्रन्थों का काल ग्यारहवी सदी से पहले का है। उस समय तक पश्चिमी चीन का यह प्रदेश बौद्ध धर्म का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। तुङ्-ह्वांग् के सहस्र-बुद्ध-गुहा-विहार मे हजारो बौद्ध भिक्षु निवास करते थे। ये भिक्षु चीनी, तिब्बती, तुर्क, युइशि आदि अनेक जातियों के थे। १०३५ ईस्वी मे इस प्रदेश पर बाह्य आक्रमण प्रारम्भ हो गये, और बौद्ध भिक्षुओं के लिए अपने महाविहारो मे शान्तिपूर्वक रह सकना सम्भव नही रहा। उन्होंने अपने ग्रन्थो को जल्दी-जल्दी कुछ गुहाओं मे भर दिया, और उनके प्रवेश-द्वारो को प्रस्तर खण्डो से बन्द कर ऊपर से लेप दिया। बाहर से देखने पर यह समझा ही नही जा सकता था, कि प्रस्तर-खण्डो से बनी इन दीवारो के पीछे कोई गुहा भी है, और उनमे प्राचीन साहित्य की अनुपम निधि छिपी पडी हैं। नौ सदियो के पश्चात् ये ग्रन्थ फिर प्रकाश मे आये, और इनके अनुशीलन से मध्य एशिया की लुप्त सभ्यताओं का परिचय प्राप्त करने का अवसर मिला। फ्रेंच विद्वानों ने इनका अध्ययन कर जो परिणाम निकाले हैं, वे अत्यन्त महत्त्व के हैं। १०३५ से पूर्व तुङ्-ह्वाग् और उसके समीपवर्ती सब प्रदेशों के निवासी बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, पर चीनी, तिब्बती, तुर्की, उइगूर, भारतीय आदि कितने ही प्रकार के लोग वहाँ निवास करते थे। इस क्षेत्र की संस्कृति पर भारत और बौद्ध धर्म का अतुल प्रभाव था, पर चीन, सुग्ध, तिब्बत आदि देशों की सस्कृति ने भी वहा के लोगो को प्रभावित किया था। वस्तुत, इस क्षेत्र में एक मिश्रित व समन्वयात्मक सस्कृति की सत्ता थी, जिसका निर्माण अनेक देशो की भाषा, लिपि, कला, धार्मिक परम्परा आदि के सम्मिश्रण से हुआ था। भारत के लिए इस क्षेत्र से उपलब्ध हुए हस्तलिखित ग्रन्थो का विशेष रूप से महत्त्व है। बौद्ध धर्म के जो प्राचीन ग्रन्थ इस समय भारत मे उपलब्ध नहीं हैं, उनमे से बहुत-से मध्य एशिया के विविध प्रदेशों से अपने मूल संस्कृत तथा प्राकृत रूप मे उपलब्ध हुए हैं, और बहुत-से उनके चीनी, तिब्बती आदि भाषाओं मे अनुवादो के रूप मे। इस क्षेत्र से बहुत-से ग्रन्थ और लेख ऐसी भाषाओं और लिपियो मे भी मिले हैं, जो वर्तमान समय मे लुप्त हो चुकी हैं। इन्हें भी पढ़ने का प्रयत्न किया जा रहा है।

इतना समय बीत जाने पर भी जो ये ग्रन्थ और चित्र आदि सुरक्षित रूप मे

प्राप्त हो सके, उसका प्रधान कारण यह है कि मध्य एशिया में वर्षा बहुत कम होती है, और वहाँ की जलवायु बहुत खुश्क है। ऋतु के विपरीत प्रभाव से ये ग्रन्थ बचे रह सके हैं, और नमी के कारण इन पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा।

(२) मध्य एशिया से प्राप्त कतिपय महत्त्वपूर्ण भारतीय ग्रन्थ

मध्य एशिया के विविध प्रदेशो से जो बहुत-से भारतीय ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं, उनमे से कुछ का परिचय देना उपयोगी होगा, क्योंकि प्राचीन भारत के विशाल सांस्कृतिक साम्राज्य और बौद्ध धर्म के इतिहास की दृष्टि से ये अत्यन्त महत्त्व के हैं।

बावर मैन्युस्क्रिप्ट—यह ग्रन्थ भोजपत्रो पर लिखा हुआ है, और यह कुची के समीप एक पुराने स्तूप से दो तुर्कों को मिला था, और उन्होंने इसे कर्नल बावर को बेच दिया था (१८९०)। इसके सात भाग हैं, या यूँ कहा जा सकता है कि यह सात छोटी-छोटी पुस्तिकाओ का संग्रह है। पहली तीन पुस्तिकाओं का सम्बन्ध चिकित्सा-शास्त्र के साथ है जिनमे से एक का नाम 'नवनीतक' है। प्राचीन भारत मे चिकित्सा-शास्त्र अच्छी उन्नत दशा मे था, और अनेक विद्वानो ने इस विषय पर ग्रन्थो की रचना की थी। नवनीतक चिकित्साशास्त्र-विषयक पुराने ग्रन्थों के नवनीत (मक्खन) या सार के रूप मे है, और उसमे अग्निवेश, भेद, हारीत, जातुकर्ण, क्षारपाणि, पराशर और सुश्रुत जैसे पुराने आचार्यों के ग्रन्थो से उद्धरण दिये गये है। चिकित्सा के लिए विविध प्रकार के चूर्णों, तैलो, भस्मो आदि का किस प्रकार निर्माण किया जाए, यह नवनीतक मे प्रतिपादित है। दवाइयो के बहुत-से नुस्खे भी इसमे दिये गये है। चिकित्सा-विषयक एक पुस्तिका मे लहसुन के गुणो तथा विविध रोगो की चिकित्सा के लिए उसके उपयोग का वर्णन है। इसमे यह भी लिखा गया है, कि लहसुन के समुचित ढग से प्रयोग द्वारा मनुष्य सौ वर्ष तक जीवित रह सकता है। पाचन शक्ति को किस प्रकार ठीक रखा जाए, इस विषय को भी एक पुस्तिका मे प्रतिपादित किया गया है, और उसमे ऐसे प्रयोग भी दिये गये है जिनसे मनुष्य अपनी आयु को एक हजार साल तक बढ़ा सकता है। बावर मैन्युस्क्रिप्ट की दो पुस्तिकाओ मे सर्पदंश की चिकित्सा दी गई है। इसके लिए इसमे उस तन्त्र-मन्त्र का वर्णन है, जिससे साँप के काटे का इलाज किया जा सकता है। इस तन्त्र-मन्त्र का ज्ञान किस प्रकार हुआ, इस सम्बन्ध मे इन पुस्तिकाओ मे यह कथा लिखी गई है कि एक बार जब भगवान् बुद्ध श्रावस्ती नगरी के समीप श्रेष्ठी अनाथपिण्डक के जेतवन मे निवास कर रहे थे, स्वाति नामक भिक्षु को नाग ने काट लिया। बुद्ध के प्रधान शिष्य आनन्द ने अपने गुरु को यह सूचना दी, कि सर्पदंश के कारण भिक्षु स्वाति बेहोश हो गया है। तब बुद्ध ने 'महामायूरीमन्त्र' का उपदेश दिया, जिसके प्रयोग से स्वाति को होश आ गया। इस महामायूरीमन्त्र का विवरण चुल्लवग्ग और अगुत्तर निकाय मे भी मिलता है। बावर मैन्युस्क्रिप्ट की चिकित्सा-सम्बन्धी ये पुस्तिकाएँ इस विज्ञान के संस्कृत ग्रन्थों में सबसे पुरानी हैं, जो हस्तलिखित रूप मे प्राप्त हुई है। इनकी भाषा संस्कृत और लिपि ब्राह्मी है। ये पुस्तिकाएँ पद्य मे है, और इनका काल ईसा की चौथी सदी मे माना जाता है।

धम्मपद—खोतन के समीप गोश्रृ ग विहार के भग्नावशेषों से धम्मपद की जो हस्तलिखित प्रति सन् १८९२ में फ्रेन्च विद्वान् दुत्रइल द र्हां को प्राप्त हुई थी, उसका उल्लेख पिछले प्रकरण मे किया जा चुका है। यह ग्रन्थ खरोष्ठी लिपि मे है, और इसकी भाषा प्राकृत है। यह भी भोजपत्रो पर लिखा हुआ है, और विद्वानो ने इसे पहली या दूसरी सदी मे लिखा हुआ माना है। खरोष्ठी लिपि का इससे पुराना ग्रन्थ अब तक कोई नही मिला है। पर इसकी सबसे मुख्य विशेषता इसकी भाषा है। भारत मे प्राचीन काल मे अनेक प्राकृत भाषाएँ प्रचलित थी, पर इसकी प्राकृत उन सबसे भिन्न है। उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त की बोलियो की अनेक बातें इसमे विद्यमान हैं। पर इस ग्रन्थ की प्राकृत मे कतिपय ऐसी विशेषताएं भी हैं, जो भारत की किसी भी पुरानी या आधुनिक भाषा या बोली मे नही पायी जाती। प्रोफेसर कोनो ने प्रतिपादित किया है, कि ये विशेषताएँ उस भाषा के प्रभाव की परिणाम है, जो प्राचीन काल में दक्षिण-पूर्वी तुर्किस्तान मे बोली जाती थी। ईस्वी सन् के प्रारम्भिक काल मे भारत मे जैसे सस्कृत और पालि भाषाओ की सत्ता थी, वैसे ही एक प्राकृत भाषा की भी थी। अत. स्वाभाविक रूप से धम्मपद जैसे महत्त्वपूर्ण बौद्ध ग्रन्थ का प्राकृत संस्करण भी उस समय अवश्य प्रचलित रहा होगा। दक्षिण-पूर्वी तुर्किस्तान की तत्कालीन स्थानीय भाषा से प्रभावित होकर प्राकृत धम्मपद ने वह रूप प्राप्त किया, जिसमे कि वह दुत्रइल द र्हा को गोश्रृंग विहार से उपलब्ध हुआ था।

अश्वघोष के नाटक—बौद्ध धर्म के इतिहास मे अश्वघोष का स्थान अत्यन्त महत्त्व का है। वे एक अत्यधिक प्रतिभासम्पन्न विद्वान् थे। उनका जन्म एक सुशिक्षित ब्राह्मण कुल मे हुआ था, और उन्होने सनातन हिन्दू धर्म के शास्त्रो तथा साहित्य का गम्भीर रूप से अध्ययन किया था। पर बाद मे वे बौद्ध धर्म के हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायी हो गये, और कुछ समय पश्चात् महायान सम्प्रदाय के। उनकी गिनती महायान के प्रसिद्ध विद्वानो मे की जाती है, और उन्होने उसके दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण करने के लिए अनेक ग्रन्थो की रचना की थी। अश्वघोष न केवल दार्शनिक ही थे, अपितु कवि भी थे। उनके द्वारा रचित काव्यो को सस्कृत साहित्य मे आदर की दृष्टि से देखा जाता है। पर वे नाटककार भी थे, इसका परिज्ञान उन नाटकों द्वारा ही हुआ, जो मध्य एशिया से प्राप्त किए गए थे। जर्मन विद्वानो की मण्डली ने तुर्फान के क्षेत्र से जो अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त किए थे, उनमे अश्वघोष द्वारा लिखित एक नाटक का अन्तिम अक भी था। इसका नाम शारिपुत्रप्रकरण या शारद्वतीपुत्रप्रकरण है, और नाटक के अन्त मे इसे सुवर्णाक्षी के पुत्र अश्वघोष द्वारा रचित बताया गया है। अश्वघोष के प्रसिद्ध काव्य 'सौन्दरानन्द काव्य' मे भी उसके लेखक का नाम सुवर्णाक्षी-पुत्र अश्वघोष कहा गया है। इससे यह असन्दिग्ध रूप से माना जा सकता है, कि शारिपुत्र प्रकरण नाटक का रचयिता भी वही अश्वघोष था, जो महायान सम्प्रदाय का प्रसिद्ध आचार्य था। तुर्फान से उपलब्ध शारिपुत्रप्रकरण नाटक ताडपत्रो पर लिखा हुआ है, उसकी भाषा सस्कृत और लिपि ब्राह्मी है। ब्राह्मी लिपि के जिस रूप मे यह नाटक लिखा गया है, वह भारत में कुषाण युग में प्रचलित थी। गुप्त युग की ब्राह्मी

से यह अधिक पुरानी है। इसी कारण इस नाटक की तुर्फान मे उपलब्ध प्रति को पहली सदी ईस्वी का माना जाता है। जर्मन विद्वानों की मण्डली ने जो हस्तलिखित ग्रन्थ तुर्फान से प्राप्त किए थे, उनमे कतिपय अन्य नाटको के पृष्ठ भी थे। ये इतने अपूर्ण हैं, कि इनसे न यह जाना जा सकता है कि इन नाटको के क्या नाम थे और न यह कि इनका रचियता कौन था। पर इनकी भाषा, शैली और विषय का अध्ययन कर डा० ल्यूडर्स ने यह प्रतिपादित किया है, कि ये नाटक भी अश्वघोष द्वारा विरचित थे। इनमे से एक नाटक के मुख्य पात्र बुद्ध, शारिपुत्र, मौद्गलायन और एक विदूषक हैं। यह नाटक संस्कृत मे है, पर प्राचीन संस्कृत नाटकों की शैली का अनुसरण करते हुए इसमें हीन स्थिति के पात्रो द्वारा प्राकृत भाषा का भी प्रयोग कराया गया है।

उदानवर्ग—बौद्ध धर्म के सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ उदानवर्ग है, जिसका इस सम्प्रदाय के धार्मिक साहित्य मे वही स्थान है, जो कि थेरवाद के साहित्य मे धम्मपद का है। पहले यह ग्रन्थ केवल चीनी और तिब्बती भाषाओ मे ही उपलब्ध था। पर मध्य एशिया के भग्नावशेषो में इसका मूल संस्कृत रूप भी प्राप्त हुआ है। जर्मन विद्वानो की मण्डली द्वारा जो बहुत-से हस्तलिखित ग्रन्थ मध्य एशिया से प्राप्त किए गये थे, उनमे एक उदानवर्ग भी था। इसकी भाषा संस्कृत है, और लिपि ब्राह्मी। यह जिस ढग की ब्राह्मी लिपि मे लिखा गया है, वह सातवी सदी ईस्वी मे कुची के प्रदेश मे प्रचलित थी। पेलिओ के नेतृत्व मे फ्रांस के विद्वानो की जो मण्डली मध्य एशिया मे अनुसन्धान के लिए गई थी, उस द्वारा भी उदानवर्ग की हस्तलिखित प्रतियो के अनेक अश प्राप्त किए गए थे। इनमे से एक प्रति तुङ्-ह्वाग् से प्राप्त हुई थी, जिसकी लिपि अश्वघोष के नाटको की लिपि से मिलती-जुलती है। इससे यह अनुमान किया गया है, कि यह प्रति ईस्वी सन् की दूसरी सदी के बाद की नही हो सकती। यह प्रति भोजपत्रो पर लिखी हुई है। उदानवर्ग का लेखक धर्मत्रात नाम का विद्वान् था, जिसकी गणना सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के प्रधान आचार्यों मे की जाती है। धर्मत्रात का भागिनेय वसुमित्र था, जिसने राजा कनिष्क द्वारा आयोजित बौद्धो की चौथी धर्मसगीति (महासभा) की अध्यक्षता की थी। धर्मत्रात और वसुमित्र पुष्कलावती या पुष्करावती के निवासी थे। यह नगरी पश्चिमी गान्धार की राजधानी थी। बौद्धो के धार्मिक साहित्य मे उदानवर्ग का इतना अधिक महत्त्व है, कि उसे तिब्बती और चीनी भाषाओ मे अनूदित किया गया था, और संस्कृत के मूल ग्रन्थ की उपलब्धि से पूर्व यह पुस्तक केवल इसके तिब्बती और चीनी अनुवादो के रूप मे ही ज्ञात थी। उदानवर्ग का तिब्बती भाषा मे अनुवाद विद्याप्रभाकर नामक भारतीय विद्वान् द्वारा किया गया था।

मध्य एशिया के क्षेत्र मे उदानवर्ग को इतना महत्त्वपूर्ण माना जाता था, कि वहाँ की भी अनेक भाषाओ में इसका अनुवाद किया गया था। कुची तथा सुग्ध की प्राचीन भाषाओं मे भी इस ग्रन्थ के अनुवाद मिले हैं, जिन्हें जर्मन तथा फ्रेन्च विद्वानो की मण्डलियो ने मध्य एशिया के विविध प्रदेशो से प्राप्त किया था।

कल्पनामण्डितिका—जर्मन विद्वानो की जिस मण्डली ने तुर्फान के प्रदेश से

अश्वघोष के नाटकों के कतिपय अंश प्राप्त किये थे, उसी द्वारा कल्पनामण्डितिका नाम के एक अन्य ग्रन्थ की भी हस्तलिखित प्रति उपलब्ध की गई थी। इसका लेखक कुमारलात नामक विद्वान् था, जिसका उल्लेख ह्यू एन-त्सांग के यात्रा विवरण में भी विद्यमान है। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वानों का उल्लेख करते हुए ह्यू एन-त्सांग ने लिखा है कि विश्व को आलोकित करने वाले चार महान् आचार्य हुए, पूर्व में अश्वघोष, पश्चिम में नागार्जुन, दक्षिण में देव और उत्तर में कुमारलात। कुमारलात तक्षशिला के निवासी थे, और उन द्वारा बौद्ध धर्म के सौत्रान्तिक सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया गया था। उनका प्रधान कार्यक्षेत्र मध्य एशिया में था, और चीन की बौद्ध अनुश्रुति में उनकी गणना बौद्ध धर्म के महान् गुरुओं में की गई है। उनके काल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है, पर यह सब स्वीकार करते हैं, कि वे कनिष्क तथा अश्वघोष के यदि समकालीन नहीं थे, तो उनका समय इनके काल के समीप ही था। प्रायः विद्वानों ने दूसरी सदी में इनके समय को स्वीकार किया है। कुमारलात द्वारा विरचित कल्पना-मण्डितिका की जो प्रति मध्य एशिया से उपलब्ध हुई है, वह ताडपत्रों पर लिखी हुई है। उसकी भाषा संस्कृत और लिपि ब्राह्मी है।

ब्राह्मी लिपि में लिखित अन्य ग्रन्थ—मध्य एशिया के विविध प्रदेशों से ब्राह्मी लिपि में लिखे हुए जो अन्य संस्कृत ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं, उनमें भिक्षुणी-प्रतिमोक्ष-सूत्र, भिक्षुणी-विभंग और भिक्षुप्रतिमोक्ष विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनकी हस्तलिखित प्रतियों के अनेक अंश जर्मन, फ्रेन्च और इंगलिश विद्वानों की मण्डलियों को प्राप्त हुए थे। इनकी भाषा यद्यपि संस्कृत है, पर उसे व्याकरण की दृष्टि से पूर्णतया शुद्ध नहीं कहा जा सकता। पाणिनि के व्याकरण में संस्कृत भाषा के लिए जिन नियमों का प्रयोग किया जाता है, इनमें उनका स्थान-स्थान पर अतिक्रमण हुआ है। इनकी लिपि ब्राह्मी है, पर उसकी शैली ऐसी है, जो तकलामकान के उत्तरी प्रदेश में प्राचीन काल में प्रचलित थी।

ब्राह्मी लिपि की विविध शैलियाँ—मध्य एशिया में उपलब्ध जिन संस्कृत ग्रन्थों की लिपि ब्राह्मी है, उन पर इस प्रकरण में प्रकाश डाला गया है। जो ब्राह्मी लिपि भारत में कुशाण तथा गुप्त कालों में प्रचलित थी, बावर मैन्युस्क्रिप्ट तथा अश्वघोष के नाटक आदि उसी में लिखे गये थे। पर मध्य एशिया में इस लिपि के दो मुख्य भेद व शैलियाँ भी पृथक् रूप से विकसित हो गई थीं, और उन्हें भी संस्कृत के ग्रन्थों को लिखने के लिए प्रयुक्त किया जाता था। तकलामकान मरुस्थल के उत्तरी प्रदेशों में प्राचीन काल में एक भाषा का विकास हुआ था, जिसे जर्मन विद्वानों ने तुखारी और फ्रेन्च विद्वानों ने कुचियन नाम दिया है। इस भाषा की भी अनेक शाखाएँ थीं, जो तुर्फान आदि विविध प्रदेशों में बोली जाती थी। इसी प्रकार तकलामकान मरुस्थल के दक्षिणी प्रदेशों में एक अन्य भाषा प्रचलित थी, जिसे विविध विद्वानों ने शक, पूर्वी ईरानी और खोतनी आदि नामों से लिखा है। ये पुरानी भाषाएँ अब लुप्त हो चुकी हैं, यद्यपि अनेक विद्वान् इनका परिज्ञान प्राप्त करने में तत्पर हैं। इन कुचियन और खोतनी भाषाओं की अपनी-अपनी पृथक् लिपियाँ भी विद्यमान थीं, जो गुप्त युग की ब्राह्मी

लिपि से ही विकसित हुई थी। यह स्वाभाविक था कि इन प्रदेशो के निवासी संस्कृत ग्रन्थों को लिखते हुए इन लिपियो का प्रयोग करें। यही कारण है, कि अनेक प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ इन लिपियो मे लिखे हुए भी मिले हैं।

(३) खरोष्ठी लिपि के लेख

मध्य एशिया के ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियो मे लिखे हुए केवल बौद्ध ग्रन्थ ही नही मिले है, अपितु अन्य भी अनेक प्रकार के ऐसे लेख प्राप्त हुए है, जिनका किसी धर्म के साथ सम्बन्ध नही है। इन्हे प्राय दक्षिण-पूर्वी तुर्किस्तान से प्राप्त किया गया है। इन विविध लेखो को पाँच भागो मे विभक्त किया जा सकता है—(१) लकडी की तख्तियो पर लिखे हुए लेख, (२) चमडे पर लिखे हुए लेख, (३) कागज पर लिखे हुए लेख, (४) रेशमी वस्त्र पर लिखे हुए लेख, और (५) धर्मस्थानों की भित्तियो पर उत्कीर्ण लेख। ये लेख खरोष्ठी लिपि के है, और इनकी भाषा प्राकृत है।

लकड़ी की तख्तियो और चमडे पर लिखे हुए लेख सब से पूर्व सर स्टाइन ने नीया के भग्नावशेषो से प्राप्त किये थे। नीया के समीप प्राचीन काल के अनेक खण्डहर विद्यमान है, जिनके विषय मे वहाँ के निवासियो का यह विचार था कि उनसे कोई गडे हुए खजाने प्राप्त किए जा सकते है। इनकी छानबीन करते हुए एक मुसलमान देहाती को लकडी की कुछ तख्तियाँ मिल गईं, जिन्हे बेकार समझकर उसने बच्चो को खेलने के लिए दे दिया। इनमे से दो तख्तियाँ सर स्टाइन के हाथ लग गईं। उन्हे देखते ही सर स्टाइन ने यह जान लिया, कि इन पर कुशाण युग की खरोष्ठी लिपि के लेख विद्यमान हैं, और ऐतिहासिक दृष्टि से इनका बहुत महत्त्व है। अब सर स्टाइन ने ऐसी तख्तियो की बाकायदा खोज प्रारम्भ कर दी, और वे बहुत-सी तख्तियो को एकत्र करने मे सफल हो गए। वे तख्तियाँ लम्बाई मे प्राय ७ से १५ इन्च तक की है, और इनका उपयोग सरकारी आदेशो को जारी करने या लेखबद्ध करने के लिए किया गया था। स्थानीय राजकर्मचारियो को जो आदेश व निर्देश 'महानुवव महाराय' (महानुभाव महाराज) की ओर से दिए जाते थे, उन्हे लकडी की तख्तियों पर लिखकर भेजा जाता था। इन आदेशो व निर्देशो के लिए दो-दो तख्तियों का प्रयोग किया जाता था, जिनके एक सिरे को रस्सी से बाँधकर उस पर मिट्टी की मुहर लगा दी जाती थी। नीचे की तख्ती पर राजकीय आदेश लिखा हुआ रहता था, और यदि उस पर सारा आदेश न आ सके, तो उसके शेष भाग को ऊपर की तख्ती के उल्टी ओर लिख दिया जाता था। ऊपर की तख्ती पर उस सरकारी कर्मचारी का नाम भी लिखा रहता था, जिसे सरकारी आदेश दिया गया हो। नीचे की तख्ती के उल्टी ओर राजकीय आदेश व निर्देश के स्वरूप को भी उल्लिखित कर दिया जाता था। ऐसी कुछ तख्तियो पर तिथि भी अंकित है। कतिपय तख्तियाँ ऐसी भी प्राप्त हुई हैं, जिनकी लम्बाई ३० इन्च के लगभग है। एक तख्ती की लम्बाई तो ७ फुट ६ इन्च है। इन बडी तख्तियो का उपयोग राजकीय आज्ञाओ को जारी करने, इकरार की शर्तों को लेखबद्ध करने और इसी प्रकार के विविध कानूनी प्रयोजनों के लिए किया गया

था। ये तख्तियाँ भी प्राय: दो-दो के जोड़ों में मिली हैं, जिन्हें रस्सी से बाँधकर मिट्टी की मुहर से मुद्रित कर दिया गया है। इनकी लिपि खरोष्ठी और भाषा प्राकृत है, और इनके लिए इन तख्तियो मे कीलमुद्रा संज्ञा का प्रयोग किया गया है। लकडी की तख्तियों (कीलमुद्राओ) पर जो सरकारी आदेश उल्लिखित हैं, उन्हे किस राजा के शासन-काल मे जारी किया गया था, यह इनके द्वारा ज्ञात नही होता। इन्हे कतिपय उच्च सरकारी अफसरो (जिन्हे महानुभाव महाराजा कहा जाता था) द्वारा अपने अधीनस्थ कर्मचारियो के नाम जारी किया गया था। अत. यदि इनमे देश के राजा का नाम उल्लिखित नही किया गया, तो इसमे आश्चर्य की कोई बात नही है।

लकडी की तख्तियो के समान चमडे को भी इस युग मे राजकीय आदेशो को जारी करने के लिए प्रयुक्त किया जाता था। चमडे पर लिखे हुए भी बहुत-से लेख नीया तथा उसके समीपवर्ती स्थानो के भग्नावशेषो मे मिले है। सख्या मे वे कील-मुद्राओ की तुलना मे बहुत कम हैं। इन्हे भी कतिपय महानुभाव महाराजाओ द्वारा अपने अधीनस्थ कर्मचारियो के नाम आदेश के रूप मे लिखाया गया था, इन सब को प्राय इस ढग मे प्रारम्भ किया गया है—"राज्य के प्रति कर्तव्य को दृष्टि मे रख कर जो आज्ञा मैं जारी कर रहा हूँ, उसे आप भली-भाँति जान लें। अपने जीवन को खतरे मे डालकर भी आप इसका पालन करे, ताकि खोतन मे सुख समृद्धि कायम रहे।"

मध्य एशिया के क्षेत्र से कागज पर लिखे हुए जो भी पुराने लेख मिले है, वे सब लोबनौर झील के उत्तर मे स्थित लौलान के भग्नावशेषो से ही प्राप्त हुए हैं। खोतन, नीया, कुची, तुर्फान आदि से कागज पर लिखे कोई प्राचीन लेख अभी तक नही मिल सके हैं। ये लेख प्रधानतया चीनी भाषा मे है, यद्यपि इनमे से कुछ खरोष्ठी लिपि तथा प्राकृत भाषा मे भी है। इनके विषय भी प्राय वैसे ही है, वैसे कि लकडी की तख्तियो तथा चमडे पर लिखे लेखो के हैं। कागज का आविष्कार दूसरी सदी के प्रारम्भ तक हो चुका था। इस दशा मे खोतन तथा नीया आदि से कागज पर लिखे लेखो का न मिलना सम्भवत: यह सकेत करता है, कि इस क्षेत्र मे सभ्यताओ का ह्रास ईस्वी सन् की कुछ सदियो के पश्चात् प्रारम्भ हो गया था।

रेशम पर लिखे जो लेख मध्य एशिया के विविध प्रदेशो से प्राप्त हुए हैं, उनमे से कुछ ऐसे भी हैं जिनका सम्बन्ध बौद्ध धर्म के साथ है। इनमे से कतिपय लेखो मे किसी व्यक्ति तथा उसके परिवार के आरोग्य के लिए प्रार्थना की गई है। कुशाण युग के अनेक शिलालेखो मे आरोग्य की प्रार्थना करते हुए "आरोग्य दक्षिणायै भवतु" शब्द प्रयुक्त हुए हैं। उन्ही से मिलते-जुलते "अरुगदचिने भवदु"—प्राकृत भाषा के इन शब्दों द्वारा की गई प्रार्थना मध्य एशिया मे उपलब्ध रेशम पर लिखे गए लेखो में विद्यमान हैं। ये लेख रेशम के ऐसे टुकड़ो पर हैं, जो सम्भवत: किन्ही पताकाओं के अंश हैं। रेशम पर लिखे कुछ लेखों का सम्बन्ध राजकीय आदेशों तथा कानूनी मामलों से भी है। इन लेखो की भाषा प्राकृत तथा लिपि खरोष्ठी है।

खोतन के उत्तर में स्थित एक चैत्य की भग्न भित्ति के रंगीन प्लास्टर के

कुछ टुकड़े सर स्टाइन ने प्राप्त किये थे, जिन पर खरोष्ठी लिपि के तीन अक्षर अंकित हैं। विहार, मन्दिर, चैत्य आदि की भित्तियों पर भी खरोष्ठी लिपि के लेखों की सत्ता का इस से संकेत मिलता है।

इस प्रसंग मे यह ध्यान मे रखना चाहिये, कि मध्य एशिया के क्षेत्र से जो विविध ग्रन्थ व लेख आदि उपलब्ध हुए हैं, वे केवल संस्कृत और प्राकृत भाषाओं मे ही नही हैं, चीनी, तिब्बती, कुचिअन, खोतनी आदि भाषाओं के भी बहुत-से हस्तलिखित ग्रन्थ और लेख इस क्षेत्र मे मिले हैं। मध्य एशिया के निवासी प्राचीन समय मे बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, अत वहां से सस्कृत और प्राकृत भाषाओं के बौद्ध ग्रन्थो का प्राप्त होना तो स्वाभाविक ही था। पर राजकीय तथा कानूनी कार्यों और जनता के सामान्य व्यवहार के साथ सम्बन्ध रखने वाले लेखों का भी भारतीय भाषा तथा लिपि मे प्राप्त होना इस बात का प्रमाण है, कि प्राचीन समय मे मध्य एशिया के विविध प्रदेशों पर भारतीय सभ्यता और संस्कृति का अतुल प्रभाव था।

इस क्षेत्र मे केवल बौद्ध धर्म का ही प्रचार नही था, वहां के कुछ निवासी सनातन हिन्दू धर्म के भी अनुयायी थे, यह बात उन मुहरो से सूचित होती है जिन पर कुबेर और त्रिमुख की प्रतिमाएँ अंकित हैं। ऐसी मुहरें नीया के भग्नावशेषो से उपलब्ध हुई है। आन्देरे नामक स्थान पर चित्रित हुई गणेश की एक प्रतिमा भी मिली है।

मध्य एशिया के भग्नावशेषो से उदानवर्ग सदृश सस्कृत ग्रन्थो की जो प्राप्ति हुई है, उसका एक अन्य दृष्टि से भी महत्त्व है। बौद्ध धर्म का जो त्रिपिटक श्रालका, बरमा आदि देशो मे प्रयुक्त होता है, वह पालि भाषा मे है। पर त्रिपिटक का एक संस्करण सस्कृत भाषा मे भी विद्यमान था, यह बात अब तक केवल उन चीनी तथा तिब्बती ग्रन्थो द्वारा ही ज्ञात होती थी, जिनको मूल सस्कृत त्रिपिटक से अनूदित किया गया था। पर मध्य एशिया के विविध स्थानो से उदानवर्ग सदृश जो संस्कृत ग्रन्थ या उनके अश उपलब्ध हुए, उनसे इस बात मे कोई सन्देह नही रह गया, कि भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशो मे बौद्ध धर्म के जो ग्रन्थ प्रयुक्त होते थे, वे सस्कृत भाषा मे थे। बौद्ध विद्वान् सस्कृत के त्रिपिटक के अन्तर्गत इन ग्रन्थों को अपने साथ मध्य एशिया के विविध प्रदेशो में ले गए और वहाँ उनका पठन-पाठन चिरकाल तक जारी रहा। चीन तथा तिब्बत मे जब बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ, तो इन ग्रन्थो का अनुवाद उन देशो की भाषाओं मे किया गया, और अनुवाद के रूप मे ये सब ग्रन्थ वहाँ विद्यमान हैं।

(४) चीनी विवरणों के अनुसार मध्य एशिया में बौद्ध धर्म तथा भारतीय संस्कृति की सत्ता

चीन मे बौद्ध धर्म के प्रचार का सूत्रपात्र हो जाने पर उस देश के अनेक विद्वान् और श्रमण इस उद्देश्य से भारत आते रहे, ताकि यहाँ वे बौद्ध धर्म के मूल ग्रन्थों का अध्ययन कर सकें, और साथ ही अपने धार्मिक तीर्थों की यात्रा का पुण्यलाभ भी प्राप्त कर सकें। ये यात्री प्राय: मध्य एशिया तथा अफगानिस्तान के स्थल मार्ग से ही भारत आया करते थे। अपनी दीर्घ यात्रा में वे बहुधा बौद्ध संघारामों व चैत्यों मे ठहरा करते

के, जिससे इन्हें उनके सम्पर्क में आने का सुवर्णीय अवसर प्राप्त हो जाता था। इन चीनी यात्रियों के जो यात्राविवरण इस समय उपलब्ध हैं, उनसे पाँचवीं से आठवीं सदी तक मध्य एशिया में बौद्ध धर्म तथा भारतीय संस्कृति की सत्ता के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त होती हैं।

फाइयान—इस चीनी यात्री ने पाँचवीं सदी के प्रारम्भ में मध्य एशिया के मार्ग से भारत की यात्रा की थी। फाइयान चांग-ग्रान का निवासी था। वहाँ से वह तुङ्-ह्वाग् गया। उसके शासक ने लोपनौर झील के पूर्व में विद्यमान मरुभूमि को पार करने के सम्बन्ध में सब समुचित व्यवस्था कर दी थी। मरुभूमि को पार कर फाइयान लौ-लान पहुँच गया, जो लोपनौर झील के उत्तरी प्रदेश में है। अब वह मध्य एशिया के क्षेत्र में आ गया था। लौ-लान में हीनयान सम्प्रदाय का प्रचार था, और वहाँ ४,००० श्रमण और भिक्षु निवास करते थे। यहाँ से वह तारीम नदी के साथ के प्रदेश से होता हुआ १५ दिन की यात्रा के पश्चात् वू-ई पहुँचा, जहाँ के निवासी भी बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। यहाँ भी हीनयान सम्प्रदाय का प्रचार था, और ४,००० श्रमण व भिक्षु यहाँ निवास करते थे। ये भारतीय ग्रन्थों का अध्ययन करते थे, और भारतीय भाषा का ही प्रयोग करते थे। फाइयान ने वू-ई से दक्षिण-पश्चिम की दिशा में प्रस्थान किया, और ३५ दिन की यात्रा के पश्चात् वह खोतन पहुँच गया। खोतन के विषय में फाइयान ने लिखा है, कि "यह देश अत्यन्त समृद्ध है। यहाँ के लोग बहुत धनी हैं, और सब बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं। श्रमण और भिक्षु बहुत बड़ी संख्या में हैं, और सब महायान सम्प्रदाय को मानने वाले हैं। सबके भोजन की व्यवस्था जनता द्वारा की जाती है। विदेशों से आने वाले श्रमणों तथा भिक्षुओं के आतिथ्य का समुचित प्रबन्ध है। उनकी सब आवश्यकताएँ यहाँ भलीभाँति पूरी की जाती हैं।" फाइयान के निवास की व्यवस्था गोमती विहार में की गई थी। यह महायान सम्प्रदाय का संघाराम था, जिसमें तीन हजार श्रमण तथा भिक्षु निवास करते थे। घण्टा बजने पर ये सब भोजनशाला में एकत्र हो जाते, और बड़े संयत रूप से भोजन किया करते। भोजनालय में पूर्ण शान्ति बिराजती, भोजनपात्रों तक से कोई आवाज न होती। यदि किसी को भोजन परोसने वालों से कुछ माँगना होता, तो वह इशारा कर देता, मुख से कोई कुछ न बोलता। खोतन में चौदह बड़े संघाराम थे। छोटे-छोटे संघाराम तो और बहुत-से थे। गोमती विहार के श्रमण और भिक्षु एक रथयात्रा निकाला करते थे। रथ ३० फीट ऊँचा होता था, और एक चलते-फिरते प्रासाद के सदृश दिखाई देता था। तोरणों आदि से इसे भलीभाँति सजाया जाता था। रथ के ठीक बीच में भगवान् बुद्ध की मूर्ति स्थापित की जाती थी। केन्द्र की बुद्ध की मूर्ति के पीछे और अगल-बगल में बोधिसत्वों और देवों की मूर्तियाँ रखी जाती थीं। ये सब मूर्तियाँ सोने और चाँदी की होती थीं। जब रथयात्रा का जुलूस नगर के मुख्य द्वार से सौ गज की दूरी पर होता था, तो राजा उसकी अभ्यर्थना करता था। इस अवसर पर वह राजकीय वेश उतार कर उपासकों के वस्त्र धारण करता था, और नंगे पैर चलकर अपने पार्श्वचरों के साथ रथ के स्वागत के लिए आगे बढ़ता था। मूर्ति के सम्मुख आने पर राजा फूलों और सुगन्धि से

उसकी अर्चना करता था। रथयात्रा के जुलूस मे गोमती विहार के ३००० भिक्षु सबसे आगे रहते थे। इस अवसर पर सारे नगर की सफाई की जाती थी, और मकान सजाये जाते थे। खोतन मे चौदह बडे सघाराम थे, और प्रत्येक सघाराम से इसी प्रकार से रथयात्रा निकाली जाती थी। रथयात्राओ का यह उत्सव चौथे महीने के पहले दिन शुरू होता था, और चौदह दिन तक चलता था। उत्सव की समाप्ति पर राजा और रानी अपने राजप्रासाद को वापस लौट जाते थे। फाइयान ने खोतन के एक नये राजकीय विहार का भी वर्णन किया है, जिसे बनकर तैयार होने मे अस्सी साल लगे थे। यह २६० फीट ऊँचा था, और सोने-चाँदी से इसे भलीभाँति विभूषित किया गया था। श्रमणो और भिक्षुओ के निवास के लिए इसमे सुन्दर भवन बनवाये गए थे, और दूर-दूर के राजा इसके सम्मान मे बहुमूल्य भेट और उपहार भेजा करते थे।

खोतन के रथयात्रा-उत्सव मे सम्मिलित होने के अनन्तर फाइयान ने पश्चिम की ओर प्रस्थान किया, और २५ दिन की यात्रा के पश्चात् वह च्स्यू-हो (सम्भवत., यारकन्द) पहुँच गया। इस देश मे भी राजा और प्रजा—सब बौद्ध धर्म के अनुयायी थे और वहाँ एक हजार से भी अधिक श्रमणो तथा भिक्षुओ का निवास था, जो महायान सम्प्रदाय को मानने वाले थे। पन्द्रह दिन इस देश मे विश्राम कर फाइयान ने दक्षिण की ओर प्रस्थान किया, और क्युन-लुन पर्वतमाला को पार कर वह पहले यू-ह्वुई और फिर की-शा पहुँच गया। "की-शा का राजा पचवार्षिक परिषद् का आयोजन करता है, जिसमे चारो दिशाओ के श्रमण तथा भिक्षु आमन्त्रित किए जाते है। इन्हे भरपूर दान-दक्षिणा दी जाती है। की-शा मे एक स्तूप है, जो बुद्ध के एक दाँत के सम्मान मे निर्मित है। यहाँ हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायी एक हजार से भी अधिक भिक्षु निवास करते हैं।" की-शा के बाद क्युन-लुन पर्वतमाला के दक्षिण के जिन प्रदेशो मे फाइयान ने प्रवेश किया, उन्हे उसने भारत के उत्तरापथ के अन्तर्गत रूप से लिखा है। इन प्रदेशो मे भी बौद्ध धर्म का प्रचार था, और बहुत-से सघाराम तथा चैत्य वहाँ विद्यमान थे। यहाँ से अग्रसर होता हुआ फाइयान उद्यान (सुवास्तु या स्वात नदी से सिंचित प्रदेश) देश पहुँच गया। उसके सम्बन्ध मे इस चीनी यात्री ने लिखा है, कि इस देश मे वही भाषा बोली जाती है, जो भारत के मध्यदेश की है और यहाँ के लोगो का रहन-सहन, भोजन, वस्त्र आदि भी मध्यदेश के निवासियो के ही सदृश है। यहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार है, और हीनयान सम्प्रदाय के ५०० सघाराम यहाँ विद्यमान है।

फाइयान के इस यात्राविवरण से यह भलीभाँति सूचित हो जाता है, कि पाँचवी सदी मे मध्य एशिया की धार्मिक तथा सास्कृतिक दशा पर भारत का कितना अधिक प्रभाव था।

सुंगयुन—चीन की महारानी ताई-हाउ ने सुगयुन को बौद्ध धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थों को प्राप्त करने के प्रयोजन से पश्चिम के उन देशो में भेजा था, जो छठी सदी मे बौद्ध धर्म के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। ५१७ ईस्वी मे सुंगयुन ने ह्वुई साग नामक चीनी भिक्षु के साथ भारत के लिए प्रस्थान किया, और भारत जाते हुए उसने मध्य

एशिया के भी अनेक राज्यो की यात्रा की। सुगयुन की यात्रा का विवरण भी उपलब्ध है, और उससे मध्य एशिया की धार्मिक तथा सामाजिक दशा के सम्बन्ध मे भी अनेक उपयोगी बातें जानी जा सकती हैं। सुगयुन ने तुङ्-ह्वाग् से अपनी यात्रा प्रारम्भ की, और लौ-लान होता हुआ वह चो-मोह (यू लो) पहुँच गया। यहाँ उसने बुद्ध और बोधिसत्व की मूर्तियाँ देखी, और उनके सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त की। चो-मोह से वह हन मो गया, जहाँ एक सघाराम था जिसमे ३०० भिक्षु निवास करते थे। १८ फीट ऊँची बुद्ध की एक मूर्ति भी यहाँ स्थापित थी, जो सोने के पत्रों मे मढी हुई थी। हन-मो के बाद सुगयुन खोतन गया। वह बौद्ध धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार किस प्रकार हुआ, इस सम्बन्ध मे सुगयुन ने एक मनोरजक कथा लिखी है। खोतन के लोग पहले बौद्ध धर्म से अपरिचित थे। वैरोचन नाम का एक भिक्षु किसी विदेशी व्यापारी के साथ खोतन गया और नगर के बाहर अलूचे के एक वृक्ष के नीचे उसने अपना आसन जमा लिया। गुप्तचर ने खोतन के राजा को यह सूचना दी, कि एक श्रमण बिना अनुमति के खोतन आया हुआ है, और नगर के दक्षिण मे एक वृक्ष के नीचे डेरा जमाये बैठा है। राजा ने वैरोचन से भेंट की, और उस द्वारा प्रदर्शित चमत्कारो को देखकर वह बौद्ध धर्म का अनुयायी हो गया। खोतन के बाद सुगयुन चौक्कुक (यारकन्द) गया। यहाँ पशुओ की हिंसा निषिद्ध थी। भाषा खोतन की भाषा के समान थी, पर लिपि ब्राह्मणों की (ब्राह्मी) थी।

ह्यु-एन्-त्साग—फाइयान और सुगयुन के यात्राविवरण अत्यन्त सक्षिप्त है। पर ह्यु एन्-त्साग का यात्राविवरण एक विश्वकोष के समान है, जिसके द्वारा उन सब प्रदेशो के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त की जा सकती है, जिनकी यात्रा इस चीनी विद्वान् द्वारा की गई थी। चीन से भारत आते हुए ह्यु एन्-त्साग ने उस मार्ग का प्रयोग किया था, जो तकलामकान की मरुभूमि के उत्तर से होकर जाता है। वापसी यात्रा मे इस चीनी यात्री ने मध्य एशिया के दक्षिणी मार्ग का उपयोग किया था। सातवी सदी के पूर्वार्ध मे इस क्षेत्र के विविध राज्यो मे धर्म तथा सस्कृति का क्या स्वरूप था, इसका एक स्पष्ट चित्र ह्यु एन्-त्साग के यात्रावृत्तान्त द्वारा हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है।

चीन की उत्तर-पश्चिमी सीमा से पश्चिम की ओर यात्रा करते हुए ह्यु एन्-त्साग ने सबसे पहले काओशाग के उस प्रदेश मे प्रवेश किया, जहाँ उइगूर तुर्कों का निवास था। इस प्रदेश की राजधानी तुर्फान थी। काओशाग से वह ओ-कि-नि (अग्नि) देश गया, जहाँ बौद्ध धर्म का भलीभाँति प्रचार था। वहाँ दस से भी अधिक सघाराम विद्यमान थे, जिनमे दो हजार के लगभग श्रमण व भिक्षु निवास करते थे। ये सब हीनयान के सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। यहाँ के निवासी जिस लिपि का प्रयोग करते थे, वह भारतीय लिपि से मिलती-जुलती थी। लोगो को बौद्ध धर्म में श्रद्धा थी, और वे उसके नियमो का अविकल रूप से पालन करते थे।

अग्निदेश के दक्षिण-पश्चिम मे कुची (कुचा) का राज्य था। यह देश बहुत समृद्ध था, और नाशपाती, आड़ू, अलूचे, बादाम आदि यहाँ प्रचुर मात्रा मे उत्पन्न

होते थे। इस देश में सौ के लगभग संघाराम विद्यमान थे, जिनमे पाँच हजार से भी अधिक श्रमणो व भिक्षुओ का निवास था। ये सब भी हीनयान के सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। यहाँ बौद्ध ग्रन्थो का उनके मूल भारतीय रूप मे पठन-पाठन होता था, और लोग एक ऐसी लिपि का प्रयोग करते थे, जो भारतीय लिपि से मिलती-जुलती थी। कुची नगरी के उत्तर मे आठ मील की दूरी पर दो संघाराम थे, जिनके बीच में एक नदी बहती थी। यहाँ बुद्ध की एक कलात्मक मूर्ति थी, जो मनुष्यो द्वारा बनायी हुई प्रतीत नही होती थी। कुची के पश्चिमी द्वार के बाहर ६० फीट ऊँची दो बुद्ध-मूर्तियाँ स्थापित थी। इनके सामने एक सुविस्तृत मैदान था, जहाँ पचवार्षिक परिषद् का आयोजन किया जाता था। देशभर के सब श्रमण और भिक्षु इस अवसर पर वहाँ एकत्र हुआ करते थे, और राजा तथा प्रजा सब उसमे सम्मिलित होते थे। मणि-माणिक्य तथा रेशमी वस्त्रो से विभूषित बुद्ध की मूर्तियो की रथयात्रा निकाली जाती थी, और लोग उनकी श्रद्धापूर्वक अभ्यर्थना किया करते थे। पचवार्षिक परिषद् के इस स्थान से उत्तर-पश्चिम की ओर एक नदी पडती थी, जिसे पार करने पर एक 'असाधारण' या 'आश्चर्य' विहार आता था, जिसका केन्द्रीय भवन अत्यन्त विशाल तथा खुला हुआ था। यहाँ बुद्ध की एक सुन्दर व कलात्मक मूर्ति स्थापित थी। यहाँ के श्रमण व भिक्षु अत्यन्त बुद्धिमान्, कर्तव्यपरायण तथा परिश्रमी थे। जिन लोगो को बुद्ध की शिक्षाओ का सही-सही ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा होती थी, वे दूर-दूर से यहाँ आया करते थे, और यहाँ के स्थविरो तथा आचार्यों से शिक्षा ग्रहण किया करते थे। राजा द्वारा इनकी सब आवश्यकताओ की पूर्ति की समुचित व्यवस्था की जाती थी।

कुची से १२० मील पश्चिम की ओर भरुक या अक्सू का राज्य था, जहाँ के निवासियो का रहन-सहन, प्रथाएँ व व्यवहार प्राय वैसे ही थे, जैसे कि कुची के लोगो के थे। पर उनकी भाषा कुची की भाषा से कुछ भिन्न थी। यहाँ दस सघाराम थे, जिनमे सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के एक हजार के लगभग श्रमण तथा भिक्षु निवास करते थे।

भरुक या अक्सू राज्य के उत्तर-पश्चिम मे लिग-शान (हिम से आवृत्त) पर्वत-माला थी, जिसे लाघ कर ह्यु एन्-त्साग ने इसिक-कुल झील के प्रदेश मे प्रवेश किया था। यहाँ से एक सौ मील के लगभग पश्चिम की ओर चलने पर वह सु-शे नगर पहुँच गया, जो व्यापार का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था और जहाँ उस क्षेत्र के सब देशो के व्यापारी एकत्र हुआ करते थे। सु-शे के पश्चिम मे उस समय अनेक राज्य थे, जो तुर्क खान (राजा) की अधीनता स्वीकार करते थे। अपनी यात्रा मे ह्यु एन्-त्सांग ने तुर्क खान से भी भेंट की थी, और उसे बौद्ध धर्म का उपदेश भी दिया था। सातवी सदी के प्रारम्भ काल तक तुर्क लोग ईरान के धर्म के प्रभाव मे आ चुके थे, और उन्होंने पारसियो के समान अग्नि की पूजा प्रारम्भ कर दी थी। तुर्क एक विशाल जाति थी, जिसके दो प्रधान भाग थे—पूर्वी तुर्क और पश्चिमी तुर्क। इसिक-कुल झील के पश्चिमी तथा पश्चिम-दक्षिण के प्रदेश इस समय पश्चिमी तुर्कों के शासन मे थे। बौद्ध धर्म के साथ भी उनका सम्पर्क प्रारम्भ हो गया था, और अनेक बौद्ध श्रमण व भिक्षु उनके प्रदेशो में अपने धर्म का प्रचार करने मे तत्पर थे। तुर्क खान की अधीनता में विद्यमान विविध

प्रदेशों की यात्रा करता हुआ ह्यु एन्-त्सांग पश्चिम में चे-शिग (ताशकन्द) पहुँच गया। वहाँ से वह दक्षिण-पूर्व की ओर मुड़ गया, और खोकन्द तथा सुतृष्ण होता हुआ समरकन्द जा पहुँचा। यहाँ से वह दक्षिण दिशा की ओर चला, और बोखारा आदि होता हुआ बल्ख (बाह्लीक) पहुँच गया। बल्ख के उत्तर के सब प्रदेश उस समय तुर्कों की अधीनता मे थे, जिनमे बौद्ध धर्म का अभी विशेष प्रचार नही हुआ था। ताशकन्द, समरकन्द आदि इस समय रूस की समाजवादी सोवियत रिपब्लिक के अन्तर्गत हैं, और रूसी तुर्किस्तान कहाते हैं। ह्यु एन्-त्सांग ने इन प्रदेशों के निवासियों के रीतिरिवाज, रहन-सहन आदि का जो विवरण लिखा है, उसमे बौद्ध संघारामों तथा भिक्षुओ के निवास का उल्लेख नही किया है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है, कि ये प्रदेश अभी बौद्ध धर्म के प्रभाव से वञ्चित थे।

पर बल्ख मे बौद्ध धर्म का भलीभाँति प्रचार था। बाह्लीक नगर के दक्षिण-पश्चिम मे एक विशाल विहार विद्यमान था, जिसे 'नव-सघाराम' या 'नव-बिहार' कहते थे। हिन्दूकुश पर्वत के उत्तरी प्रदेशो में यह बौद्ध धर्म का सबसे बडा केन्द्र था। यहाँ कितने ही ऐसे स्थविर तथा अर्हत निवास कर चुके थे, जो बौद्ध धर्म के अगाध विद्वान् थे और जिन्होने अनेक शास्त्रो की रचना की थी। यहाँ बुद्ध की एक विशाल मूर्ति थी, जो मणिरत्नो से विभूषित थी। जिस भवन मे यह मूर्ति स्थापित थी, वह भी अमूल्य मणिमाणिक्यो द्वारा अलकृत था। वैश्रवण देव की भी एक मूर्ति इस सघाराम मे विद्यमान थी, जिसके कारण कोई दस्यु इस सघाराम की सम्पत्ति को लूट नही सकता था। शेहू खान नामक तुर्क राजा ने इस प्रयोजन से बाह्लीक नगरी पर आक्रमण किया था, ताकि नव-सघाराम के रत्नो तथा मणिमाणिक्य आदि को लूट लिया जाए। पर रात के समय स्वप्न मे शेहू खान को वैश्रवण देव दिखाई दिया, जो भाला तान कर उससे कह रहा था—'तुममे कौन-सी ऐसी शक्ति है, जिससे तुम इस संघाराम पर आक्रमण करने का साहस कर रहे हो।' शेहू खान इससे डर गया, और नवसघाराम को कोई क्षति नही पहुँचा सका। इस सघाराम मे बुद्ध का एक दाँत, डण्डा तथा कुछ अन्य वस्तुएँ भी रखी हुई थी, जिनका दर्शन कर भक्त लोग पुण्यलाभ किया करते थे। संघाराम के उत्तर मे एक स्तूप था, जिसकी ऊँचाई २०० फीट थी। इस स्तूप के दक्षिण पश्चिम मे एक अन्य विहार था, जिसमे बहुत-से स्थविर तथा अर्हत निवास करते थे। इनकी संख्या सैकडो मे थी।

बाह्लीक नगरी से दस मील उत्तर-पश्चिम मे ती-वेई नगरा थी, और उसके आठ मील उत्तर में पो-ली नगरी। इन दोनो नगरियों मे तीस-तीस फीट ऊँचे दो स्तूप विद्यमान थे। ह्यु एन्-त्साग के अनुसार ये स्तूप अत्यन्त प्राचीन थे, और इन्हे ऐसे व्यापारियो द्वारा बनाया गया था, जिन्होंने कि स्वयं भगवान् बुद्ध के उपदेशो का श्रवण किया था।

कतिपय अन्य स्थानों की यात्रा करता हुआ ह्यु एन्-त्साग बामियान के प्रदेश मे पहुँच गया, जो अफगानिस्तान के क्षेत्र में है, और वहाँ से कपिशा, गान्धार आदि होते हुए उसने भारत में प्रवेश कर लिया। भारत की यात्रा को समाप्त कर यह

चीनी यात्री स्थल मार्ग से ही अपने देश को वापस गया। पर इस बार उसने मध्य एशिया के उस दक्षिणी मार्ग का प्रयोग किया, जो तकलामकान के दक्षिण से होकर चीन जाता था। इस मार्ग मे वह जिन राज्यो व प्रदेशो से होकर गया, उनमे बौद्ध धर्म तथा भारतीय सस्कृति का भलीभाँति प्रचार था। अत ह्यु एन्-त्साग ने इनके विषय मे जो विवरण लिखा है, उसका भी यहाँ सक्षेप के साथ उल्लेख करना उपयोगी होगा।

काशगर मे फल और फूल प्रचुरता से होते थे। वहाँ की लिपि भारत की लिपि के नमूने पर बनायी गई थी। इस देश के निवासी बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, और उसका निष्ठापूर्वक पालन करते थे। यहाँ सैकडो की सख्या मे सघाराम विद्यमान थे, जिनमे दस हजार के लगभग श्रमणो तथा भिक्षुओ का निवास था। ये सब हीनयान के सर्वास्ति-वादी सम्प्रदाय के अनुयायी थे, और सदा अपने धर्मग्रन्थो के अध्ययन मे तत्पर रहते थे। बहुत-से लोग ऐसे भी थे, जो त्रिपिटक तथा विभाषा ग्रन्थो का पाठ तो करते थे, पर उनके अभिप्राय की गहराई मे नही जाते थे।

काशगर से १०० मील दक्षिण-पूर्व की ओर चोक्कुक (यारकन्द) की स्थिति थी, जहाँ पहुँचने के लिए सीता (तारीम) नदी को पार करना होता था। इस देश की भाषा तो खोतनी से भिन्न थी, पर यहाँ की लिपि वही थी जो खोतन की थी। यहाँ के निवासी सुशिक्षित तो नही थे, पर बौद्ध धर्म मे उनकी आस्था थी। यहाँ दसो सघाराम ऐसे थे, जो अब प्राय उजडे हुए थे। इनमे जो सैकडो श्रमण व भिक्षु निवास करते थे, वे महायान सम्प्रदाय के अनुयायी थे। चोक्कुक के दक्षिण मे एक ऊँची पर्वतमाला थी, जो दुर्गम जगलो से परिपूर्ण थी। इनकी गुफाओ मे भारत मे आये हुए बहुत-से अर्हतो ने निवास किया था। क्योकि अनेक अर्हतो ने यहाँ रहकर निर्वाण पद की प्राप्ति की थी, अत उनकी स्मृति मे यहाँ अनेक स्तूप विद्यमान थे। तीन भारतीय अर्हत ह्यु एन्-त्साग की यात्रा के समय मे भी वहाँ समाधि लेकर निवास कर रहे थे। महायान सम्प्रदाय के ग्रन्थ यहाँ जितनी अधिक सख्या मे उपलब्ध थे, उतने अन्यत्र कही नही पाये जाते थे। यहाँ दस ऐसे ग्रन्थ थे, जिनमे से प्रत्येक मे एक-एक लाख पद थे। छोटे-छोटे ग्रन्थ तो यहाँ बहुत बडी सख्या मे विद्यमान थे।

यारकन्द से १८० मील के लगभग पूर्व मे खोतन का राज्य था। ह्यु एन्-त्साग के अनुसार खोतन के निवासी अत्यन्त समृद्ध, सभ्य तथा सुसस्कृत थे। यहाँ की लिपि भारत की लिपि को दृष्टि मे रखकर बनायी गई थी, यद्यपि उसके अक्षर कुछ भिन्न प्रकार के थे। खोतनी भाषा की वाक्य रचना भी भारत के ढग की ही थी। खोतन के निवासी बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, और वहाँ सौ से अधिक सघाराम विद्यमान थे, जिनमे ५००० से भी अधिक श्रमण व भिक्षुओ का निवास था। ये सब महायान सम्प्रदाय के अनुयायी थे। खोतन का राजा बौद्ध धर्म के प्रति आस्था रखता था, और अत्यन्त वीर था। वह अपने को वैश्रवण देव का वशज मानता था। यहाँ वैश्रवण का एक प्राचीन मन्दिर भी विद्यमान था, जो विविध मणि-रत्नो द्वारा विभूषित था। राजा व प्रजा समान रूप से वहाँ पूजा के लिए आया करते थे।

खोतन नगरी के दक्षिण मे दो मील की दूरी पर एक विशाल संघाराम था, जिसे खोतन के एक पुराने राजा ने वैरोचन के सम्मान मे बनवाया था। ह्यु एन्-त्सांग ने इसके निर्माण की कथा इस प्रकार लिखी है—पुराने समय में जब खोतन मे तथागत बुद्ध के धर्म का भलीभाँति प्रचार नही हुआ था, वैरोचन नाम का एक अर्हत काश्मीर से वहाँ गया था। वह खोतन के समीप जंगल मे समाधि लगाकर बैठ गया। जिन लोगों ने उसे देखा, वे उसकी पोशाक तथा मुख-मण्डल को देखकर आश्चर्यचकित रह गए। उन्होने राजा को उसके विषय मे सूचना दी, और वह उसे देखने के लिए जगल मे गया। राजा ने उससे प्रश्न किया—तुम कौन हो और क्यों इस सघन जगल में अकेले रह रहे हो ? अर्हत ने इसका यह उत्तर दिया—मैं तथागत का शिष्य हूँ, और यहाँ ध्यान-समाधि का अभ्यास कर रहा हूँ। तथागत बुद्ध प्राणिमात्र के प्रति प्रेम और करुणा की भावना रखते थे, और ससार को सन्मार्ग प्रदर्शित करने के लिए ही प्रगट हुए थे। जो उनके पथ का अनुसरण करते हैं, वे जन्म और मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाते हैं। जो उनकी शिक्षाओ को नही जानते, वे ही संसार के जाल मे फँसे रहते हैं। आप भी तथागत बुद्ध के मार्ग का अनुसरण करें और उनके सम्मान मे एक सघाराम का निर्माण कराएँ, जिसमे श्रमण निवास कर सकें। वैरोचन से प्रभावित होकर खोतन का राजा बौद्ध धर्म का अनुयायी हो गया, और उसने एक संघाराम का निर्माण कराया।

खोतन नगरी से चार मील दूर दक्षिण-पश्चिम मे गोश्रृ ग पर्वत था, जिसकी उपत्यका मे एक सघाराम विद्यमान था, जिसे गोश्रृ ग विहार कहते थे। इसमे बुद्ध की एक ऐसी मूर्ति थी, जिसमे निरन्तर प्रकाश की किरणे निकलती रहती थी। खोतन से दो मील दक्षिण-पश्चिम मे एक अन्य सघाराम था, जिसे 'दीर्घभवन सघाराम' कहते थे। इसमे बुद्ध की जो मूर्ति थी, उसे कुची से लाया गया था। खोतन राज्य मे अन्य भी बहुत से सघाराम थे, जिनके सम्बन्ध मे अनेक कथाएँ ह्यु एन्-त्साग ने अपने यात्रा-विवरण मे दी हैं। इसमे सन्देह नही, कि सातवी सदी के पूर्वार्ध मे यह देश बौद्ध धर्म का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण केन्द्र था।

ह्यु एन्-त्साग के समय मे खोतन से पूर्व की ओर के प्रदेश प्राय उजड चुके थे, और जहाँ कभी समृद्ध नगरियाँ विद्यमान थी वहाँ की भूमि अब मरुस्थल के रूप मे परिणत हो गई थी। खोतन के पूर्व मे ७५ मील के लगभग चलने के पश्चात् ह्यु एन्-त्साग पी-मो नामक नगर मे गया, जहाँ बुद्ध की २० फीट ऊँची एक मूर्ति थी जो चन्दन की बनी हुई थी। इससे प्रकाश की किरणें निकलती रहती थी, और लोगो का विश्वास था कि इसमे चामत्कारिक शक्ति है। रोगी इसकी अर्चना कर आरोग्य प्राप्त करते थे, और सच्चे हृदय से जो इच्छा इसके सम्मुख प्रगट की जाए वह पूर्ण हो जाती थी। इसके विषय मे यह किम्वदन्ती प्रचलित थी, कि इसे कौशाम्बी के राजा उदयन ने बनवाया था। पी-मो के पश्चात् मरुभूमि से होता हुआ ह्यु एन्-त्साग तुखार देश पहुँच गया। यह देश इस समय उजाड दशा मे था, और इसके नगरो मे कोई भी आबादी नही थी। तुखार से १२० मील पूर्व की ओर चे-मो-तो-ना का प्रदेश था। यहाँ के नगर की ऊँची-ऊँची दीवारें अब भी खड़ी थी, पर अब वहाँ बहुत कम लोगो का निवास था। यहाँ से

२०० मील उत्तर-पूर्व मे लौ-लान की स्थिति थी। लौ-लान के साथ ह्यू एन्-त्सांग का यात्रा-विवरण समाप्त हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है, कि तकला मकान मरुस्थल के दक्षिण मे और खोतन के पूर्व मे जो अनेक प्रदेश पहले अच्छी समृद्ध दशा मे थे, और जहाँ भारतीयों ने अपने अनेक उपनिवेश भी स्थापित किए थे, सातवी सदी से पूर्व किसी समय वे उजड़ गए थे। ह्यू एन्-त्सांग ने इनके उजडने के सम्बन्ध मे कतिपय कथाओ का भी उल्लेख किया है, पर ऐतिहासिक दृष्टि से उनका कोई महत्त्व नही है।

चीनी यात्रियों के यात्रा-विवरणो से मध्य एशिया के क्षेत्र मे बौद्ध धर्म और भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध मे जो सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं, उनकी पुष्टि उन खोजो द्वारा भलीभाँति हो गई है, जो आधुनिक विद्वानो के इस क्षेत्र के अवगाहन का परिणाम हैं। गत एक सदी मे फ्रांस, रूस, जर्मनी, ब्रिटेन और जापान के विद्वानो ने इस क्षेत्र के पुराने भग्नावशेषो की खोज के लिए जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया, उसका उल्लेख इसी अध्याय मे पहले किया जा चुका है। अगले प्रकरण मे हम इस खोज के परिणामो को संक्षिप्त रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

(५) सिंगकियांग (चीनी तुर्किस्तान) में भारतीय संस्कृति के अवशेष

सिंगकियांग के विविध प्रदेशो मे गत वर्षों मे पुरातत्त्व-सम्बन्धी जो खोज हुई है, उससे वहाँ भारतीय धर्म तथा संस्कृति की सत्ता के ठोस प्रमाण प्राप्त हुए हैं। इनसे चीनी यात्रियो के उन विवरणो की भी पुष्टि होती है, जिनका उल्लेख पिछले प्रकरण मे किया गया है।

काशगर—काशगर नगर के उत्तर-पूर्व मे कुरघान नाम का टिम (खेडा) है, जिसकी खुदाई से एक विशाल स्तूप के खण्डहर प्रकाश मे आए है। इसकी ऊँचाई भग्न दशा मे भी ८५ फीट के लगभग है। यह स्तूप जिस क्षेत्र पर निर्मित था, उसकी लम्बाई १६० फीट थी, और चौडाई १३० फीट। इसके निर्माण के लिए बडे आकार की ईंटें प्रयुक्त की गई थी, और उन्हे सूर्य की धूप मे पकाया गया था। यह स्तूप अत्यन्त भग्न दशा मे है, पर इसकी रूपरेखा अब भी स्पष्ट रूप से विद्यमान है।

काशगर के दक्षिण मे दो मील की दूरी पर एक अन्य खेडा या डूह (mound) है, जिसे किजिल डेबे कहते है। यह भी एक प्राचीन स्तूप के भग्नावशेषो को सूचित करता है। वर्तमान समय मे इस स्तूप की ऊँचाई २७ फीट है, और आधार मे यह १३० × १०० फीट के आकार का है। किजिल डेबे से ५० फीट पश्चिम मे एक अन्य स्तूप के खण्डहर विद्यमान है, जिसका आधार-भाग गोलाकार था, और इस आधार का व्यास १२५ फीट था।

काशगर के २० मील उत्तर-पूर्व मे खान-उई नामक एक गाँव है, जिसके पास एक विशाल खेडा है, जो टोपा-टिम के नाम से प्रसिद्ध है। यह खेडा भी एक विशाल स्तूप के खण्डहरो को सूचित करता है, जो भग्न दशा मे भी २८ फीट ऊँचा है। आधार-भाग मे इस स्तूप की परिधि ३५० फीट के लगभग है, जिससे इसकी विशालता का अनुमान किया जा सकता है। टोपा-टिम के समीप ही एक प्राचीन संघाराम के अवशेष

भी विद्यमान हैं, जिसकी लम्बाई २६० फीट और चौड़ाई १७० फीट थी। टोपा-टिम के समीप ही एक अन्य खेडा है, जिसे मौरी टिम कहते हैं। यहाँ एक विशाल स्तूप की सत्ता है, जो पर्याप्त रूप से सुरक्षित दशा में है। वर्तमान दशा मे इसकी ऊँचाई ७० फीट के लगभग है, और इसका निर्माण प्राय: उसी ढग से हुआ है, जैसे कि सारनाथ का स्तूप है।

काशगर के क्षेत्र मे ही खाकान्गि-शहरी (महान् खान का शहर) के सुविस्तृत भग्नावशेष पाये गये हैं, जिनमे ईंटो द्वारा निर्मित एक स्तूप के खण्डहर भी हैं। वर्तमान दशा मे भी यह स्तूप ३२ फीट ऊँचा है। इसका आधार भाग चौकोर है, और चौकोर स्तूप का प्रत्येक पार्श्व ३२ फीट चौडा है। इस स्तूप क निर्माण के लिए जिन ईंटो का प्रयोग किया गया है, वे १५ इच लम्बी तथा १२ इंच चौडी हैं। खाकान्गि-शहरी से एक मील दूर उत्तर-पश्चिम मे विशाल चट्टान से निर्मित एक गुहा-मन्दिर के अवशेष विद्यमान हैं, जिसकी एक भित्ति पर भगवान् बुद्ध का शीर्ष स्पष्ट रूप से अकित है। इस गुहा-मन्दिर के साथ वह प्रदक्षिणा-पथ भी है, जिसका उपयोग पूजा के लिए किया जाता था।

काशगर के सम्बन्ध मे ह्यू एन्-त्सांग ने यह लिखा है कि वहाँ सैकडों की सख्या मे सघाराम विद्यमान थे, जिनमे दस हजार के लगभग श्रमण तथा भिक्षु निवास करते थे। ऊपर काशगर के जिन स्तूपो तथा सघारामो के अवशेषो का उल्लेख किया गया है, ह्यू एन्-त्साग के समय मे वे अवश्य ही पूर्ण तथा सुरक्षित दशा मे रहे होगे। इस क्षेत्र मे पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोज होने पर अन्य स्तूपो तथा सघारामो के अवशेष भी प्रकाश मे आ सकते है।

यारकन्द से खोतन की ओर—ह्यू एन्-त्साग ने यह किम्वदन्ती लिखी है, कि-चे-चू-चिया (यारकन्द के क्षेत्र मे कर्घलिक) के दक्षिण मे एक ऐसा पर्वत था, जिसकी गुफाओं मे तपस्या कर अनेक भारतीय स्थविरो के अर्हत पद प्राप्त किया था। ह्यू एन्-त्साग ने इन अर्हतो के चमत्कारो का भी वर्णन किया है। वर्तमान समय मे भी इस प्रदेश के पहाडो मे चार ऐसी गुफाओ की सत्ता है, जिनके सम्बन्ध मे समीप के निवासियो मे यह किम्वदन्ती विद्यमान है, कि इनमे किसी पुराने जमाने मे ऐसे फकीर निवास करते थे जिन्हे अनेकविध सिद्धियाँ प्राप्त थी। इस प्रदेश के सब निवासी वर्तमान समय में मुसलमान है। पर वे भी इन गुफाओ की पूजा करते हैं, और इनमे से दो को वे किन्ही पुराने फकीरो की मजार समझते हैं। इस्लाम को स्वीकार कर लेने पर भी यहाँ के लोगो मे प्राचीन बौद्ध अर्हतो की स्मृति अब तक भी शेष है, और वे अब भी उनकी पूजा करने मे तत्पर रहते हैं।

यारकन्द से खोतन जाने वाले मार्ग मे पुस्की नाम का एक अन्य खेडा है, जो एक प्राचीन स्तूप के अवशेषो को सूचित करता है। इसका आधार-भाग चौकोर रूप में है, जिसके प्रत्येक पार्श्व की चौडाई ३४ फीट है। इसके निर्माण के लिए जिन ईंटो का प्रयोग किया गया है, वे १७ इंच लम्बी और १४ इंच चौड़ी हैं। मोटाई में ये केवल ४ इच हैं। पुस्की से आगे दूवा नामक स्थान पर एक अन्य स्तूप के खण्डहर विद्यमान हैं।

खोतन—मध्य एशिया के भारतीय उपनिवेशो मे खोतन सर्वप्रधान था, और खोतन नगरी अत्यन्त समृद्ध तथा वैभवपूर्ण थी। जिस स्थान पर यह नगरी विद्यमान थी, अब वहाँ योतकान नाम का गाँव है, और पुराने खोतन के बहुत-से अवशेष इसी गाँव के नीचे दबे पड़े है। योतकान के समीपवर्ती स्थानो पर जो खुदाई की गई है, उससे अनेक ऐसी वस्तुएँ प्राप्त हुई है, जिनके द्वारा वहाँ बौद्ध धर्म तथा भारतीय सस्कृति की सत्ता सूचित होती है। यहाँ से बहुत-से पुराने सिक्के मिले है, जिनमे ऐसे सिक्के भी है, जिनके एक ओर खरोष्ठी लिपि मे लिखे गये प्राकृत भाषा के लेख हैं, और दूसरी ओर चीनी भाषा के लेख विद्यमान हैं। ऐतिहासिक अनुश्रुति के अनुसार खोतन भारतीय और चीनी दोनो के सम्मिलित प्रयत्न से बसाया गया था और वहाँ के निवासी भारतीय और चीनी दोनो प्रकार के थे। वहाँ से उपलब्ध हुए ये सिक्के इस अनुश्रुति की सचाई का सकेत करते है। खोतन की खुदाई मे कुशाणवशी राजाओ के भी बहुत-से सिक्के मिले हैं, जिनमे कनिष्क के सिक्के सबसे अधिक है। कुशाण सम्राट् खोतन को भी अपने साम्राज्य के अन्तर्गत करने मे समर्थ हुए थे, इसका यह भी एक प्रमाण है। खोतन की खुदाई मे अनेक ऐसे प्रस्तरफलक मिले है, जिन पर भगवान् बुद्ध के जीवन के साथ सम्बन्ध रखने वाली कथाएं उत्कीर्ण की गई है। बोधिसत्त्व जब राज-प्रासाद का परित्याग कर भिक्षुव्रत ग्रहण करने लगे, तो उन्होने खड्ग द्वारा अपनी केशराशि को काट दिया था। एक प्रस्तरफलक पर बोधिसत्त्व द्वारा अपने केशो को काटते हुए दिखाया गया है। उनके दायें हाथ मे खड्ग है, और बायें हाथ से उन्होंने अपनी केशराशि को पकडा हुआ है। एक अन्य प्रस्तरफलक पर बुद्ध का जन्म प्रदर्शित किया गया है, और एक पर बुद्ध को तपस्या करते हुए दिखाया गया है जबकि कामदेव (मार) उनकी तपस्या भग करने का प्रयत्न कर रहा है।

चीनी यात्रियो ने खोतन नगरी के अनेक स्तूपो तथा सघारामो का उल्लेख किया है। पर ये प्राय लकडी के बने हुए थे। इसी कारण ये देर तक कायम नही रह सके, और खोतन की खुदाई मे इनके कोई अवशेष अब तक उपलब्ध नही हुए है। पर ह्युएन्-त्सांग ने खोतन नगरी के दक्षिण-पश्चिम मे चार मील की दूरी पर जिस गोश्रृग पर्वत तथा उस पर विद्यमान गोश्रृ ग विहार का वर्णन किया है, उसके अवशेष अब तक भी विद्यमान हैं। खोतन के दक्षिण-पश्चिम मे कर-काश नदी बहती है, जिसके पार २५० फीट ऊँची एक पहाडी सीधी खडी हुई है। ऐतिहासिको का मत है, कि यही ह्युएन्-त्सांग का गोश्रृग पर्वत है, और इसी को तिब्बती अनुश्रुति मे 'गोशीर्स' नाम से कहा गया है। वर्तमान समय मे इसे कोहमारी कहा जाता है। यहाँ अब भी एक गुहा विद्यमान है, जिसमे दो मजिलें है। निचली गुहा ३६ फीट लम्बी और १४ फीट चौडी है। इसकी ऊचाई ८ से १० फीट तक है। उपरली गुहा १३ फीट लम्बी और ८ फीट चौडी है। धम्मपद की भोजपत्रो पर लिखी हुई जो प्राचीन प्रति सन् १८९२ मे दुत्रइल द र्‌हा नामक फ्रेंच विद्वान् को खोतन से प्राप्त हुई थी, वह इसी गुहा से मिली थी। गुहा से नीचे कोहमारी की उपत्यका मे एक मजार भी है। इस प्रदेश के मुसलिम निवासी जहाँ जियारत के लिए एकत्र हुआ करते हैं। वस्तुतः, यह एक प्राचीन

बौद्ध चैत्य का अवशेष है, और इसके प्रति खोतन के निवासियों मे जो श्रद्धाभावना थी, उसके कारण इस्लाम मे दीक्षित हो जाने पर भी वे मजार के रूप मे इसकी पूजा करने लगे। मध्य एशिया के विविध प्रदेशों मे जो लोग अब भी बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं, वे कोहमारी को अपना पवित्र तीर्थ मानते है, और वहाँ तीर्थयात्रा के लिये आया करते है।

ह्यु एन्-त्सांग तथा फाइयान दोनो चीनी यात्रियो ने एक अन्य सघाराम का उल्लेख किया है, जो खोतन से १½ मील के लगभग दूर दक्षिण मे स्थित था। यहाँ जो स्तूप था, ह्यु एन्-त्सांग ने उसकी ऊँचाई १०० फीट लिखी है। योतकान के समीप सोमिया नामक गाँव है, जहाँ एक बहुत बडा खेडा है, जिसके नीचे किसी विशाल इमारत के भग्नावशेष दबे पडे हैं। सम्भवत, ये उसकी सघाराम तथा स्तूप को सूचित करते है, जिसका उल्लेख चीनी यात्रियो ने किया है। सोमिया मे एक मजार भी है, जो शायद किसी बौद्ध अर्हत की समाधि है। सोमिया के खेडे को स्थानीय लोग अत्यन्त आतक की दृष्टि से देखते है, और वहाँ से गुजरते हुए उसके प्रति सम्मान अवश्य प्रगट करते हैं। इसी अध्याय मे ऊपर वैरोचन नामक अर्हत की कथा लिखी गई है, जिसने खोतन के समीप जगल मे घोर तपस्या की थी और जिसके आदेश का पालन कर खोतन के राजा ने वहाँ एक सघाराम का निर्माण कराया था। सोमिया का सुविस्तृत खेडा इसी प्राचीन सघाराम तथा स्तूप का परिचायक माना जाता है।

दन्दान उइलिक—खोतन से पूर्व की ओर मरुभूमि मे दन्दान-उइलिक की स्थिति है, जहाँ पर एक प्राचीन नगर के अवशेष रेत के नीचे दबे पडे है। इन खण्डहरो का क्षेत्र उत्तर से दक्षिण की ओर १½ मील लम्बा है, और पूर्व से पश्चिम की ओर एक मील। १½ वर्गमील इस सुविस्तृत क्षेत्र में कितने ही बौद्ध चैत्यो, सघारामो और सर्वसाधारण लोगो के निवास-गृहो के भग्नावशेष बिखरे पडे है, जिन्हे रेत ने ऊपर से ढका हुआ है। जब कभी आँधी या तेज हवा से रेत उडने लगता है, तो इनकी भग्न दीवारे नजर आने लगती है। पुरातत्व के विद्वानो द्वारा जब इस स्थान से रेत हटाकर प्राचीन अवशेषो का अनुसन्धान किया गया, तो कितनी ही महत्त्वपूर्ण वस्तुए प्रकाश में आयी। यहाँ एक ऐसी भग्नप्राय इमारत थी, जिसे स्थानीय मुसलिम लोग बुतखाना कहा करते थे। वस्तुत, यह एक बौद्ध चैत्य था, जिसमें प्रतिष्ठापित बुद्धमूर्ति के दर्शन व पूजा के लिए एक प्रदक्षिणापथ भी बना हुआ था। यह प्रदक्षिणापथ पाँच फीट चौडा था, और इसकी दीवारो पर बुद्ध तथा बोधिसत्वो के साथ सम्बन्ध रखने वाली कथाओ को रग-बिरंगे चित्रो द्वारा सुन्दर एव सजीव रूप से चित्रित किया गया था। इस चैत्य की दीवारें लकडी और सरकण्डो के फ्रेम पर गारे का पलस्तर करके बनायी गई हैं, और इस प्रकार चिकनी बनायी गई सतह पर विविध चित्र चित्रित किये गए है। दीवारो के साथ-साथ बहुत-सी मूर्तियाँ भी हैं, जो पत्थर की न होकर लकडी तथा सरकण्डे के फ्रेम पर मिट्टी तथा गारे से बनायी गई है। ये भी अत्यन्त सुन्दर तथा सजीव हैं। इस समय ये सब भग्न दशा मे हैं, और मूर्तियो के सिर तो प्रायः नष्ट ही हो चुके हैं। पर खुदाई द्वारा जिस रूप मे भी ये प्राप्त हुई हैं, उससे सहज में यह

अनुमान किया जा सकता है, कि पहले ये किस रूप में रही होंगी, और जिन चैत्यों तथा सघारामो में ये स्थापित रही होगी, वे कितने सुन्दर और आकर्षक होंगे। दन्दान-उइलिक के भग्नावशेषो के बहुत-से ऐसे शहतीर भी मिले है, जिनका प्रयोग सघारामों, चैत्यो व अन्य भवनो के निर्माण के लिए किया गया था। अनेक शहतीरों पर भी विविध प्रकार की आकृतियाँ खोदकर बनायी गई हैं। इस क्षेत्र मं साधारण निवास-गृहो के भी जो अवशेष मिले है, उनकी दीवारें भी विविध प्रकार के चित्रो व आकृतियों द्वारा अलकृत हैं।

दन्दान-उइलिक में रेत में दबे हुए अनेक प्राचीन ग्रन्थो के पृष्ठ भी मिले हैं, जिनकी भाषा सस्कृत है और जिनके लिखने के लिए गुप्त युग की ब्राह्मी लिपि का प्रयोग किया गया है। इन ग्रन्थो मे प्रज्ञापारमिता और वज्रच्छेदिका उल्लेखनीय हैं, जिनके पृष्ठो का आकार क्रमश १८ इच × ७ इच और १४½ इच × ३ इच है। काष्ठ-पट्टिकाओ (लडकी कीतख्तियो) पर लिखे हुए बहुत-से अभिलेख भी इस स्थान से उपलब्ध हुए है।

नीया—दन्दान-उइलिक के पूर्व मे नीया नदी को पार करने पर एक अन्य नगरी के भग्नावशेष विद्यमान हैं, जो रेत के ढेर के नीचे दबे पडे है। ये अवशेष नीया नामक नगरी के है, जो दन्दाद-उइलिक के समान ही कभी अत्यन्त अमृद्ध दशा में थी। यहाँ भी बहुत से मकानो की दीवारें भग्न दश में पायी गई है, और वे दीवारें भी अनेकविध चित्रो तथा आकृतियो द्वारा अलकृत है। नीया के निवासी जिन अनेकविध आसन्दियो, चौकियो तथा पीठिकाओ आदि को अपने मकानो में प्रयोग मे लाते थे, जो गलीचे फर्श पर विछाते थे, जो वर्तन भोजन पकाने आदि के काम में लाते थे और लिखने के लिए जो सामग्री प्रयुक्त करते थे, उन सबके भी बहुत-से अवशेष इन खण्डहरो से उपलब्ध किये गए है। कतिपय स्तूपो के भग्नावशेष भी यहा विद्यमान हैं। नीया के खण्डहरो से बहुत-सी काष्ठपट्टिकाएँ भी प्राप्त हुई है, जिन पर लिखे हुए लेख खरोष्ठी लिपि मे है और उनकी भाषा प्राकृत है। वहाँ से चमडे पर लिखे हुए लेख भी मिले है। इन लेखो का सम्बन्ध धर्म से न होकर राजकीय कारोबार तथा साधारण लेन-देन के साथ है।

रावक स्तूप—खोतन के क्षेत्र मे ही एक विशाल स्तूप के अवशेष प्राप्त हुए हैं, जो रावक स्तूप के नाम से प्रसिद्ध है। यह स्तूप तथा इसके साथ का सघाराम रेत के ढेर में दबे हुए थे, यद्यपि स्तूप का शीर्षभाग रेत के ऊपर दिखायी दिया करता था। खुदाई द्वारा रेत के हटाये जाने पर स्तूप और सघाराम दोनो प्रकाश में आ गये, और उन्हे पर्याप्त रूप से सुरक्षित दशा मे पाया गया। सघाराम का निर्माण चतुर्भुज रूप से किया गया है, जिसका एक पार्श्व १६३ फीट लम्बा है और दूसरा १४१ फीट। चारो ओर की दीवार ३½ फीट चौडी है, और भग्न दशा में भी उसकी ऊंचाई ११ फीट के लगभग है। दीवार, स्तूप तथा सघाराम के निर्माण के लिये जिन ईंटो का प्रयोग किया गया है, वे २० इच लम्बी, १४ इच चौडी और ४ इंच मोटी हैं। रेत को हटाने पर सघाराम के भवनो की जो दीवारें प्रकाश में आयी, उन पर बहुत-से भित्तिचित्र विद्य-

मान हैं, जिन द्वारा बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों के जीवन के साथ सम्बन्ध रखने वाली कथाओं को अत्यन्त सुन्दर व सजीव रूप से प्रस्तुत किया गया है। दीवारों के साथ बुद्ध और बोधिसत्त्वों की बहुत-सी मूर्तियाँ भी खडी की गई हैं, जो पत्थर की बनी हुई न होकर लकड़ी, सरकण्डे आदि के फ्रेम पर मिट्टी द्वारा बनायी गई हैं, और जिन पर गारे का प्लास्तर किया गया है। बुद्ध की कोई मूर्ति अभय मुद्रा मे है, और कोई ध्यान मुद्रा मे। क्योंकि इनके अन्दर की लकड़ी गल गई है, अतः ये मूर्तियाँ बहुत भगुर व क्षीण दशा मे हैं। फिर भी इनमें अनुपम सौन्दर्य है, और इन पर जो भाव प्रदर्शित किये गए हैं, वे अत्यन्त आकर्षक हैं। सघारामो के द्वारो पर द्वारपालो की भी मूर्तियाँ स्थापित हैं। रावक स्तूप कई मन्जिलो का है। सबसे निचली मन्जिल का आधार भाग चौकोर है, जिसका प्रत्येक पार्श्व ७८ फीट चौडा है। इस मन्जिल की ऊचाई ६½ फीट है। दूसरी मन्जिल भी चौकोर है, और उसका प्रत्येक पार्श्व चौडाई मे ४५½ फीट है। यह मन्जिल ६ फीट ऊंची है। इसके ऊपर ३ फीट ऊंचा गोलाकार कलश है। सबसे ऊपर एक गुम्बद है, जो अत्यन्त भग्न दशा मे होते हुए भी ऊचाई मे ८½ फीट हैं। यह एक अच्छा बडा स्तूप है, जो रेत के ढेर के ऊपर दिखायी देता है। रावक के क्षेत्र से भी काष्ठपट्टिकाओं पर लिखित बहुत-से अभिलेख उपलब्ध हुए हैं।

अर्क-कुदुक टिम—यह खेडा भी खोतन के क्षेत्र मे है, और यहाँ एक स्तूप के खण्डहर विद्यमान है, जो अत्यन्त भग्न दशा में होते हुए भी १६ फीट ऊचा है। इसका आधार भाग पूर्व से पश्चिम की ओर २० फीट और उत्तर से पश्चिम की ओर ८ फीट चौडा है। इसके निर्माण के लिए जिन ईंटो का प्रयोग किया यगा है, उसकी लम्बाई १६ इन्च, चौडाई १३ इन्च और मोटाई ४ इन्च है। अर्क-कुदुक के खेडे से भी बहुत-से प्राचीन सिक्के उपलब्ध हुए हैं, जिनमे २० ऐसे हैं, जिनके एक ओर खरोष्ठी लिपि तथा प्राकृत भाषा के लेख हैं, और दूसरी ओर चीनी भाषा के।

अक-सिपिल—यह खेडा भी खोतन के क्षेत्र मे है। यहाँ एक प्राचीन दुर्ग के भग्नावशेष रेत के ढेर मे दबे हुए हैं। इस दुर्ग की दीवारो तथा दुर्ग के अन्दर बने हुए भवनों को खुदाई द्वारा रेत हटाकर प्रकाश मे लाया गया हे। दुर्ग से १½ मील की दूरी पर पुराने चैत्य तथा संघाराम के भग्नावशेष विद्यमान हैं। इनकी भित्तियो को विभूषित करने के लिए जिन भित्ति-फलकों का प्रयोग किया गया था, उनके बहुत-से टुकडे इस सघाराम के अवशेषों के पास बिखरे पडे हुए मिले हैं, जिन पर बुद्ध तथा बोधिसत्त्व आदि की अनेक आकृतियाँ अंकित हैं।

फरहाद बेग बैलकी—दोमोको के उत्तर में मरुभूमि दूर तक चली गई है। पर रेत के ढेरो के नीचे प्राचीन समय के बहुत-से भग्नावशेष दबे पडे हैं। इनमे फरहाद बेग बैलकी से प्राप्त हुए प्राचीन अवशेष विशेष महत्त्व के हैं। यहाँ के संघाराम, चैत्य तथा स्तूप के खण्डहरों से प्राप्त विविध भित्तिचित्रों तथा चित्रफलकों पर बुद्ध एवं बोधिसत्त्वो के सिरों की आकृतियाँ जिस ढंग से बनायी गई हैं, वे भारतवासियों के सिरों से बहुत मिलती-जुलती हैं। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है, कि इन चित्रों का निर्माण भारतीय कलाकारो द्वारा किया गया था। इस स्थान से उपलब्ध भित्ति-

चित्रो मे एक स्त्री का भी चित्र है, जिसने पाँच बच्चे अपने साथ लिये हुए हैं। चीनी यात्री यित्सिंग ने अपने यात्रा विवरण में लिखा है, कि भारत के बौद्ध सघारामो के प्रवेश-द्वारो पर या उनकी भोजनशालाओ के एक कोने मे हारिती की मूर्ति स्थापित की जाती है। एक बच्चा उसकी गोद मे होता है, और तीन-चार या पाँच बच्चे उसके घुटनो के पास रहते हैं। बौद्ध कथाओ के अनुसार हारिती एक ऐसी देवी है, जो बच्चो का पालन तथा सरक्षण करती है। प्रसिद्ध फ्रेन्च विद्वान् फूशे ने प्रतिपादित किया है, कि फरहाद बेग बैलकी के खण्डहरो मे जो स्त्रीमूर्ति चित्रित है, वह हारिती की है। बच्चो सहित स्त्री का इसी प्रकार का एक चित्र यार-खोतो से भी उपलब्ध हुआ है। यार-खोतो तकला मकान मरुस्थल के उत्तर मे तुर्फान के क्षेत्र मे है।

फरहाद बेग बैलकी के खण्डहरो से सस्कृत भाषा की ब्राह्मी लिपि मे लिखी हुई एक हस्तलिखित पुस्तक के ३३ पृष्ठ भी मिले है। ये पृष्ठ १४ इन्च लम्बे और ४$\frac{1}{2}$ इन्च चौडे हैं। प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थ सद्धर्मपुण्डरीक के ये पृष्ठ है।

कर सई—खोतन के क्षेत्र मे कर सई नामक एक अन्य स्थान है, जहाँ दो बौद्ध सघारामो के खण्डहर विद्यमान है। इन दोनो सघारामो के बीच की दूरी १६० गज है। इनमे बुद्ध की ऐसी खडी मूर्तियाँ मिली है, जो अभय मुद्रा मे है, और जो अत्यन्त सुन्दर एव भव्य है।

तारी इलक—करसई के दक्षिण-पश्चिम मे करकाश नदी को पार करने पर तारी इलक नामक स्थान है, जहाँ रेत के ऊँचे-ऊँचे ढूहो के नीचे प्राचीन बौद्ध स्तूपो तथा सघारामों के भग्नावशेष दबे पडे है। रेत को हटाने पर प्राचीन सघारामो की जो दीवारे प्रकाश मे आयी, उन पर बुद्ध तथा बोधिसत्त्वो के विशाल आकार के चित्र है। इन विशाल चित्रो के बीच मे जो स्थान खाली है, वह ऊचाई मे १२ फीट के लगभग हैं। इस खाली स्थान पर बहुत-से छोटे-छोटे चित्र बनाये गये है। बडे चित्र खडे रूप मे है, और उनके बुद्ध को अभय मुद्रा मे प्रदर्शित किया गया है। दुर्भाग्यवश इनके सिर तथा छाती के ऊपर के भाग खण्डित दशा मे है। पर चित्रो के जो भाग अखण्डित हैं, उनमे वस्त्र अत्यन्त सुन्दर रूप से चित्रित किये गये हैं। यहाँ की दीवारो पर एक विशाल मूर्ति के साथ उसके पूजको की भी छोटी-छोटी प्रतिमाएँ बनायी गई हैं, जिन्हे पूजा करते हुए दिखाया गया है। एक फलक पर सस्कृत का श्लोक भी ब्राह्मी लिपि मे लिखा है, जिसमे मूर्ति-चित्र की प्रशसा की गई है।

तारी इलक मे एक ऐसी विशाल बुद्ध प्रतिमा भी मिली है, जिसे एक गद्दी पर विराजमान रूप से दिखाया गया है। बुद्ध समाधिस्थ होकर गद्दी पर बैठे हैं, और गद्दी के सम्मुख-भाग पर एक चित्र है, जिसके मध्य मे कमलपुष्पो से युक्त एक कुम्भ है। कुम्भ के दायी ओर तीन स्त्रियाँ और बायी ओर तीन पुरुष पूजा की मुद्रा में घुटने टेके हुए खड़े है। नीचे सस्कृत का यह श्लोक लिखा है—

पाण्ड्य-शुभि-सूर्यलतैश्च घातवै
त स्थिर मति नवचित्रितो यम्।

शुभेन तेन सुगतत्वलाभी
सर्वे च सत्त्वा शिवधर्मभाती ॥

इस श्लोक का अर्थ यह है, कि पाण्डय, शुभि (गौरोचन) और सूर्यलता के रसो से चित्रित वह नया चित्र स्थायी रहने वाला है। इस शुभ चित्र से इसके निर्माता को सुगतत्त्व की प्राप्ति हुई है, और सब प्राणी इससे कल्याणकारी धर्म का लाभ प्राप्त करते हैं। व्याकरण की दृष्टि से इस श्लोक मे अनेक अशुद्धियाँ है। पर इससे यह भली-भाँति ज्ञात हो जाता है, कि प्राचीन समय में खोतन के क्षेत्र मे संस्कृत भाषा का किस प्रकार से प्रचार था।

तारीश्लक के खण्डहरो से जो अन्य अनेक चित्र उपलब्ध हुए हैं, उनमे एक ऐसा भी है, जिसका सिर चूहे का बनाया गया है। सम्भवत, इस प्रदेश के निवासियो मे बौद्ध धर्म के प्रवेश से पूर्व मूषक की पूजा भी प्रचलित थी। इसी कारण बाद मे भी ऐसी प्रतिमाएँ बनायी जाती रही, जिन से वहाँ के पुराने देवी-देवताओ को प्रदर्शित किया जाता रहा। ह्यु एन्-त्साग ने इस प्रदेश के लोगो मे मूषक की पूजा का भी उल्लेख किया हैं। यहाँ एक अन्य ऐसा भित्तिचित्र मिला है, जिसमे चार भुजाओ वाली एक स्त्री या देवी चित्रित की गई है। इस देवी को जिस ढग के वस्त्र पहने हुए चित्रित किया गया है, उनसे प्राचीन काल की खोतन महिलाओ के परिधान का अनुमान किया जा सकता है।

दोमोको—खोतन के पूर्व की ओर दोमोको के समीप खादलिक का खेडा है, जहाँ स्तूपों तथा धारामो के अनेक भग्नावशेष विद्यमान है। ये अवशेष अनेक चित्र-फलको आदि से विभूषित हैं। ब्राह्मी लिपि मे लिखी हुई अनेक संस्कृत पुस्तकों के पृष्ठ भी यहाँ से मिले हैं, जिनमे प्रज्ञापारमिता, सद्धर्मपुण्डरीक, बुद्धचरित और गुणपर्यन्त-स्तोत्र विशेष महत्त्व के हैं।

आंदेरे—नीया के पूर्व मे आदेरे नाम की नदी को पार करने पर एक अन्य सुविस्तृत खेडा विद्यमान है, जिसके नीचे एक प्राचीन दुर्ग के भग्नावशेष दबे हुए है। यह दुर्ग एक पुराने नगर को सूचित करता है, जिसे आँदेरे नाम दिया गया है। इस दुर्ग के समीप एक चैत्य तथा संघाराम के अवशेष मिले है, जिनकी दीवारो पर बुद्ध तथा बोधिसत्त्वो के जीवन के साथ सम्बन्ध रखने वाली अनेक कथाएँ सुन्दर रूप से चित्रित की गई हैं। यहाँ के चैत्य की एक दीवार पर गणेश की भी प्रतिमा अंकित है, जिससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि मध्य एशिया के इस प्रदेश के निवासी बुद्ध तथा बोधिसत्त्वो के साथ-साथ गणेश सदृश पौराणिक देवता की भी पूजा किया करते थे। आदेरे के भग्नावशेषो मे ब्राह्मी लिपि मे लिखे हुए संस्कृत भाषा के कतिपय हस्तलिखित ग्रन्थ भी प्राप्त हुए हैं। साथ ही, तिब्बती भाषा मे अनूदित कुछ बौद्ध ग्रन्थ भी यहाँ मिले हैं, जिनमें शालिस्तम्भ-सूत्र विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन अवशेषों मे कतिपय वस्त्रखण्ड भी उपलब्ध हुए हैं, जो वहाँ के निवासियों के आर्थिक जीवन पर अच्छा प्रकाश डालते हैं।

आंदेरे से लौलान की ओर—आदेरे में पूर्व की ओर अग्रसर होने पर चर्चन

का खेडा मिलता है, और उसके आगे पूर्व की ओर जाने पर वर्खलिक का। यहाँ भी पुरानी बस्तियो के भग्नावशेष रेत के ढेरो के नीचे दबे पड़े हैं, जिनमें स्तूपों तथा सघारामो के अवशेष भी मिले हैं। वर्खलिक से लौलान की ओर जाते हुए मार्ग मे मीरन का खेडा पडता है, जिसके नीचे एक दुर्ग के खण्डहर विद्यमान है। यह दुर्ग चतुर्भुज आकार का है, और इसकी प्रत्येक दीवार २४० फीट लम्बी है। दुर्ग के भीतर जो मकान हैं, वे अत्यन्त भग्न दशा मे हैं। मीरन के दुर्ग से कुछ दूर एक बौद्ध चैत्य, स्तूप तथा सघाराम के अवशेष उपलब्ध हुए है, जिनकी दीवारो पर बहुत-सी सुन्दर कला-कृतियाँ विद्यमान है। बुद्ध तथा बोधिसत्वो के विविध जीवन प्रसग इन कला-कृतियो द्वारा अत्यन्त सुन्दर तथा सजीव रूप मे प्रकट किए गए हैं। बुद्ध के विशाल आकार के सिर अच्छी बडी सख्या मे मीरन के खण्डहरो मे विद्यमान हैं, और साथ ही सुन्दर तथा सजीव भित्तिचित्र भी। मध्य एशिया के विविध प्रदेशो से प्राचीन भारतीय सस्कृति तथा धर्म के जो मूर्त अवशेष प्राप्त हुए हैं, रचना, स्वरूप तथा कला आदि की दृष्टि से वे सब प्राय: एकसदृश ही है। नीया, रावक, दन्दान-उइलिक तथा मीरन आदि सर्वत्र एक ही ढग की प्रतिमाएँ, भित्तिचित्र तथा फलक आदि पाये गए है। इस कारण इन सब का पृथक्-पृथक् विशेष रूप से वर्णन करना विशेष उपयोगी नही है।

तकलामकान मरुस्थल के पश्चिमी सिरे पर लोपनौर झील के उत्तर मे लौलान नामक स्थान है। चीनी ग्रन्थो मे इसे नफोमो कहा गया है, और कतिपय ऐतिहासिको ने इसे 'नाभक' से मिलाया है। नाभाक का उल्लेख अशोक के शिलालेखो मे गान्धार तथा कम्बोज के परवर्ती प्रदेश के रूप मे किया गया है। लौलान मे जो प्राचीन भग्नावशेष रेत के ढूहो के नीचे दबे पडे हैं, खुदाई द्वारा उनमे भी एक स्तूप, संघाराम तथा अन्य भवनो के अवशेष प्राप्त हुए है। इस स्थान से कागज पर लिखे हुए बहुत-से ऐसे अभिलेख भी मिले है, जिनकी लिपि खरोष्ठी तथा भाषा प्राकृत है।

लौलान के पूर्व मे तुङ्ह्वाग के प्रसिद्ध गुहामन्दिर है, जहाँ से बहुत-से प्राचीन ग्रन्थ तथा चित्र प्राप्त हुए है। इन्हे सिगकियाग के क्षेत्र मे स्थित न कह कर ठेठ चीन मे कहना अधिक उपयुक्त होगा। हम इन पर विशद रूप से एक अन्य अध्याय मे प्रकाश डालेंगे। तुङ्ह्वांग के उत्तर-पश्चिम से भारतीय सस्कृति तथा धर्म के अवशेषो की एक अन्य शृखला प्रारम्भ हो जाती है, जो तकलामकान मरुस्थल के उत्तर मे काशगर तक चली गई है। भारतीय धर्म तथा सस्कृति के जैसे बहुत से केन्द्र तकलामकान के दक्षिण के प्रदेशो मे थे, वैसे ही उसके उत्तर के प्रदेशों में भी थे।

आन्-हू-सी—तुङ्ह्वाग के समीप उत्तर की ओर आन्-हू-सी की स्थिति है, जिसके समीप एक विशाल क्षेत्र मे प्राचीन समय के खण्डहर बिखरे पडे है। इस क्षेत्र की लम्बाई पूर्व से पश्चिम की ओर पाँच मील और उत्तर से दक्षिण की ओर तीन मील है। यहाँ एक ऐसे नगर के भी भग्नावशेष विद्यमान हैं, जिसका निर्माण एक दुर्ग के रूप मे किया गया था। इस दुर्ग की एक भुजा ६७० गज और दूसरी ४६३ गज है। दुर्ग की प्राचीर ३० से ४० फीट तक चौड़ी है। वर्तमान समय मे इस विनष्ट नगर

का स्थानीय नाम सो-यांग-चेंग है। खुदाई द्वारा यहाँ बहुत-सी पुरानी इमारतों के अवशेष प्रकाश मे आए हैं, जिनसे वहाँ निवास करने वाले प्राचीन लोगो के रहन-सहन तथा सभ्यता के विषय मे अनेक महत्त्वपूर्ण बातें जानी जा सकती हैं। सो-याग-चेंग की पूर्वी दीवार से लगभग एक मील की दूरी पर एक स्तूप के खण्डहर विद्यमान हैं, जिसकी ऊँचाई भग्न दशा मे भी ४० फीट से अधिक है। इस स्तूप का आधार-भाग गोलाकार है, जिसका व्यास २७ फीट है। इस बडे स्तूप के समीप छह छोटे-छोटे स्तूप हैं, जिनके आधार-भाग १० से १२ फीट तक है। इन स्तूपो के समीप एक प्राचीन सघाराम के खण्डहर भी दूर-दूर तक बिखरे पडे हैं।

हामी—आन्-ह्-सी के पश्चिम मे हामी नामक स्थान है। चीन से पश्चिमी देशो की ओर जाने वाले उत्तरी मार्ग मे इसका बहुत महत्त्व है। यह भी बौद्ध धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा है, और मार्को पोलो के समय मे भी यहाँ के प्राय. सब निवासी बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। हामी के समीपवर्ती प्रदेश मे इस समय भी बहुत-से ऐसे खण्डहर विद्यमान हैं, जिनसे वहाँ भारतीय धर्म तथा सस्कृति की सत्ता प्रमाणित होती है। बरदश के नाले पर स्थित अर-तम नामक स्थान पर बहुत-से बौद्धस्तूपो, विहारो तथा गुहा-मन्दिरो के भग्नावशेष विद्यमान है। बरदश के नाले के एक ओर पहाडियो की एक शृखला चली गई है, जिसकी उपत्यका तथा चोटी पर बहुत-से गुहामन्दिर पहाडी को काट-काट कर बनाये गए हैं। जिस पहाडी पर ये गुहामन्दिर हैं, वह अधिक ऊँची नही है। ६० फीट की ऊँचाई तक ये गुहामन्दिर बने हैं, जो ४०० फीट लम्बाई तक चले गये है। गुहामन्दिरो तक पहुँचने के लिए पहाडी को काट कर सीढियाँ भी बनायी गई हैं। गुहाओ की भित्तियाँ बुद्ध तथा बोधिसत्त्व आदि के चित्रो से विभूषित हैं, और वहाँ जो मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित थी, उनके चिन्ह तथा अवशेष भी विद्यमान हैं।

हामी से तुर्फान की ओर—हामी के पश्चिम मे तुर्फान (कौशाग) का प्रदेश है, जिसके मार्ग मे अनेक स्थानो पर बौद्ध चैत्यो तथा गुहामन्दिरों आदि के बहुत-से अवशेष दिखायी देते हैं। इलिकुल नामक स्थान पर उसी ढँग के गुहामन्दिर हैं, जैसे कि अर-तम मे है। इलिकुल के समीप ही तोघुचा है, जहाँ ३० फीट ऊँचे एक स्तूप के अवशेष विद्यमान हैं। इस स्तूप का आधार-भाग चोकोर है, जिसका प्रत्येक पार्श्व ३० फीट चौडा है।

हामी से तुर्फान जाते हुए मार्ग में लपचुक नामक गाँव भी आता है, जिसके समीप एक प्राचीन दुर्ग के खण्डहर विद्यमान हैं। इन खण्डहरो के समीप एक बौद्ध चैत्य के भी अवशेष हैं, जिसका केन्द्रीय कक्ष १० फीट लम्बा और ९ फीट चौड़ा है। केन्द्रीय कक्ष के दोनो ओर दो अन्य कक्ष भी हैं। इनकी दीवारो पर बहुत-से चित्र हैं, जो कला की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। अन्य भी अनेक चैत्यो तथा स्तूपो के खण्डहर लपचुक मे विद्यमान हैं। पर ये अब अत्यन्त भग्न तथा जीर्ण दशा मे है।

तुर्फान—तुर्फान के क्षेत्र मे तोयुक, सेन्घिम-अघिज, चिक्कन कोल, बेजेविक, मुरतक, चोंग हस्सार, इदिकुल शहरी, यारखोतो आदि कितने ही स्थानों पर भारतीय संस्कृति तथा धर्म की सत्ता के प्राचीन अवशेष बिखरे पड़े हैं। इन सबका यहाँ उल्लेख

कर सकना सम्भव नहीं है। पर कतिपय भग्नावशेषों का निर्देश करना इस प्रदेश की प्राचीन सभ्यता से परिचय प्राप्त करने के लिए उपयोगी होगा। चोग-हस्सार में २०० फीट लम्बे और १५० फीट चौड़े एक दुर्ग के खण्डहर विद्यमान हैं, जिसकी दीवारो के साथ-साथ बने हुए बहुत-से कक्ष अब तक भी सुरक्षित दशा मे हैं। दुर्ग की दक्षिण-पूर्वी दीवार के साथ बना हुआ एक बौद्ध चैत्य भी है, जिसके केन्द्रीय कक्ष का आकार ८३/४ × ६१/२ फीट है। कक्ष के चारो ओर ३ फीट चौड़ा एक प्रदक्षिणापथ भी बना है। केन्द्रीय कक्ष तथा प्रदक्षिणापथ की भित्तियो पर बहुत-से चित्र भी हैं। चोग-हस्सार के पश्चिम-उत्तर मे दो मील पर किचिक-हस्सार है। वहाँ भी एक प्राचीन दुर्ग के खण्डहर विद्यमान हैं, जिनके साथ ही बौद्ध चैत्यो तथा स्तूपो के अवशेष भी पर्याप्त रूप से सुरक्षित दशा मे हैं। मुख्य स्तूप का आधार-भाग चौकोर है, जिसका प्रत्येक पार्श्व २० फीट चौड़ा है। इस चोकौर आधार-भाग की ऊँचाई केवल पाँच फीट है। इसके ऊपर का स्तूप गोलाकार है, जिसका व्यास १५ फीट है। ऊपर गुम्बद के ढग का भाग है, जिसका व्यास निरन्तर घटता जाता है। सबसे ऊपर एक वृत्ताकार कलश है। स्तूप की ऊँचाई २५ फीट है। इस स्तूप के समीप एक भवन है, जिसकी लम्बाई ४७ फीट और चौड़ाई २३ फीट है। निस्सन्देह ये एक बौद्ध सघाराम के भग्नावशेष है, जिसकी भित्तियो पर नानाविध भित्तिचित्र अब तक भी विद्यमान है।

तुर्फान के क्षेत्र मे तोयुक नाम का एक गाँव है, जिसके समीप एक नाले के साथ-साथ पहाड़ी पर एक मील के लगभग तक चले गये बहुत-से गुहामन्दिर विद्यमान हैं, जो वर्तमान समय मे अत्यन्त जीर्ण दशा मे है। ये मलबे से भरे हुए थे। पर मलबे को साफ करने पर इनकी दीवारो पर बने हुए भित्तिचित्र प्रकाश मे आए, और इनके मूलरूप का भी आभास मिला। तोयुक मे एक मजार भी है, जो वस्तुत. उस युग का है, जब कि इस क्षेत्र मे बौद्ध धर्म का प्रचार था। वर्तमान समय मे यहाँ के मुसलिम निवासी इसकी पूजा करते हैं, और इसे किसी पुराने मुसलिम पीर की कबर समझते हैं। वस्तुत यहाँ किसी बौद्ध भिक्षु ने अर्हत पद प्राप्त किया था, और यह उसकी ही समाधि थी। मध्य एशिया मे अन्यत्र भी अनेक ऐसी 'मजारे' हैं, जिनके साथ अब किसी मुसलिम पीर या फकीर का सम्बन्ध जोड़ दिया गया है, पर वस्तुत जो बौद्ध अर्हतो की समाधियाँ हैं।

चीन मे तांग वश के शासनकाल (६१८-९०७ ईस्वी) मे तुर्फान की राजधानी उस स्थान पर थी, जहाँ अब करखोजा है। इसी को चीनी ग्रन्थो मे काओ-चाग कहा गया है। यहाँ से भी बौद्ध चैत्यो आदि के बहुत-से अवशेष मिले हैं। करखोजा के समीप भी पहाड़ियाँ हैं, जिन्हे काट-काट कर बहुत-से गुहामन्दिरो का निर्माण किया गया है। इन गुहामन्दिरो की न केवल दीवारें ही भित्तिचित्रो द्वारा विभूषित है, अपितु छत (सीलिंग) पर भी चित्र बनाये गए हैं। करखोजा के भग्नावशेषों से बुद्ध की एक कांस्य मूर्ति भी मिली है, जो खड़ी हुई मुद्रा में निर्मित है। मूर्ति के दोनो कन्धो तथा बाहों पर उत्तरीय वस्त्र को अत्यन्त सुन्दर एवं कलात्मक रूप में प्रदर्शित किया गया है। इस स्थान से चीनी भाषा के अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ भी मिले हैं, जो बौद्ध ग्रन्थों के

अनुवाद है।

करखोजा के समीप ही यारखोतो के सुविस्तृत भग्नावशेष विद्यमान हैं, जो एक प्राचीन नगरी के खण्डहरों को सूचित करते हैं। सम्भवतः, यह स्थान भी प्राचीन समय मे तुर्फान की राजधानी के अन्तर्गत था। नगरी के इन खण्डहरों के समीप एक बौद्ध स्तूप तथा सघाराम के भी अवशेष हैं, जो बहुत सुरक्षित दशा मे हैं। स्तूप मे तीन मंजिलें स्पष्ट दिखायी देती हैं। प्रत्येक मंजिल मे बाहर की ओर आलो के ढंग के कक्ष बने हुए हैं, जिन्हें शायद निवास के लिए प्रयुक्त किया जाता था। यारखोतो के खण्डहरो मे एक आभूषण के खण्ड भी प्राप्त हुए है, जिनका निर्माण करने मे कमल दल पर आसीन बुद्ध की प्रतिमा का प्रयोग किया गया है।

तुर्फान से काराशहर—तुर्फान के पश्चिम-दक्षिण मे काराशहर की स्थिति है। प्राचीन समय मे इस प्रदेश को अग्निदेश कहते थे। वर्तमान काराशहर से १६ मील दक्षिण-पश्चिम मे शॉरचुक का पडाव है, जिसके समीप कई मीलों के घेरे मे पुराने खण्डहर बिखरे पडे हैं, जो मैदान की समतल भूमि से ऊपर की ओर उठते हुए समीपवर्ती पहाडी की उपत्यका तक चले गये हैं। स्थानीय लोग इन खण्डहरो को मिंग-ओई कहते हैं। मिंग-ओई का अर्थ है, हजार भवन। यहाँ जिन चैत्यो तथा गुहामन्दिरो के भग्नावशेष विद्यमान है, उनकी सख्या सैकडो मे है, अत. इनकी मिंग-ओई सज्ञा सर्वथा उपयुक्त है। पहाडी की उपत्यका के जिस क्षेत्र मे ये गुहामन्दिर निर्मित हैं, उसकी चौडाई २०० से ३०० गज तक और लम्बाई एक मील के लगभग है। गुहामन्दिर छोटे-बडे सब आकारो के है। बडे गुहामन्दिर ऐसे भी है, जिनका प्रत्येक पार्श्व ८० फीट लम्बा है। ६४०० वर्ग फीट की ये गुहाएँ अत्यन्त विशाल है। दूसरी ओर ऐसी छोटी गुहाएँ भी है, जिनका क्षेत्रफल केवल ३६ वर्ग फीट है। गुहामन्दिरो की दीवारो तथा छतो को अनेकविध चित्रो से विभूषित किया गया है। पहाडी को काटकर बनाये गए गुहामन्दिरो के अतिरिक्त ऐसे चैत्यो के भग्नावशेष भी गॉरचुक मे विद्यमान है, जिनके निर्माण के लिए ईटो का प्रयोग किया गया है। ये ईटें १२ इच लम्बी, ६ इंच चौडी और ४ इच मोटी है। ऐसे भी अनेक चैत्य हैं, जिनके चारो ओर प्रदक्षिणापथ विद्यमान हैं। सभी चैत्यो मे अनेकविध कलाकृतियों के अवशेष पाये गए है। कुछ प्रस्तर-फलको पर जातक कथाएँ अंकित मिली हैं, और कुछ चित्रफलक ऐसे भी प्राप्त हुए हैं, जिन पर गान्धार शैली मे बुद्ध के चित्र विद्यमान हैं। यहाँ से बहुत-सी मूर्तियाँ भी उपलब्ध हुई है, जो अत्यन्त भग्न दशा मे हैं। ये सब प्रायः सिर से विहीन है। मूर्तियाँ केवल बुद्ध, बोधिसत्त्वो तथा अर्हतो की ही नही हैं, अपितु लोकपालो की भी हैं, जिन्हे चैत्यो तथा संघारामों के प्रवेश-द्वारो के समीप स्थापित किया गया था।

कुची—काराशहर के पश्चिम मे कुची की स्थिति है, जो प्राचीन समय मे एक अत्यन्त समृद्ध तथा शक्तिशाली राज्य था। इसकी राजधानी का नाम भी कुची ही था। काराशहर और कुची के मध्यवर्ती प्रदेश में भी बौद्ध विहारों तथा स्तूपो आदि के अनेक भग्नावशेष विद्यमान हैं। इनमे खोरा के खण्डहर उल्लेखनीय हैं। यहाँ अनेक संघारामों तथा चैत्यों के अवशेष बिखरे पड़े हैं। एक विशाल स्तूप भी यहाँ विद्यमान

है, जो १७ फीट भूमि से ऊपर दिखायी देता है। स्तूप का शेष भाग रेत मे दब गया है। यह स्तूप गोलाकार है, और इसका व्यास ३८ फीट है। इसका निर्माण करने के लिए जिन ईंटो का प्रयोग किया गया है, वे १५ इच लम्बी, ८ इंच चौडी और ४ इंच मोटी हैं। स्तूप के समीप एक संघाराम भी है, जिनके अनेक कक्ष अब तक भी सुरक्षित दशा मे हैं।

प्राचीन काल मे जहाँ कुची नगरी थी, वही अब कूचा नामक शहर है। उसके समीप के क्षेत्र मे अनेक स्थानों पर बौद्ध विहारो, चैत्यो तथा स्तूपो के बहुत-से खण्डहर विद्यमान हैं, जिनमे दुलदुल-ओकर तथा सुबाशी विशेष महत्त्व के हैं। इनके अतिरिक्त कुम-तूरा, किजिल-कार्घ, किरिश तथा सिमसिन नामक स्थानो पर बहुत-से गुहामन्दिर भी है, जिन्हे पहाडियो को काट-काट कर बनाया गया है। ह्यु एन्-त्साग ने अपने यात्रा-विवरण मे कुची से आठ मील की दूरी पर विद्यमान दो सघारामो का उल्लेख किया है, जिनके बीच मे एक नदी बहती थी। वर्तमान कूचा के समीप सुबाशी की पहाडी पर दो सघारामो के खण्डहर विद्यमान है, जिनके बीच मे कुची नदी बहती है। ये अवशेष उन्ही सघारामो के है, जिनका उल्लेख ह्यु एन्-त्साग ने किया था। इस क्षेत्र से फ्रेंच विद्वान् पेलिओ ने अनेक हस्तलिखित ग्रन्थो के पृष्ठ भी प्राप्त किये थे। कुची के समीपवर्ती विविध स्थानो से प्राप्त बौद्ध धर्म तथा सस्कृति के अवशेष प्राय. उसी ढग के है जैसे कि तुर्फान तथा काराशहर क्षेत्र के हैं। अत: इन पर अधिक विस्तार से लिखना उपयोगी नही होगा।

कुची से काशगर—कुची से ५०० मील के लगभग पश्चिम मे काशगर की स्थिति है। बौद्ध धर्म तथा सस्कृति के जो अवशेष काशगर के क्षेत्र से मिले है, इसी प्रकरण के प्रारम्भ मे उन पर प्रकाश डाला जा चुका है। पर कुची तथा काशगर के बीच के प्रदेश से भी अनेक स्थानो पर ऐसे महत्त्वपूर्ण भग्नावशेष मिले है, जिनका उल्लेख करना आवश्यक है। कुची से ५० मील के लगभग पश्चिम मे किजिल-ओरताग नामक गाँव है। इसके समीप मुर्ज-अर्त नदी बहती है, जिसके बाये तट पर बौद्ध गुहामन्दिरो की एक शृखला दूर तक चली गई है। इसे किजिल मिग-ओई कहते है। यद्यपि मध्य एशिया मे पहाडियो को काट-काट कर बनाये गये गुहामन्दिरो की अनेक शृखलाएँ हैं, पर विस्तार, निर्माण, कला आदि के दृष्टि से किजिल की यह गुहा-शृखला सबसे अधिक महत्त्व की है। तुड्-ह्वाग् के सहस्र-बुद्ध-गुहा-विहार के बाद इस प्रकार के गुहा-विहारो मे किजिल मिग-ओई का ही स्थान है। सर स्टाइन ने इसका अवलोकन कर अपने मनोभावो को इन शब्दो मे प्रकट किया था—"तुड्-ह्वाग् के सहस्र-बुद्ध-गुहा-विहारो को देखकर जो प्रभाव मुझ पर पड़ा था, चीनी तुर्किस्तान के अन्य सब गुहा विहारो की तुलना मे इस (किजिल मिग-ओई) गुहा-विहार शृखला द्वारा वह फिर से मेरे सम्मुख आ गया।"

किजिल ओरताग गाँव के पश्चिम तथा मुज-अर्त नदी के दक्षिण मे स्थित एक पहाडी को काट-काट कर गुहामन्दिरो की एक अन्य शृखला भी बनायी गई है, जिग-दलिक नाम के गाँव के समीप होने के कारण जिसे जिग्दलिक मिग-ओई कहते हैं। बहुत-से

भित्तिचित्रों, चित्रफलकों तथा मूर्तियों के अवशेषों के अतिरिक्त इन गुहाओं से संस्कृत ग्रन्थों के कतिपय पृष्ठ भी प्राप्त हुए हैं, जो ब्राह्मी लिपि मे लिखे हुए हैं।

कुची और काशगर के बीच मे अन्य भी अनेक ऐसे स्थान हैं, जहाँ बौद्ध स्तूपों तथा सघारामो के अवशेष विद्यमान हैं। ग्यारहवी सदी में मध्य एशिया के इन प्रदेशों पर मुसलिम तुर्कों के शासन स्थापित हुए, जिनकी धर्मान्धता तथा असहिष्णुता के कारण बौद्ध धर्म तथा सस्कृति के इन महत्त्वपूर्ण केन्द्रो का ह्रास हो गया। पर तेरहवीं सदी मे जब मार्को पोलो ने चीन जाते हुए मार्ग मे मध्य एशिया की यात्रा की थी, उस समय भी वहाँ अनेक स्थानो पर बौद्ध धर्म फलफूल रहा था। पर बाद में इस क्षेत्र के प्राय सब निवासी इस्लाम के अनुयायी हो गये।

प्राकृतिक प्रकोप ने भी बौद्ध धर्म तथा सस्कृति के इन केन्द्रो के ह्रास मे सहायता की। पुराने युग के सघारामों तथा चैत्यो को रेत के ढेरो के नीचे दबे हुए पाया जाना इस ओर सकेत करता है।

(६) रूसी तुर्किस्तान में भारतीय संस्कृति के अवशेष

सिंगकियाग (चीनी तुर्किस्तान) के प्राचीन ऐतिहासिक अवशेषो की खोज का कार्य उन्नीसवी सदी मे ही प्रारम्भ हो गया था। पर मध्य एशिया का जो भाग वर्तमान समय मे रूस के अन्तर्गत है, और जहाँ अब अनेक सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिके स्थापित हैं, वहाँ ऐतिहासिक शोध का कार्य गत वर्षों मे ही शुरू किया गया है। यह कार्य अभी प्रारम्भिक दशा मे ही है, पर इससे इस बात मे कोई सन्देह नही रह जाता, कि सिंगकियाग के समान रूसी मध्य एशिया मे भी भारतीय धर्म तथा सस्कृति का प्रचार रह चुका है, और इस्लाम के प्रवेश से पूर्व इस क्षेत्र मे भी बहुत-से बौद्ध विहारो, चैत्यों तथा स्तूपो की सत्ता थी।

रूसी तुर्किस्तान मे उपलब्ध हुई पुरातत्त्व-सम्बन्धी सामग्री को ऐतिहासिक दृष्टि से दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है, कुशाण काल की और कुशाण काल के पश्चात् की।

कुशाण युग के अवशेष—आमू (वक्षु) नदी के दाये तट पर तेरमिज से आठ मील उत्तर की ओर अयरतम (Ayrtam) नाम का एक गाँव है, जिसके समीप अक्टूबर, १६३६ मे प्रस्तरफलक का एक खण्ड प्राप्त हुआ था, जिस पर पत्रलता तथा पुष्पमंजरी के अलकरणो के मध्य स्त्री-पुरुषो की आकृतियाँ उत्कीर्ण थी। बाद मे इस प्रस्तरफलक के अन्य सात खण्ड भी मिल गये, जिन्हे मिला लेने पर यह फलक पूरा हो गया। यह फलक लम्बाई मे २३ फीट है और इसकी ऊँचाई २० इच है। यह प्रस्तरफलक जिस स्थान से उपलब्ध हुआ है, वहाँ एक बौद्ध चैत्य विद्यमान था। इस चैत्यके अन्य भी अनेक अवशेष वहाँ पाये गए हैं। प्रस्तरफलक पर जिन स्त्री-पुरुषो की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं, उन्हे चैत्य की पूजा के लिए अर्घ्य ले जाते हुए प्रदर्शित किया गया है।

तेरमिज के समीप ही कर-तेप नामक एक पहाडी है, जिस पर एक प्राचीन बौद्ध गुहा-विहार विद्यमान है। इसे भी कुशाण युग का माना जाता है।

कुशाण युग के पश्चात् के अवशेष—इसी मध्य एशिया से भारतीय धर्म तथा संस्कृति के जो अवशेष अब तक प्राप्त हुए हैं, वे प्रधानतया कुशाण युग के पश्चात् काल के हैं। किरगिज रिपब्लिक की राजधानी फ्रुन्ज से ११ मील पश्चिम मे अक-बेशीम नामक स्थान हैं, जहाँ प्राचीन समय के बहुत-से खण्डहर विद्यमान हैं। पुराने समय मे यहाँ एक ऐसे नगर की सत्ता थी, जिसका निर्माण एक दुर्ग के रूप मे किया गया था। इस दुर्ग की प्राचीर अब तक भी सुरक्षित रूप मे विद्यमान है। प्राचीर से १०० गज की दूरी पर एक बौद्ध सघाराम तथा चैत्य के भग्नावशेष मिले है, जो २५० फीट लम्बे और ७२ फीट चौड़े क्षेत्र मे निर्मित था। इस सघाराम की दीवारें इस समय भी अच्छी दशा मे है, और जीर्ण तथा अपूर्ण होने पर भी दस फीट की ऊँचाई तक खडी हुई हैं। संघाराम का मुख्य भवन (हॉल) ६० फीट लम्बा तथा ३३ फीट चौडा है। संघाराम के साथ जो चैत्य है, उसकी लम्बाई और चौडाई क्रमश २१ तथा ११ फीट है। चैत्य तथा संघाराम की जो भी दीवारे इस समय विद्यमान हैं, उन सब पर बौद्ध धर्म के साथ सम्बन्ध रखने वाली कथाओ को सुन्दर तथा सजीव चित्रो द्वारा अंकित किया गया है। बुद्ध तथा बोधिसत्त्वो की बहुत-सी मूर्तियाँ भी यहाँ पायी गई हैं। अक-बेशीम के इस प्राचीन स्थान की खुदाई का कार्य १९५३-५४ मे सम्पन्न हुआ था। इसी क्षेत्र से एक अन्य बौद्ध संघाराम के खण्डहर भी मिले हैं, जो १२५ फीट लम्बे और इतने ही चौडे स्थान पर निर्मित था। इसकी दीवारें भी विविध भित्तिचित्रो द्वारा अलकृत हैं। यहाँ जो मूर्तियाँ मिली है, उनमे बुद्ध का एक विशाल सिर विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

१९५७-५८ मे रूस के पुरातत्त्ववेत्ताओ ने पूर्वी फरगाना के क्षेत्र मे एक अन्य बौद्ध सघाराम के भग्नावशेषो का पता किया था। यहाँ भी बुद्ध, बोधिसत्त्वो तथा बौद्ध धर्म के अन्य देवी-देवताओ की बहुत-सी मूर्तियाँ मिली है। इस संघाराम की दीवारें भी विविध धार्मिक कथाओ को प्रदर्शित करने वाले चित्रो द्वारा अलकृत है। अक-बेशीम के सघाराम के समान यह भी एक प्राचीन नगर की प्राचीर के बाहर स्थित है। फरगाना के जिस स्थान से इस सघाराम के अवशेष मिले हैं, वह कूवा कहा जाता है।

मध्य एशिया की ताजिक रिपब्लिक मे कुरगन त्यूग नगर से ११ मील पूर्व मे अदभिना-तेप नामक स्थान है, जहाँ रूस के पुरातत्त्व-वेत्ताओ ने १९६० मे दो सघारामो तथा उनके साथ बने हुए चैत्यो का पता लगाया था। दोनो सघाराम ढाई-ढाई हजार वर्ग गज के क्षेत्र मे बने हुए हैं, और उनमे मुख्य भवन के अतिरिक्त भिक्षुओं के निवास के लिए बहुत-से कमरे भी हैं। संघारामो की दीवारें ऐसे चित्रों से अलकृत है, जिनका सम्बन्ध बुद्ध तथा बोधिसत्त्वो की जीवन-कथाओ के साथ है। बहुत-सी मूर्तियाँ भी इन खण्डहरो मे मिली हैं, जिनमें से एक ४० फीट लम्बी बुद्ध-मूर्ति है जिसे निर्वाण दशा मे बनाया गया है। सिगकियाग मे प्राप्त हुई मूर्तियो के समान अदभिना तेप की ये मूर्तियाँ भी मिट्टी की हैं, और इनके निर्माण के लिए भी लकड़ी आदि के ढाचो का प्रयोग किया गया है।

खिरगिज रिपब्लिक की राजधानी फ्रुन्ज के समीप क्रस्नाया रेच्का नामक स्थान पर भी एक बौद्ध सघाराम के अवशेष मिले हैं। यहाँ उपलब्ध हुई मूर्तियो मे निर्वाण

पद को प्राप्त भगवान् बुद्ध की एक वैसी ही मूर्ति भी है, जैसी कि अंदक्विना तेप से मिली है।

समरकन्द से ४० मील पूर्व में पैन्झीकन्त नामक स्थान पर नीले रंग की एक ऐसी मूर्ति उपलब्ध हुई है, जो नृत्य की मुद्रा मे है। यह या तो नटराज शिव की मूर्ति है, और या नटराज से प्रेरणा प्राप्त कर इसका निर्माण किया गया था। पर बौद्ध धर्म से इसका सम्बन्ध प्रतिपादित कर सकना सम्भव नहीं है। मध्य एशिया के जो प्रदेश इस समय रूस के अन्तर्गत हैं, उनमे बौद्ध धर्म के अतिरिक्त पारसी और ईसाई आदि अन्य धर्मों की भी प्राचीन समय में सत्ता रही है। कोई आश्चर्य नही कि पौराणिक हिन्दू धर्म का भी वहाँ प्रवेश हुआ हो, जिसके कारण नटराज शिव की यह मूर्ति वहाँ बन सकी।

रूसी मध्य एशिया मे अन्य भी अनेक ऐसे स्थान हैं, जहाँ गत वर्षों मे भारतीय धर्म तथा सस्कृति के अवशेष प्रकाश मे आये है। पर इस क्षेत्र मे पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोज का कार्य अभी प्रारम्भ ही हुआ है। यह आशा की जा सकती है कि भविष्य मे कितने ही ऐसे अन्य स्थान भी ज्ञात होगे, जहाँ बौद्ध संघारामो, स्तूपो तथा चैत्यो आदि के खण्डहर भूमि के गर्भ मे तिरोहित हुए पड़े हैं।

(७) मध्य एशिया की प्राचीन भाषाएँ और साहित्य

यद्यपि मध्य एशिया के सभी राज्यो मे प्राचीन काल मे सस्कृत तथा प्राकृत भाषाओ का प्रचार था, और उनके सघारामो मे सस्कृत के ग्रन्थो का पठन-पाठन हुआ करता था, पर वहाँ की स्थानीय भाषाएँ भी सस्कृत से प्रभावित थी। मध्य एशिया की इन भाषाओ का क्या स्वरूप था, इस विषय मे अनेक विद्वानो ने गम्भीरतापूर्वक अनुशीलन करने का प्रयत्न किया है। कुची की प्राचीन भाषा को सिल्वा लेवी ने *कुचिअन या तुखारी नाम दिया है*, और इस भाषा के उपलब्ध अभिलेखो के आधार पर इसके स्वरूप को प्रतिपादित किया है। कुची भाषा मे अनूदित बौद्ध ग्रन्थो के कुछ अश भी इस समय उपलब्ध हुए है, जो इस भाषा की शब्दावली, व्याकरण आदि के परिज्ञान के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इनमे एक मैत्रेयसमिति नामक नाटक है, जिसे वैभाषिक सम्प्रदाय के आचार्य आर्यचन्द्र ने तुखारी या कुची भाषा मे अनूदित किया था। इस अनुवाद की पुष्पिका इस प्रकार है—"वैभाषिक्याय् आर्यचन्द्रे स् ररित्वुन्ध् मैत्रेयसमिति नाटकं अनिरुद्धवदाँ ओमा त्रिष् निपांत् आर।" मैत्रेय समिति नाटक मे २७ अंक थे। इस विशाल ग्रन्थ को आर्यचन्द्र ने कुची की भाषा मे अनूदित किया, और फिर आचार्य प्रज्ञारक्षित ने कुची या तुखारी से इसका उइगूर भाषा मे अनुवाद किया। इस ग्रन्थ का उइगूर अनुवाद अधिक पूर्ण रूप मे उपलब्ध है। पर इसके तुखारी अनुवाद के भी कुछ अश प्राप्त हो चुके हैं। मैत्रेयसमिति नाटक के अतिरिक्त उन्मा-दयन्ती जातक, मुगपक्ख जातक, षड्दन्त जातक, पुण्यवन्त जातक, सौन्दरनन्द काव्य, नन्दप्रभु राजन्, नन्द विहार पालन, प्रतीत्यसमुत्पाद, स्मृत्युपस्थान, शक्रप्रश्न, महा-परिनिर्वाण, उदानवर्ग, करुणापुण्डरीक, प्रातिमोक्षसूत्र आदि बौद्ध ग्रन्थों के तुखारी

अनुवादों के खण्डित अंश भी मिले हैं। तुखारी भाषा मे लिखे कतिपय ऐसे ग्रन्थो के अंश भी उपलब्ध हुए हैं, जिनका सम्बन्ध बौद्ध धर्म से नही है। इनमे से एक का सम्बन्ध आयुर्वेद से है, जिसमे संस्कृत के साथ-साथ कुची या तुखारी भाषा भी दी हुई है। कुची की इस भाषा का अनुशीलन कर भाषा-विज्ञान के विद्वान् इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि यह भाषाओ के आर्यपरिवार की ही एक भाषा थी, और इसका सम्बन्ध पश्चिमी यूरोप की आर्य भाषाओ के साथ था। सिल्वा लेवी के शब्दो मे "कौन यह विश्वास कर सकता था, कि जहाँ तक भाषा के आधार पर जाति का अनुमान किया जाता है, चीन और तुर्किस्तान के प्रदेशो की सीमा पर चीनी तुर्किस्तान के गर्भ मे एक आर्य-नगरी की सत्ता थी, जहाँ पितर (पिता) के लिए 'पातर', माता के लिए 'मातर', अश्व के लिये 'याक्वे' (लैटिन-एक्वस्), आठ के लिए 'ओक्ट' और अस्ति (है) के लिए 'स्ते' शब्द प्रयुक्त किये जाते थे।"

भाषा-विज्ञान के विद्वानो ने मध्य एशिया मे तीन प्राचीन भाषाओ की सत्ता प्रतिपादित की है। इनमे से एक भाषा कुचिअन, कुची या तुखारी थी, जो तकला मकान मरुस्थल के उत्तर मे स्थित कुची, काराशहर (अग्निदेश) आदि राज्यो मे प्रचलित थी। दूसरी भाषा तकला मकान मरुस्थल के दक्षिण मे खोतन व उसके समीपवर्ती राज्यो की थी। तीसरी भाषा पश्चिमी तुर्किस्तान के सुग्ध क्षेत्र मे प्रचलित थी। ये तीनो ही मूलत आर्य भाषाएँ थी, और भारतीयो के सम्पर्क मे आने के कारण इनमे सस्कृत के शब्द बडी सख्या मे प्रयुक्त होने लग गए थे। इनको लिखने के लिए जिन लिपियो का प्रयोग किया गया था, वे या तो भारत की ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियाँ थी और या उन्ही पर आधारित थी।

कुची की भाषा मे जिन अनेक ग्रन्थो के अश उपलब्ध हुए है, उनमे से कुछ का उल्लेख अभी ऊपर किया गया है। इनमे इस भाषा के शब्दकोष तथा व्याकरण का परिचय प्राप्त किया जा सकता है। बुद्ध कपिल वस्तु मे थे, इस वाक्य का कुची की भाषा मे इस प्रकार अनुवाद किया जायेगा—'पत्रक्ते कपिलवस्तु ने मसकिञि।' सस्कृत शब्दो का शुद्ध एव अपभ्रंश रूप मे कुची की भाषा मे बहुत प्रयोग किया जाता था। कुची भाषा मे आयुर्वेद के ग्रन्थ के जो अश मिले है, उनमे अश्वगन्धा के लिए अश्वकन्ता, अपामार्ग के लिए अपमार्क, विडग के लिए वीरक, तेजवती के लिए तेचवती और मधु के लिए मत्रू शब्द प्रयुक्त किये गए हैं। इसी प्रकार बौद्ध ग्रन्थो के कुची भाषा के अनुवादों मे द्वीप के लिए द्विप्, कलियुग के लिए कलियुक्, अमात्य के लिए अमाश्, गगा के लिये गक, कोटि के लिए कोरि तथा मार्गफल के लिए मार्कपल शब्द प्रयुक्त हुए है।

खोतन तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशो मे जो भाषा प्रचलित थी, उसे कतिपय विद्वानो ने तुखारी (२) का नाम दिया है, और कतिपय ने शक भाषा। इसका प्राचीन नाम सम्भवत कुइ-सन् था। उइगूर भाषा की कुछ पुस्तको की पुष्पिकाओ मे लिखा है, कि यह पुस्तक तुखारी से उइगूर मे अनूदित हुई, और तुखारी मे कुइ-सन् से तथा कुइ-सन् मे भारतीय भाषा से। इससे सूचित होता है कि ये पुस्तकें पहले सस्कृत से

कुइ-सन् (जो खोतन की भाषा थी) मे, फिर कुइ-सन् से तोखारी (जो कुची की भाषा थी) मे और फिर तोखारी से उइगूर (जो अन्यतम तुर्क भाषा थी) मे अनूदित हुई थी। खोतन की इस शक भाषा (या कुइ-सन् भाषा) मे अनूदित बहुत-से बौद्ध ग्रन्थो के अंश इस समय उपलब्ध हो चुके हैं, जिनमे वज्रच्छेदिका और अपरिमितायु सूत्र विशेष महत्त्व के हैं। ये दोनो तुङ्-ह्वाग् से प्राप्त हुए थे, और इनमे शक भाषा के अनुवाद के साथ-साथ मूल संस्कृत पाठ भी दिये हुए हैं। इनसे खोतन की प्राचीन भाषा को पढने तथा समझने मे बहुत सहायता मिली है। इस भाषा मे अनूदित ग्रन्थो की एक सूची भी उपलब्ध हुई है, जो खण्डित दशा मे है। पर उसमे ६१ से ७०वें तक के ग्रन्थों के नाम विद्यमान हैं। इस सूची मे संस्कृत के समुतिदारिकापृच्छा को सुमतिधाकपृच्छ, सूर्यगर्भभिशतिका को सूर्यगर्भत्तृश्शतिय, सुस्थितमतिपृच्छा को उसुस्थमतपृच्छ और तत्त्व-दर्शनसूत्र को त्तत्विदर्शनासूत्र कहा गया है। शतासाहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता के शक (कुइ-सन्) भाषा के अनुवाद के भी कुछ अंश प्राप्त हुए है, जिनसे इस भाषा के वाक्यो का कुछ परिचय प्राप्त किया जा सकता है। वहाँ सस्कृत के 'सम्बन्धीप्रभाव पुण्य-राशिस्तथागुण' वाक्य का अनुवाद 'हिय्हौवपञ्जिँहविशऊ बुजसा' किया गया है। इस भाषा मे सस्कृत शब्दो का प्रचुरता से प्रयोग करने के कारण कतिपय संस्कृत सदर्भों के अनुवाद मूल सस्कृत से अधिक भिन्न नही हो पाते थे। 'तथागतोष्णीश-सितातपत्रानाम अपराजिता महाप्रत्यगिरा' को इस भाषा मे 'तथागतोष्णीश सिघातयत्र नामापराजित महाप्रत्यगिरा' रूप से अनूदित किया गया है। खोतन की प्राचीन भाषा मे अभिलेख तथा बौद्ध ग्रन्थो के अनुवाद इतनी अधिक सख्या मे उपलब्ध है, कि उन द्वारा इस भाषा के शब्दकोश तथा व्याकरण को भली-भाँति तैयार किया जा सकता है। पर अभी इस सम्बन्ध मे अधिक कार्य नही हुआ है। इस भाषा को लिखने के लिए गुप्त युग की ब्राह्मी लिपि का प्रयोग किया जाता था। पर मध्य एशिया मे इस लिपि ने अपने शुद्ध रूप के अतिरिक्त अन्य भी अनेक रूप प्राप्त कर लिए थे जो ब्राह्मी लिपि पर आधारित थे।

सुग्ध देश की पुरानी भाषा को आर्य परिवार की भाषाओ की ईरानी शाखा का माना जाता है। पर उस पर भी सस्कृत का प्रभाव बहुत अधिक था, और उसमे संस्कृत शब्दो का प्राचुर्य से प्रयोग किया जाता था। तुखारी के समान सुग्ध देश की इस प्राचीन भाषा के भी अनेक अभिलेख तथा बौद्ध ग्रन्थो के अनुवाद गत वर्षों मे प्रकाश मे आए है। तुङ्-ह्वाग् के गुहाविहारो से जो हजारो ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं, उनमे कुछ ग्रन्थ सुग्ध भाषा के भी हैं। इनमे वज्रच्छेदिका तथा सुवर्णप्रभास के सुग्धी अनुवादो के अश विशेष महत्त्व के है। इनके अतिरिक्त वेसन्तर जातक तथा नीलकठ-धारिणी के अनुवादो के भी कुछ भाग वहाँ से प्राप्त हुए हैं। पश्चिमी तुर्किस्तान के प्रदेश इस समय रूस के सोवियत संघराज्य के अन्तर्गत हैं। १९३३ के लगभग समर-कन्द के समीप मुग पर्वत के एक प्राचीन स्थान की खुदाई मे ७० अभिलेख प्राप्त हुए थे, जो चर्मपत्रो पर लिखे हुए हैं। इनका सम्बन्ध सुग्ध देश के एक राजा से है, जिसने अरबो के आक्रमण से अपने देश की रक्षा के लिए घोर संघर्ष किया था। ये अभिलेख

सुग्धी भाषा मे हैं, और इनसे इस प्राचीन भाषा के सम्बन्ध में अच्छा परिचय प्राप्त किया जा सकता है। सुग्ध के लोग अच्छे व्यापारी थे, यह पहले लिखा जा चुका है। व्यापार के सिलसिले मे वे दूर-दूर तक आया-जाया करते थे। इसी प्रयोजन से उन्होंने मध्य एशिया के अन्य प्रदेशो मे भी अपनी कुछ बस्तियाँ बसायी हुई थी। इसलिए सुग्ध देश से बाहर अन्यत्र भी इस भाषा के कुछ अभिलेख मिले हैं। बौद्ध ग्रन्थों के सुग्धी भाषा के अनुवादो के अश या तो तुड्-ह्वांग् से मिले हैं और या लोबनौर के दक्षिण के एक ऐसे स्थान से जहाँ सुग्धी व्यापारियो ने अपनी एक बस्ती बसायी हुई थी।

मध्य एशिया की प्राचीन भाषाओ मे उइगूर भाषा का उल्लेख करना भी आवश्यक है। उइगूर तुर्कों की एक शाखा थी, और नौवी सदी तक उइगूर लोगो ने मध्य एशिया के अच्छे बडे भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। मध्य एशिया के अन्य निवासियो के समान उइगूर तुर्कों ने भी बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया था। इसीलिए बहुत-से बौद्ध ग्रन्थ उनकी भाषा मे भी अनूदित किये गए थे। ये अनुवाद प्राय तुखारी भाषा से किये गए थे। उइगूर मे अनूदित एक ग्रन्थ की पुष्पिका मे लिखा है—"षट्तन्त्रिकाव्यधर वैभाषिक सघदास ने कुड-सन भाषा से तुखारी भाषा मे अनूदित किया, और शीलसेन ने तुखारी भाषा से 'दशकर्मबुद्धावदानमाला' पवित्र ग्रन्थ को तुर्क भाषा मे अनूदित किया।"

मध्य एशिया की ये पुरानी भाषाए अब प्राय लुप्त हो चुकी हैं, यद्यपि कही-कही इस समय भी ये प्रयोग मे आती हैं। पर इन्हे बोलने वाले लोगो की सख्या अब बहुत कम रह गई है।

छठा अध्याय

चीन के साथ भारत का सांस्कृतिक सम्बन्ध

(१) चीन आने-जाने के विभिन्न मार्ग

भारत और चीन का सम्बन्ध बहुत पुराना है। आर्थिक, धार्मिक और सास्कृतिक सभी क्षेत्रो मे चिरकाल से इन दोनो देशो मे सम्बन्ध रहा है। यही कारण है, जो महाभारत और मनुस्मृति जैसे प्राचीन भारतीय ग्रन्थो मे चीन का उल्लेख है, और रेशम के विविध प्रकार के वस्त्रो का विवरण देते हुए कौटलीय अर्थशास्त्र मे चीनपट्ट को श्रेष्ठ रेशम कहा गया है। भारत और चीन के सम्बन्ध का सूत्रपात किस प्रकार हुआ, इस विषय पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है।

चीन और भारत दोनो ही विशाल देश है, और स्थल तथा जल दोनो प्रकार के मार्गों से इन देशो मे सम्बन्ध रहा है। इस प्रकरण मे हम इन्ही मार्गों का निदर्शन करेंगे।

मध्य एशिया का मार्ग—चीन के पश्चिम मे मध्य एशिया की स्थिति है, जिसका एक भाग वर्तमान समय मे चीन के जनवादी गणतन्त्र राज्य के अन्तर्गत है। इसे सिगकियांग या चीनी तुर्किस्तान कहा जाता है। मध्य एशिया का दूसरा भाग रूस की समाजवादी सोवियत रिपब्लिक मे है, जहाँ अब कजाकिस्तान, उजबेकिस्तान आदि के गणराज्य है। मध्य एशिया के इन दोनो भागो मे प्राचीन काल मे अनेक भारतीय उपनिवेशों की सत्ता थी, और उनमे भारतीय धर्मों, सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार था। बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए जो श्रमण और भिक्षु सब से पहले चीन गए थे, उन्होंने वहाँ जाने के लिए मध्य एशिया के मार्गों का ही प्रयोग किया था। प्राचीनकाल मे सिगकियाग चीन के अन्तर्गत नही था। उस समय चीन की पश्चिमी सीमा गोबी मरुस्थल के दक्षिण मे स्थित तुङ्-ह्वाग् के समीप तक थी। चीन से पश्चिम की ओर के देशो मे आने-जाने के लिए तुङ्-ह्वाग् का बहुत महत्त्व था। यहाँ से दो मार्ग पश्चिम की ओर जाते थे। एक मार्ग पश्चिम-दक्षिण दिशा मे तकला मकान मरुस्थल के दक्षिण की ओर से जाता था, जो लोपनौर झील के समीप से होता हुआ तुखार, नीया, खोतन आदि से होकर तारीम (सीता) नदी के साथ-साथ उत्तर की ओर मुड जाता था, और इस प्रकार यारकन्द जा पहुँचता था। यारकन्द के बाद यह बल्ख तथा पार्थिया की ओर चला जाता था। दूसरा मार्ग लोपनौर झील तथा तकला मकान मरुस्थल के उत्तर से होकर कुची, तुर्फान आदि होता हुआ काशगर जा पहुँचता था, और वहाँ से वंक्षु नदी की घाटी के प्रदेशों की ओर चला जाता था। काशगर और यारकन्द प्राचीन काल में व्यापार के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे, और स्थल मार्ग द्वारा इन

दोनो मे परस्पर सम्बन्ध विद्यमान था। भारत से उत्तर-पश्चिम की ओर जाने वाला प्रधान मार्ग पुरुषपुर (पेशावर), नगरहार (जलालाबाद) और बामियान होकर काबुल नदी के साथ-साथ हिन्दूकुश को पार करता था, और फिर कम्बोज (बदख्शां) होता हुआ पामीर की पर्वतमाला को पार कर काशगर तक चला जाता था। इस प्रकार भारत से चीन जाने-आने के मार्ग मध्य एशिया के क्षेत्र से ही होकर गुजरते थे। शुरू-शुरू मे भारत से जो भी बौद्ध प्रचारक चीन गए, उन्होने इन्ही स्थल-मार्गों का उपयोग किया, और बौद्ध धर्म तथा साहित्य के अध्ययन के लिए जो चीनी भिक्षु व विद्वान् भारत आए, उन्होने भी इन्ही मार्गों का प्रयोग किया। चौथी सदी के अन्त मे फाइयान नामक चीनी यात्री ने भारत की यात्रा की थी। ३९९ ईस्वी मे उसने सीङानफू (चीन के शेन्सी प्रान्त का मुख्य नगर) से अपनी यात्रा का प्रारम्भ किया था, और वह कान-सू प्रान्त के मुख्य नगरो से होता हुआ तुङ्-ह्वाग् पहुँच गया था। यहाँ से उसने तकला मकान मरुस्थल के दक्षिण के मार्ग का अनुसरण किया, और लोपनौर के समीप से होता हुआ वह उन प्रदेशो मे पहुँच गया, जो मध्य एशिया के दक्षिणी क्षेत्र मे भारतीय संस्कृति के प्रधान केन्द्र थे। खोतन इनमे मुख्य था। खोतन से वह काशगर पहुँचा, और वहाँ से सरीकोल तथा पामीर की पर्वतमालाओ को पार कर वह गिल्गित की घाटी मे पहुँच गया। फाइयान तकला मकान मरुस्थल के दक्षिणवर्ती सीधे मार्ग से भारत नही आया था। मध्य एशिया के कतिपय ऐसे स्थानो की भी उसने यात्रा की थी, जो इस मार्ग से हटकर स्थित थे, पर उस काल मे जो बौद्ध धर्म के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे।

प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्य् एन्-त्साग ने चीन से भारत आते हुए उस मार्ग का अनुसरण किया था, जो तकला मकान मरुस्थल के उत्तर से होकर जाता है। तुङ्-ह्वाग् के प्रदेश से उसने तुर्फान, काराशहर, कुची और भरुक की यात्रा की थी। ये सब प्रदेश तकला मकान मरुस्थल के उत्तर मे और थियानशान पर्वतमाला के दक्षिण मे स्थित हैं। इन प्रदेशो से होकर ह्य् एन्-त्सांग ने थियानशान पर्वतमाला को पार किया, और वह इसिक-कुल झील के उत्तर मे जा पहुँचा। इसिक-कुल झील से वह सुग्ध देश गया, और वहाँ से कपिशा के मार्ग से होकर भारत आया। अपनी वापसी यात्रा मे ह्य् एन्-त्साग ने मध्य एशिया के दक्षिणी मार्ग का उपयोग किया। कपिशा से वह बदख्शा गया, और पामीर की पर्वतमाला को पार कर काशगर, यारकन्द तथा खोतन होता हुआ लोबनौर जाकर वहाँ से वह सीङानफू चला गया।

मध्य एशिया से चीन जाने-आने के ये मार्ग प्राचीन काल मे बहुत प्रयोग मे आते थे। कितने ही बौद्ध विद्वानो और भिक्षुओ ने इन्ही का अनुसरण कर भारत से चीन की यात्रा की थी।

असम का मार्ग—भारत से चीन जाने-आने के लिए एक अन्य स्थल मार्ग भी विद्यमान था, जो असम तथा उत्तरी बरमा होकर चीन के शेचुआन तथा युन्नान प्रान्तो मे पहुँचता था। व्यापारी लोग इसका अधिक प्रयोग नही करते थे, क्योंकि यह ऐसे प्रदेशो से होकर गुजरता था, जिसमे अनेक जगली जातियो का निवास था। पर इसमें

सन्देह नही, कि प्राचीन काल मे यह मार्ग भी प्रयोग मे आता था। चीन के सम्राट् वू-ती (१४२-८५ ई० पू०) ने १३८ ई० पू० मे चाङ्-कियन नामक दूत को इस प्रयोजन से पश्चिम के प्रदेशो मे भेजा था, ताकि वह युइशि लोगो के साथ सम्पर्क स्थापित करे और हूणों का सामना करने के लिए उनका सहयोग प्राप्त करे। इस यात्रा मे चाङ्-कियन ने बल्ख के बाजार मे चीनी, रेशम और बॉस की बनी वस्तुओं को बिकते हुए देखा। पूछने पर उसे पता लगा, कि ये वस्तुएँ शिन्-तू (सिन्ध या हिन्द) देश से बल्ख मे बिकने के लिए आती हैं। उस समय तक चीन और मध्य एशिया के विविध प्रदेशो मे व्यापार का प्रारम्भ नही हुआ था। चीन की दक्षिणी सीमा के समीपवर्ती प्रदेशो से किरात लोग चीन के व्यापारी माल को भारत ले आया करते थे, और वहाँ से भारत के उत्तर-पश्चिमी मार्गों से उसे बल्ख आदि के बाजारो मे विक्रय के लिए ले जाते थे। ये किरात व्यापारी असम के स्थल मार्ग का ही अपने व्यापार के लिए उपयोग करते थे। ९७ ई० मे शान (उत्तरी बरमा मे) राज्य के राजा योग येऊ तिआओ ने चीन के सम्राट् की अधीनता स्वीकार कर ली थी। अपने अधिपति चीनी सम्राट् की सेवा में शान राज्य के इस राजा ने कुछ गायक और मदारी उपहार के रूप मे भेजे थे, जो असम तथा उत्तरी बरमा के स्थल मार्ग से ही चीन पहुँचाये गए थे। चीन के युन्नान प्रान्त की एक प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार बौद्ध धर्म के जो प्रचारक पहले-पहल धर्म प्रचार के लिए चीन गए थे, उन्होने भी इसी मार्ग का प्रयोग किया था। ये बौद्ध प्रचारक काश्यप मातङ्ग और धर्मरत्न थे। प्रसिद्ध चीनी यात्री यि-त्सिग ने अनेक ऐसे चीनी विद्वानो का चरित्र लिखा है, जिन्होने भारत की यात्रा की थी। उसने एक पुरानी अनुश्रुति का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार गुप्त वंश के राजा श्रीगुप्त ने बोधिवृक्ष के समीप एक चीनी विहार का निर्माण कराया था, ताकि वे बीस चीनी भिक्षु वहाँ सुखपूर्वक निवास कर सकें, जोकि असम तथा उत्तरी बरमा के मार्ग से भारत आए थे।

ह्य एन्-त्सांग भारत की यात्रा करते हुए कामरूप (असम की राजधानी) भी गया था। वहाँ के राजा भास्करवर्मा ने उसे अपने राज्य मे पधारने के लिए निमन्त्रित किया था। कामरूप जाकर ह्य एन्-त्सांग को ज्ञात हुआ, कि असम से शे-चुआन (चीन का दक्षिणी प्रान्त) जाने मे दो मास का समय लगता है। पर चीन जाने का यह मार्ग बहुत कठिन है। इससे अत्यन्त विकट पर्वतो को पार करना होता है, और यह मार्ग जहरीली वनस्पतियो तथा साँपों से परिपूर्ण है। जब भास्करवर्मा को ज्ञात हुआ, कि ह्य एन्-त्सांग महाचीन देश का निवासी है, तो उसने एक गीत का जिक्र किया, जिसका सम्बन्ध चीन के साथ था। इस गीत मे चीन के एक ऐसे राजा की कीर्ति-गाथा वर्णित थी, जिसने कि अपने देश से अराजकता तथा अव्यवस्था का अन्त कर शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित की थी। चीन का यह राजा तॉंग वंश का प्रसिद्ध सम्राट् काओ-त्सू था, जिसने कि अपने विद्रोही सेनापति लिऊ वू-चेऊ को परास्त कर अपने देश में न केवल शान्ति ही स्थापित की थी, अपितु चीन को सुख-समृद्धि के मार्ग पर अग्रसर करने मे भी अनुपम सफलता प्राप्त की थी (६१९ ई० पू०)। इस राजा

की कीर्तिगाथा चीन में सर्वत्र गायी जाती थी। पर उसकी कीर्ति के गीत जो असम मे सातवी सदी के मध्य भाग मे प्रचलित हो गए थे, वे इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि उस काल मे असम के मार्ग से भी भारत और चीन का घनिष्ठ सम्बन्ध विद्यमान था।

पर चाङ्-कियन के प्रयत्न से जब चीन और मध्य एशिया के विविध प्रदेशों का सम्बन्ध भली-भाँति स्थापित हो गया, तो चीन जाने-आने के लिए उन स्थल-मार्गों का प्रयोग अधिक होने लगा, जो कि तकला मकान मरुस्थल के दक्षिण और उत्तर में विद्यमान थे। इससे असम तथा उत्तरी बरमा के स्थल-मार्ग का महत्त्व कम हो गया। पर बाद में भी इस मार्ग का प्रयोग जारी रहा। अनेक चीनी सम्राट् इस मार्ग को निरापद करने का प्रयत्न करते रहे, और बरमा तथा असम के विविध राज्यो के साथ अपने देश का सम्पर्क स्थापित रखने के लिए वे इस मार्ग को प्रयुक्त भी करते रहे। १४०६ ई० मे बरमा के राजा अनिरुद्ध ने अपने उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र मे स्थित मोग-याग के राज्य को जीत कर अपने अधीन कर लिया था। मोग-याग पर चीन का आधिपत्य स्वीकार किया जाता था। अत. चीन के मिग वशी सम्राट् ने बरमा के राजा के पास अपना एक दूतमण्डल यह सदेश देकर भेजा था, कि वह मोग-याग पर से अपने दावे का परित्याग कर दे। यह दूतमण्डल इसी स्थल-मार्ग से बरमा आया था। १६५२ मे जब मुगल सेनापति मीर जुमला ने असम की विजय की, तो उसने यह भी दावा किया था, कि उस द्वारा चीन जाने-आने के इस मार्ग को पुन निरापद कर दिया गया है।

तिब्बत का मार्ग—भारत से चीन आने-जाने का एक अन्य स्थल-मार्ग तिब्बत से होकर था। सातवी सदी मे तिब्बत का राजा स्रोङ्-त्सान स्गम् पो था, जिसने सम्पूर्ण तिब्बत मे अपना सुव्यवस्थित शासन स्थापित करने मे अनुपम सफलता प्राप्त की थी। इस तिब्बती राजा ने चीन और नेपाल की राजकुमारियो के साथ विवाह किए थे। चीन की राजकुमारी से विवाह के कारण इस समय तिब्बत और चीन मे घनिष्ठ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित हो गया था, और चीन के दूतमण्डलो तथा यात्रियो ने तिब्बत आना-जाना प्रारम्भ कर दिया था। भारत और तिब्बत की सीमाएँ आपस मे लगती है, और इन देशो के बीच स्थल-मार्गों की सत्ता भी है। अत अब भारत के व्यापारियो, धर्म-प्रचारको और यात्रियो के लिए तिब्बत होकर भी चीन जा सकना सम्भव हो गया। नालन्दा का प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् प्रभाकरमित्र तिब्बत के मार्ग से ही चीन गया था। उसे चीन के एक दूतमण्डल द्वारा चीन जाने के लिए निमन्त्रित किया गया था, और वहाँ जाकर प्रभाकरमित्र ने अनेक बौद्ध ग्रन्थो का चीनी भाषा मे अनुवाद किया था। नालन्दा का यह विद्वान् ६२७ ई० मे चीन पहुँचा था। इसी समय के लगभग ह्यु एन्-चाओ नामक एक चीनी श्रमण ने तिब्बत के मार्ग से भारत की यात्रा की थी। तिब्बत मे इस चीनी श्रमण ने स्रोङ्-त्सान स्गम् पो की चीनी रानी से भेंट की थी, और तिब्बत के इस राजा द्वारा उसकी भारत-यात्रा की सब व्यवस्था कर दी गई थी। अपनी वापसी यात्रा मे भी ह्यु एन्-चाओ ने तिब्बत के मार्ग का अनुसरण किया था।

सातवीं सदी के मध्य भाग मे चीन के ताग वंशी राजा ताओ-त्सुंग ने अपना

एक दूतमण्डल भारत भेजा था, जिसका नेता वाग-ह्यु एन्-त्से था। उसके भारत पहुँचने से पूर्व ही कन्नौज के सम्राट् हर्षवर्धन की मृत्यु हो चुकी थी (६४६ ईस्वी), और उसके अन्यतम अमात्य अर्जुन अरुणाश्व ने कन्नौज की राजगद्दी पर अधिकार कर लिया था। अर्जुन ने चीन के दूतमण्डल का यथोचित सत्कार करने के बजाय उसकी सब सम्पत्ति को लूट लिया। इस पर वांग-ह्यु एन्-त्से तिब्बत चला गया, और वहाँ के राजा से सहायता प्राप्त कर उसने अपने अपमान का प्रतिशोध किया। वाग-ह्यु एन्-त्से के नेतृत्व में चीन का जो दूतमण्डल भारत आया था, उसने तिब्बत के स्थल मार्ग का ही प्रयोग किया था। इससे पहले ६४१ ई० मे हर्षवर्धन द्वारा भी एक भारतीय दूतमण्डल चीन भेजा गया था, जिसने भी तिब्बत के मार्ग से ही यात्रा की थी। इससे सूचित होता है, कि सातवी सदी मे इस स्थल-मार्ग का भली-भाँति प्रयोग हुआ करता था। पर तिब्बत के प्रतापी राजा स्रोङ्-त्सान स्गम् पो की ६५० ई० मे जब मृत्यु हो गई, तो तिब्बत और चीन मे मैत्री सम्बन्ध कायम नही रह सका। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत से चीन आने-जाने का यह स्थल-मार्ग निरापद नही रह गया।

तेरहवी सदी मे चीन के शक्तिशाली मगोल सम्राट् कुबले खाँ ने अपनी शक्ति का विस्तार करते हुए जब तिब्बत से भी अपनी अधीनता स्वीकार करा ली, तो तिब्बत होकर जाने वाले इस स्थल-मार्ग का पुन प्रयोग प्रारम्भ हुआ, और कितने ही बौद्ध विद्वान् इस मार्ग द्वारा भी भारत से चीन गये।

समुद्र मार्ग—भारत के व्यापारी अत्यन्त प्राचीन काल मे भी समुद्र मार्ग से दूर-दूर तक व्यापार के लिए जाया करते थे। बौद्ध ग्रन्थो मे सुवर्णद्वीप जाकर व्यापार करने वाले व्यापारियो का उल्लेख है, जो समुद्र के मार्ग से पूर्व दिशा मे स्थित इस प्रदेश मे जाया करते थे। राजा अशोक के समय मे विदेशो मे बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए जो महान् आयोजन हुआ था, उसमे स्थविर उत्तर और सोण के नेतृत्व मे एक प्रचारकमण्डल सुवर्णद्वीप भी गया था। भारत के लोग अपने देश के पूर्व में विद्यमान बरमा तथा उसके परे के पूर्वी प्रदेशो को सुवर्णद्वीप कहा करते थे। ईस्वी सन् के प्रारम्भ-काल के लगभग भारतीयो ने इन पूर्वी प्रदेशो मे अपने उपनिवेश बसाने भी प्रारम्भ कर दिये थे। पहली सदी तक दक्षिणी बरमा और जावा आदि मे अनेक भारतीय बस्तियाँ स्थापित हो चुकी थी, और कम्बोडिया व विएतनाम में भी भारतीयो के प्रवेश का सूत्रपात हो गया था। चीन की एक प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार कौण्डिन्य नाम के एक ब्राह्मण ने पहली सदी ईस्वी मे कम्बोडिया के क्षेत्र मे एक भारतीय उपनिवेश की स्थापना की थी, जिसे चीनी लोगो ने फूनान नाम से लिखा है। कौण्डिन्य ने इस प्रदेश के मूल निवासियों की रानी सोमा के साथ विवाह कर एक नये राजवंश का प्रारम्भ किया था। फूनान के बाद चम्पा आदि अन्य भी अनेक भारतीय उपनिवेश उन प्रदेशों मे स्थापित हुए, जहाँ वर्तमान समय में विएतनाम और कम्बोडिया के राज्य हैं। इन उपनिवेशो की स्थापना के कारण भारतीयों का समुद्र मार्ग द्वारा दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध प्रदेशो मे आना-जाना प्रारम्भ हो गया था। फूनान और चम्पा द्वारा भारतीयों का सम्बन्ध चीन के साथ भी स्थापित हुआ और वे स्थल तथा जल—दोनों मार्गों से चीन जाने-आने लगे।

दक्षिण-पूर्वी एशिया के भारतीय उपनिवेशो से समुद्र द्वारा चीन जाने वाला मार्ग तोन्किन होकर जाता था, जिसे चीन ने दूसरी सदी ई० पू० मे जीत कर अपने अधीन कर लिया था। समुद्र के मार्ग से चीन जाने के लिए उस समय तोन्किन ही प्रमुख बन्दरगाह था। रोम के सम्राट् मार्कस ऑरीलिअस ने १६६ ईस्वी मे अपना एक दूतमण्डल चीन भेजा था, जो जहाज पर तोन्किन तक गया था। जो बौद्ध श्रमण और भिक्षु अपने धर्म के प्रचार के लिए दक्षिण-पूर्वी एशिया के चम्पा, फूनान आदि भारतीय उपनिवेशो से चीन गये, उन्होने प्राय समुद्रमार्ग का ही प्रयोग किया। जहाजो द्वारा तोन्किन पहुँचकर वे वहाँ से चीन मे प्रविष्ट हुए। पर चीन के समुद्र-तट पर अन्य भी अनेक बन्दरगाहो की सत्ता थी, जिनमे कैन्टन मुख्य था। धीरे-धीरे तोन्किन के मुकाबले मे कैन्टन का महत्त्व अधिक बढ गया, और भारत तथा उसके पूर्वी उपनिवेशो के व्यापारी तथा धर्म-प्रचारक तोन्किन के बजाय कैन्टन जाने लगे। कैन्टन के महत्त्व मे यह वृद्धि सर्वथा स्वाभाविक थी। तोन्किन की स्थिति अनाम के प्रदेश मे है, जो चीन का अग न होकर उसका अधीनस्थ प्रदेश था। कैन्टन ठेठ चीन मे है, और प्राकृतिक रूप से एक अत्यन्त उत्तम बन्दरगाह है। ९६८ ईस्वी मे अनाम चीन की अधीनता से मुक्त हो गया, जिसके कारण समुद्र द्वारा चीन जाने-आने के लिए तोन्किन का कोई महत्त्व नही रहा। इसीलिए दसवी सदी के पश्चात् कैन्टन ही चीन का मुख्य बन्दरगाह बन गया।

समुद्र द्वारा भारत से दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध प्रदेशो तथा द्वीपो को जाने-आने की परम्परा ईस्वी सन् के प्रारम्भ से पूर्व ही भलीभाँति विकसित हो गई थी। कम्बोडिया, विएतनाम और जावा आदि मे भारतीय उपनिवेशो के स्थापित हो जाने पर भारत के व्यापारी और धर्मप्रचारक चीन भी जाने लगे थे। पाँचवी सदी के पूर्वार्ध मे इस समुद्रमार्ग का कितना अधिक प्रयोग होने लग गया था, इसका परिचय फाइयान के यात्रा विवरण द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। फाइयान मध्य एशिया के स्थल-मार्ग से भारत आया था, और समुद्र द्वारा अपने देश चीन को वापस लौटा था। पाटलिपुत्र से उसने एक नौका द्वारा गगा नदी की यात्रा की थी, और पूर्व की ओर गगा के दक्षिणी तट पर स्थित चम्पा नगरी मे जा पहुँचा था। उन दिनो चम्पा नगरी व्यापार का महत्त्वपूर्ण केन्द्र थी। गगा द्वारा पूर्व दिशा मे यात्रा करते हुए फाइयान ताम्रलिप्ति गया था, जो बगाल की खाडी मे एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था। ताम्रलिप्ति उस स्थान के समीप स्थित था, जहाँ गगा समुद्र मे जा मिलती है। फाइयान ने ताम्रलिप्ति से एक बडे व्यापारी जहाज पर यात्रा प्रारम्भ की, और दो सप्ताह पश्चात् वह सिंहल द्वीप पहुँच गया। सिंहल से यवद्वीप (जावा) पहुँचने मे उसे ९० दिन लगे। उन दिनो जावा मे भारतीय लोग अच्छी बडी सख्या मे निवास करते थे, और वे प्रधानतया शैव धर्म के अनुयायी थे। फाइयान जिस जहाज से जावा गया था, उसमे २०० भारतीय व्यापारी भी यात्रा कर रहे थे। पर समुद्र मे तूफान आ जाने के कारण जहाज भटक गया, और ७० दिनो मे भी कैन्टन नही पहुँच सका। बडी कठिनाई से वह जहाज चीन पहुँचा, और फाइयान अपने देश को वापस जाने मे समर्थ हुआ (४१४ ईस्वी)। फाइयान के यात्रा-विवरण से भारत और चीन के समुद्री मार्ग का अच्छा परिचय प्राप्त होता है।



बामियान (अफगानिस्तान) की १७५ फीट ऊंची विशाल बुद्धमूर्ति
(भारतीय पुरातत्व विभाग के सौजन्य से साभार)



(फोंडुकस्तान) अफगानिस्तान) से प्राप्त बोधिसत्व की मूर्ति



मध्य एशिया में प्राप्त एक बुद्धमूर्ति



मध्य एशिया में प्राप्त एक बोधिसत्वमूर्ति

(राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली के सौजन्य से साभार)



तुङ्-ह्वांग से प्राप्त एक चित्रपट



मध्य एशिया से प्राप्त एक काष्ठमूर्ति

[illegible] (राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली के सौजन्य से साभार)



दन्दान उइलिक (मध्य एशिया) का एक सुन्दर भित्तिचित्र



किज़िल (मध्य एशिया) के गुहामन्दिर का भित्तिचित्र



किजिल (मध्य एशिया) के एक गुहामन्दिर का भित्तिचित्र



बेजविलक (मध्य एशिया) के एक गुहामन्दिर का भित्तिचित्र

फाइयान के कुछ समय बाद गुणवर्मा नामक राजकुमार ने भी समुद्र के मार्ग से चीन की यात्रा की थी। वह काश्मीर के राजा सघानन्द का पुत्र तथा हरिभद्र का पौत्र था। बचपन से ही वह बौद्ध धर्म के प्रति अनुरक्त हो गया था। उसने राज-सिंहासन की परवाह न कर भिक्षु व्रत ग्रहण कर लिया था, और बौद्ध धर्म के प्रचार मे ही अपने जीवन को लगा देने का सकल्प कर लिया था। पहले वह सिंहल द्वीप (श्रीलंका) गया, और कुछ समय वहाँ रह कर उसने जावा के लिए प्रस्थान कर दिया। जावा में गुणवर्मा ने बौद्ध धर्म के प्रचार मे अनुपम सफलता प्राप्त की और वहाँ के राजा को भी बौद्ध धर्म मे दीक्षित किया। जावा से वह चीन गया। जिस जहाज से गुणवर्मा ने चीन की यात्रा की थी, वह नन्दी नाम के भारतीय व्यापारी का था। ४३३ ईस्वी मे कैन्टन पहुँच कर वह वहाँ से स्थल मार्ग द्वारा नानकिंग गया था। गुणवर्मा के पश्चात् अन्य भी बहुत से बौद्ध प्रचारक समुद्र के मार्ग से चीन गये जिनमें परमार्थ का नाम उल्लेखनीय है। वह उज्जैन का निवासी था, और जावा होकर चीन गया था।

(२) चीन में बौद्ध धर्म के प्रचार का प्रारम्भ

चीन और भारत के सांस्कृतिक सम्बन्ध का आधार बौद्ध धर्म है। भारत और उसके विविध उपनिवेशो से बहुत-से बौद्ध श्रमण और भिक्षु समय-समय पर चीन जाते रहे, और उन्होने वहाँ के निवासियो को तथागत बुद्ध के धर्म मे दीक्षित करने मे सफलता प्राप्त की। चीन की प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार २१७ ईस्वी पूर्व मे कतिपय बौद्ध प्रचारक चिन वशी सम्राट् शेहुआग के दरबार मे गए थे। इस अनुश्रुति को विश्वसनीय नही माना जाता, क्योकि इतने अधिक प्राचीन काल मे भारतीय भिक्षुओ का सुदूरवर्ती चीन मे जाना ऐतिहासिको को सम्भव प्रतीत नही हुआ। पर भारत और चीन में व्यापार-सम्बन्ध इस काल मे विद्यमान था, यह कौटलीय अर्थशास्त्र मे उल्लिखित 'चीन पट्ट' द्वारा प्रमाणित है। यदि तीसरी सदी ईस्वी पूर्व मे भारतीयो को चीन का परिचय था, और भारत के व्यापारी व्यापार के प्रयोजन से चीन भी जाया-आया करते थे, तो यह असम्भव नही है कि कुछ बौद्ध भिक्षु भी इस काल मे चीन गये हो और वहाँ उन्होने बौद्ध धर्म के प्रचार का सूत्रपात किया हो। राजा अशोक के समय मे विदेशो में बौद्ध धर्म के प्रचार का जो आयोजन आचार्य उपगुप्त के नेतृत्व मे किया गया था, उसमें स्थविर मज्झिम को हिमवन्त देशो मे प्रचार का कार्य सुपुर्द किया गया था। मज्झिम के साथ कस्सपगोत और दुन्दुभिसर आदि अन्य भी अनेक भिक्षु हिमवन्त देशों मे प्रचार के लिए गये थे। इन प्रचारको ने काश्मीर और गान्धार मे बौद्ध धर्म का प्रचार किया ही था। यह असम्भव नही है, कि ये प्रचारक अथवा इनके कोई साथी समयान्तर मे चीन भी पहुँच गये हों, क्योकि इस काल में भारतीयों का चीन जाना-आना प्रारम्भ हो चुका था।

यह पहले लिखा जा चुका है, कि १३८ ईस्वी पूर्व में चीन के सम्राट् वू-ती (१४२-८५ ई० पू०) ने चाङ् कियन नामक दूत को इस प्रयोजन से युइशि लोगों के साथ सम्पर्क स्थापित करने के लिए भेजा था, ताकि हूणों के विरुद्ध उनका सहयोग प्राप्त

किया जा सके। चाङ्-कियन ने न केवल युइशि लोगो से, अपितु मध्य एशिया के बहुत-से राज्यो के साथ भी सम्पर्क स्थापित किया, और उस द्वारा इस क्षेत्र के राज्यों तथा निवासियो का जो परिचय चीन के शासको को प्राप्त हुआ, उससे चीन और पश्चिमी राज्यो के बीच व्यापार की वृद्धि मे बहुत सहायता मिली। तकला मकान मरुस्थल के दक्षिण मे जो अनेक राज्य उस समय विद्यमान थे, उनमे खोतन का राज्य सर्वप्रधान था। इस समय मे खोतन का राजा विजयसम्भव था। चाङ्-कियन ने उससे मैत्री सम्बन्ध स्थापित किया था। ईस्वी सन् की पहली सदी मे कुशाणवंशी राजा अत्यन्त शक्तिशाली हो गये थे, और मध्य एशिया के अनेक प्रदेश भी उनके शासन मे आ गए थे। कुशाण राजा जब पजाब और उसके समीपवर्ती भारतीय प्रदेशो मे अपने साम्राज्य का विस्तार करने मे तत्पर थे, चीन के सम्राट् हो-ती ने अपने सेनापति पान-छाओ को मध्य एशिया मे अपनी शक्ति की स्थापना का कार्य सुपुर्द किया (७३ ई० प०)। खोतन के राजा की सहायता से पान-छाओ ने तकला मकान के दक्षिण मे स्थित सब राज्यो से चीन की अधीनता स्वीकार करा ली, और फिर पश्चिम की पर्वतमालाओ को लाघ कर सुग्ध देश की भी विजय कर ली। यद्यपि मध्य एशिया के इन प्रदेशो पर चीन का प्रभुत्व देर तक कायम नही रह सका, क्योकि कुशाण वश के प्रतापी राजा कनिष्क ने इन्हे अपने साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिया था, पर पान-छाओ की विजयो का यह परिणाम अवश्य हुआ, कि चीन और मध्य एशिया के पारस्परिक सम्बन्धो मे बहुत वृद्धि हो गई। यही समय था, जब कि काश्यप मातग और धर्मरत्न (या धर्मरक्ष) नामक दो भिक्षु चीन गये थे, और वहाँ उन्होने भगवान् तथागत के धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया था। चीन की एक प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार चीन के हान वशी राजा मिग-ती को स्वप्न मे एक सुवर्ण-पुरुष दिखायी दिया। इस पुरुष के विषय मे उसने अपने दरबारियो से प्रश्न किया। उन्होने मिग-ती को बताया, कि जो सुवर्ण-पुरुष उन्हे सपने मे दिखायी दिया था, वह बुद्ध है। इस पर मिग-ती ने अपने दूत इस प्रयोजन से पश्चिम दिशा की ओर भेजे, ताकि वे बौद्ध धर्म के श्रमणो और भिक्षुओ को चीन आने के लिए निमन्त्रित करें। इसी निमन्त्रण को स्वीकार कर काश्यप मातग और धर्मरत्न ने असम तथा उत्तरी बरमा के मार्ग से चीन के लिए प्रस्थान किया था (६८ ईस्वी)। चीन जाते हुए ये भिक्षु बौद्ध धर्म के बहुत-से ग्रन्थो को भी अपने साथ ले गए थे, और इन्हे ले जाने के लिए उन्होने एक श्वेत अश्व का उपयोग किया था। सम्राट् मिग-ती के आदेश से इन भारतीय भिक्षुओ के निवास के लिए एक विहार का निर्माण कराया गया, जिनका नाम 'श्वेताश्व विहार' रखा गया। काश्यप मातंग और धर्मरत्न ने अपना शेष जीवन इस विहार मे ही व्यतीत किया, और वहाँ रहते हुए उन्होने बहुत-से बौद्ध ग्रन्थो का चीनी भाषा मे अनुवाद किया। ये भिक्षु असम-बरमा के मार्ग से चीन गये थे या मध्य एशिया के मार्ग से, इस सम्बन्ध मे मतभेद है। पर इसमे सन्देह नही कि इनके आगमन से उस प्रक्रिया का प्रारम्भ हो गया, जिसके परिणामस्वरूप भविष्य मे चीन के बहुसख्यक निवासी बौद्ध धर्म के अनुयायी हो गए। पर ६८ ईस्वी से पूर्व भी चीनी लोग बौद्ध धर्म से परिचय प्राप्त कर चुके थे। इसी कारण मिग-ती को सपने मे दिखायी दिया सुवर्ण-पुरुष

बुद्ध था, यह बात उसके दरबारी बता सके थे। चीन की एक पुरानी कथा के अनुसार ईस्वी सन् के प्रारम्भ होने से दो वर्ष पूर्व युइशि लोगों के राज्य मे स्थित चीनी राजदूत त्सिंग कियांग को युइशि राजा ने कुछ बौद्ध ग्रन्थ भेंट किए थे, जिन्हें उसने अपने सम्राट् की सेवा मे चीन भेज दिया था।

राजा अशोक के समय मे भारतीय बौद्ध भिक्षुओ के चीन जाने की बात मे चाहे सचाई न हो, पर यह असदिग्ध है कि ईसा की पहली सदी मे चीन मे बौद्ध धर्म का प्रचार प्रारम्भ हो गया था। काश्यप मातग और धर्मरत्न के बाद बौद्ध श्रमण और भिक्षु निरन्तर चीन जाते रहे। ये प्राय: मध्य एशिया से चीन जाते थे और ये केवल भारतीय ही नही होते थे। मध्य एशिया के विविध प्रदेशो मे इस समय तक बौद्ध धर्म का भलीभाँति प्रचार हो चुका था, और सुग्ध, पार्थिया, सीस्तान, तुखार, खोतन, कुची आदि के निवासी बौद्ध धर्म मे दीक्षित हो गए थे। ये सब प्रदेश भारतीयो से परिपूर्ण थे, और इनका स्वरूप भारत के उपनिवेशों के समान था। इन प्रदेशो मे निवास करने वाले युइशि तथा शक आदि लोग भी इस समय तक बौद्ध धर्म को अपना चुके थे। यही कारण है, जो बहुत-से पार्थियन, युइशि आदि जातियो के बौद्ध विद्वान् भी धर्म-प्रचार के लिए चीन गए, और वहाँ उन्होने भारतीय प्रचारको के साथ मिलकर भगवान् बुद्ध के धर्म का प्रचार किया। चीन मे बौद्ध धर्म का प्रचार करने वाले विविध जातियो के इन विद्वानो व भिक्षुओ का सक्षेप से उल्लेख करना उपयोगी होगा।

युइशि (ऋषिक) प्रचारक—वक्षु नदी के समीपवर्ती प्रदेशो मे निवास करने वाले युइशि जाति के लोग बौद्ध धर्म को स्वीकार कर चुके थे, और उनमें से कतिपय ने भिक्षु व्रत भी ग्रहण कर लिया था। जिन युइशि विद्वानो व भिक्षुओ ने चीन जाकर बौद्ध धर्म के प्रचार के सम्बन्ध मे विशेष कार्य किया, उनमे सर्वप्रथम लोकक्षेम नाम का एक भिक्षु था, जो १४७ ईस्वी मे चीन गया था। उसने लो-याग को केन्द्र बनाकर अपना कार्य प्रारम्भ किया और महायान सम्प्रदाय के अनेक ग्रन्थो का चीनी भाषा मे अनुवाद किया। लोकक्षेम द्वारा अनूदित अनेक ग्रन्थ इस समय भी पाये जाते हैं, और उनसे उसके कार्य के महत्त्व का भलीभाँति अनुमान किया जा सकता है। १४७ से १८८ ईस्वी तक ४१ वर्ष के सुदीर्घ काल मे इस भिक्षु ने चीन मे बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए अत्यन्त सराहनीय कार्य किया। लोकक्षेम का एक शिष्य चे-कियन था, जो अपने गुरु के समान युइशि जाति का ही था। उत्तरी चीन की राजनीतिक अव्यवस्था के कारण वह लो-याग से नानकिंग चला गया, और दक्षिणी चीन की इस नगरी को केन्द्र बनाकर उसने अपना कार्य प्रारम्भ किया। २२० से २५३ ईस्वी तक के काल मे उसने सौ से भी अधिक बौद्ध ग्रन्थो का चीनी भाषा मे अनुवाद किया, जिनमे से ४६ अब तक भी उपलब्ध हैं। इसके द्वारा अनूदित ग्रन्थ भी महायान सम्प्रदाय के आगमो के अन्तर्गत हैं। दक्षिणी चीन को अपना क्षेत्र बनाकर कार्य करने वाले बौद्ध भिक्षुओ मे चे-कियन का सर्वप्रथम स्थान है।

चीन में धर्मप्रचार का कार्य करने वाले युइशि जाति के भिक्षुओ में धर्मरक्ष का विशेष महत्त्व है। उसका जन्म तीसरी सदी के मध्य भाग में एक ऐसे युइशि परिवार

मे हुआ था, जो कि तुड्-ह्वाग मे बसा हुआ था। उसने अपनी शिक्षा एक भारतीय भिक्षु के चरणो मे बैठकर प्राप्त की थी। अपने भारतीय गुरु के साथ उसने मध्य एशिया के बौद्ध विहारो की यात्रा की, और वह भारत के समीपवर्ती प्रदेशों मे भी गया। इस प्रकार भ्रमण करते हुए धर्मरक्ष ने ३६ भाषाएँ सीख ली, और बौद्ध धर्म का गम्भीर ज्ञान प्राप्त कर लिया। वह अत्यन्त प्रतिभाशाली व्यक्ति था और केवल तुड्-ह्वाग को अपना कार्यक्षेत्र बनाकर सन्तुष्ट नही रह सकता था। अत २८४ ईस्वी में उसने चीन के लिए प्रस्थान कर दिया, और इस विशाल देश को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। ३१३ ईस्वी तक वह अपने कार्य मे व्यापृत रहा। इस बीच मे उसने २०० से भी अधिक सस्कृत ग्रन्थो का चीनी भाषा मे अनुवाद किया, जिसमे से ९० अब तक भी उपलब्ध है। चीन मे रहते हुए धर्मरक्ष ने अनुवादको के एक सघ को भी सगठित किया, जिसमे भारतीय, युइशि, चीनी आदि विविध जातियो के विद्वान् व भिक्षु एक साथ मिल कर कार्य करते थे। लोकक्षेम, चे-कियन तथा धर्मरक्ष के समान युइशि जाति के अन्य भी बहुत-से भिक्षु चीन मे बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए गए थे। कुशाण-वशी राजा भी युइशि जाति के ही थे, और भारत के सम्पर्क मे आकर वे पूर्णतया भारतीय बन गए थे। कनिष्क सदृश कुशाण राजाओ के अनुकरण मे युइशि लोग भी पूरी तरह से भारत के रग मे रँग गए थे और उत्तर-पश्चिमी भारत के अन्य निवासियो से उनका कोई भेद नही रह गया था।

पार्थियन प्रचारक—हूणो के आक्रमणो के कारण मध्य एशिया के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र मे जो हलचल उत्पन्न हो गई थी, उसका सक्षिप्त रूप से उल्लेख पहले किया जा चुका है। हूणो ने युइशियो को धकेला था, और युइशियो ने शको को। युइशियो से धकेले जाकर शको की एक शाखा ने पार्थिया को आक्रान्त किया। पार्थिया के अनेक राजा शको का सामना करने मे असमर्थ रहे। पर पार्थियन राजा मिथ्रिदातस द्वितीय (१२३-८८ ई० पू०) शको से अपने राज्य की रक्षा कर सकने मे सफल हुआ, और उसके एक उत्तराधिकारी ने अपनी शक्ति का विस्तार करते हुए भारत पर भी आक्रमण किया। इस आक्रमण के कारण भारत के उत्तर-पश्चिमी कोने मे जिस पार्थियन राज्य की स्थापना हुई, उसका मूल पार्थियन राज्य के साथ कोई सम्बन्ध नही रहा, और इस प्रकार उत्तर-पश्चिमी भारत मे एक पृथक् पार्थियन राज्य की स्थापना हुई। इस नए पार्थियन राज्य का प्रथम राजा बोनोनस (बनान) था। यहाँ हमे पार्थिया के इन राजाओ के इतिहास का उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नही है। महत्त्व की बात केवल यह है, कि भारत के सम्पर्क मे आकर पार्थिया के राजाओ, क्षत्रपो तथा साधारण लोगो ने भी बौद्ध धर्म तथा भारतीय सस्कृति को अपना लिया था। अनेक पार्थियन लोग भिक्षुव्रत ग्रहण कर बौद्ध धर्म के अध्ययन तथा प्रचार मे भी व्यापृत हो गए थे, और उनमे से कुछ ने चीन मे अपने धर्म के प्रसार के सम्बन्ध मे महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। यहाँ हमे इन्ही पार्थियन भिक्षुओं का उल्लेख करना है।

दूसरी सदी के मध्य भाग मे एक पार्थियन भिक्षु चीन गया था, चीनी साहित्य मे जिसे न्गान-चे-काओ कहा गया है। इसका सस्कृत नाम लोकोत्तम था। यह एक

राजकुमार था, पर राजसिंहासन पर आरूढ होने के विचार का परित्याग कर इसने भिक्षुव्रत ग्रहण कर लिया था। बौद्ध धर्म के ग्रन्थों का गम्भीरता से अध्ययन कर वह चीन गया, और वहाँ के श्वेताश्व विहार को केन्द्र बनाकर उसने बौद्ध ग्रन्थो के चीनी भाषा मे अनुवाद तथा धर्मप्रचार के कार्य को प्रारम्भ किया। इस विहार के सम्बन्ध मे इसी अध्याय मे ऊपर लिखा जा चुका है। काश्यप मातग और धर्मरत्न के लिए इसे लो-याग मे बनवाया गया था। श्वेताश्व विहार मे लोकोत्तम द्वारा अनुवादको के एक पीठ की स्थापना की गई, और उसने स्वयं सौ से भी अधिक बौद्ध ग्रन्थो का चीनी भाषा मे अनुवाद किया, जिनमे से ५५ इस समय भी उपलब्ध हैं। लोकोत्तम द्वारा स्थापित अनुवाद-पीठ मे जिन बहुत-से विद्वानो ने महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया, उनमे न्गन हिउअन का नाम उल्लेखनीय है। वह भी पार्थियन जाति का था, और व्यापार के लिए लो-याग मे बसा हुआ था। पर श्वेताश्व विहार के बौद्ध विद्वानो के सम्पर्क मे आकर उसने धन-सम्पत्ति का त्याग कर दिया और भिक्षुव्रत ग्रहण कर लिया। न्गन हिउअन ने भी अनेक बौद्ध ग्रन्थो का चीनी भाषा मे अनुवाद किया, जिनमे उग्रपरिपृच्छा और द्वादशनिदान विशेष महत्त्व के थे।

लोकोत्तम द्वारा स्थापित अनुवाद पीठ मे सुग्ध तथा चीन आदि विविध देशो के भी अनेक भिक्षु कार्य करते थे। इनमे येन-फो-तिआओ नामक चीनी भिक्षु का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वह सस्कृत का प्रकाण्ड पण्डित था, और बौद्ध धर्म के ग्रन्थो का मूल सस्कृत से अनुवाद करने की क्षमता रखता था। श्वेताश्व विहार मे उसे आचार्य की उपाधि प्रदान की गई थी, और उसका सस्कृत नाम बुद्धदेव रख दिया गया था। युइशि जाति के भिक्षु लोकक्षेम का उल्लेख इसी प्रकरण मे ऊपर किया जा चुका है। लोकक्षेम का प्रधान कार्य-क्षेत्र भी लो-याग ही था, और लोकोत्तम के अनुवाद-पीठ को उसका भी सहयोग प्राप्त था।

पार्थिया से अन्य भी बहुत-से बौद्ध श्रमण और भिक्षु चीन मे बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए गए थे, पर उन सब का यहाँ उल्लेख कर सकना सम्भव नही है। पर चीन मे बौद्ध धर्म के प्रचार के सम्बन्ध मे जो कार्य पार्थियन लोकोत्तम द्वारा किया गया, वह अत्यन्त महत्त्व का था। उसी द्वारा स्थापित अनुवादपीठ या विद्यापीठ मे शिक्षा प्राप्त कर चीनी भिक्षु येन-फो-तिआओ या बुद्धदेव ने सस्कृत भाषा मे अगाध पाण्डित्य प्राप्त किया था। चीन का यह पहला भिक्षु था, जिसे आचार्य की उपाधि से सम्मानित किया गया था।

सुग्ध देश के प्रचारक—बल्ख के उत्तर मे वक्षु (आमू) और रसा (सीर) नदियो के मध्य के प्रदेश को प्राचीन समय मे सुग्ध देश कहते थे। इसके निवासी आर्य जाति के थे, और उनका सम्बन्ध भारत के आर्यों की अपेक्षा ईरान के आर्यजातीय लोगों से अधिक था। छठी सदी मे यह सुग्ध देश ईरान के साम्राज्य मे सम्मिलित भी हो गया था, यद्यपि ईरान के राजा इसे देर तक अपनी अधीनता में नही रख सके थे। राजा अशोक के समय मे जब विदेशो मे बौद्ध धर्म के प्रचार का सूत्रपात हुआ, तो सुग्ध देश मे भी अनेक बौद्ध प्रचारक गए और उन्होंने वहाँ के निवासियों को अपने

धर्म मे दीक्षित किया। ईस्वी सन् के प्रारम्भ काल तक सुग्ध देश बौद्ध धर्म का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन चुका था, और उसके श्रमणो तथा भिक्षुओ ने मध्य एशिया के विविध प्रदेशो मे पर्यटन भी प्रारम्भ कर दिया था। सुग्ध के ये भिक्षु चीन भी गए थे। त्सान-चे-काग्रो (लोकोत्तम) ने लो-याग मे जिस अनुवाद-पीठ की स्थापना दूसरी सदी ईस्वी के मध्य भाग मे की थी, उसमे सुग्ध के भी अनेक विद्वान् कार्य करते थे।

सुग्ध देश के जिन बौद्ध भिक्षुओ ने चीन मे धर्म प्रचार के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किए, उनमे सर्वाधिक प्रसिद्ध सेंग-हुएइ था। उसका पिता तोन्किन (विएतनाम) मे बसा हुआ था, और वहाँ के व्यापारियो मे उसका उच्च स्थान था। सेंग-हुएइ का जन्म तीसरी सदी के प्रारम्भ मे तोन्किन मे हुआ था। जब उसके पिता की मृत्यु हो गई, तो उसने सांसारिक सुख-वैभव का परित्याग कर भिक्षुव्रत ग्रहण कर लिया, और बौद्ध धर्म के ग्रन्थो का भलीभाँति अध्ययन कर धर्म प्रचार के लिए चीन को अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। तोन्किन से वह नानकिंग गया, जो दक्षिणी चीन का प्रसिद्ध नगर है। वहाँ उसने एक विहार की स्थापना की, और उसे केन्द्र बनाकर दक्षिणी चीन मे अपने कार्य को प्रारम्भ किया। सेंग-हुएइ से पहले चे-कियन नामक युइशि भिक्षु नानकिंग जा चुका था, और वहाँ रहकर उसने अनेक बौद्ध ग्रन्थो का चीनी भाषा मे अनुवाद किया था। पर चे-कियन की स्थिति एक उपासक की थी। उसे यह अधिकार नही था, कि वह दूसरो को बौद्ध धर्म मे दीक्षित कर सके। दक्षिणी चीन के लोगो को बौद्ध बनाने के सम्बन्ध मे सेंग-हुएइ ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया। नानकिंग के राजा को भी उसने बौद्ध-धर्म का अनुयायी बनाया, और इस नगरी मे अनेक चैत्यो की भी स्थापना की। उसी के प्रयत्न का यह परिणाम हुआ, कि दक्षिणी चीन मे बौद्ध-धर्म की जड़ भली-भाँति जम सकी। सुग्ध देश के इस बौद्ध भिक्षु का संस्कृत नाम संघभद्र था, और उसने भी अनेक बौद्ध-ग्रन्थो का संस्कृत से चीनी भाषा मे अनुवाद किया था।

कुची राज्य के प्रचारक—तकला मकान मरुस्थल के उत्तर मे तारीम नदी से सिञ्चित प्रदेशो मे कुची या कुचा राज्य की स्थिति थी। इसके निवासियो मे भारतीयो की संख्या बहुत अधिक थी। तीसरी सदी के अन्त तक यह सारा प्रदेश बौद्ध-धर्म का अनुयायी हो चुका था, और प्राचीन चीनी अनुश्रुति के अनुसार इसमे बौद्ध विहारो तथा चैत्यो की संख्या दस हजार तक पहुँच गई थी। व्यापार की दृष्टि से कुची का बहुत महत्त्व था, क्योंकि चीन से पश्चिम की ओर जाने वाला एक स्थल मार्ग (उत्तरी मार्ग) इसी से होकर काशगर जाता था। तकला मकान के उत्तर मे स्थित राज्यो मे कुची सबसे अधिक शक्तिशाली था। पार्थिया और सुग्ध देशो के बौद्धो के समान कुची के बौद्ध भिक्षुओ ने भी चीन मे बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया। चीन मे बौद्ध-धर्म का प्रचार करने वाले कुची के भिक्षुओ मे कुमारजीव का स्थान सर्वोपरि है। उसके पिता का नाम कुमारायन था। वह भारत के एक राजकुल मे उत्पन्न हुआ था, पर अन्य अनेक राजकुमारो की तरह वह भी युवावस्था मे ही बौद्ध भिक्षु बन गया था। भिक्षु होकर वह कुची पहुँचा। वहाँ के राजा ने उसका बड़े समारोह से स्वागत किया और उसकी विद्या तथा ज्ञान से प्रभावित होकर उसे राज-

गुरु के पद पर नियुक्त कर दिया। पर कुमारायन देर तक भिक्षु नहीं रह सका। कुची के राजा की बहन जीवा उस पर मोहित हो गई, और अन्त मे दोनों का विवाह हो गया। इनके दो संतानें हुईं, कुमारजीव और पुष्यदेव। जब कुमारजीव की आयु केवल सात वर्ष की थी, तो उसकी माता जीवा भिक्षुणी हो गई, और अपने योग्य तथा होनहार पुत्र को लेकर भारत आ गई। भारत आने मे उसका उद्देश्य यह था, कि कुमारजीव को बौद्ध-धर्म की ऊँची से ऊँची शिक्षा दी जाए। अनेक प्रदेशो का भ्रमण करने के बाद जीवा काश्मीर गई। वहाँ उन दिनों बधुदत्त नाम का बौद्ध आचार्य बड़ा प्रसिद्ध था। वह काश्मीर के राजा का भाई था, और अपने पांडित्य के लिए उसका नाम दूर-दूर तक फैला हुआ था। बधुदत्त के चरणों में बैठकर कुमारजीव ने बौद्ध आगम को पढ़ा, और धीरे-धीरे वह एक प्रकाण्ड पण्डित हो गया। काश्मीर मे विद्याग्रहण करने के बाद कुमारजीव शैलदेश (काशगर) आया, और वहाँ उसने चारो वेदों, वेदागों, दर्शन और ज्योतिष आदि का अध्ययन किया। उस समय शैलदेश प्राचीन वैदिक धर्म का बहुत बडा केन्द्र था। इसीलिए कुमारजीव ने वैदिक साहित्य का वहाँ जाकर अध्ययन किया था।

इस प्रकार बौद्ध और वैदिक साहित्य का पूर्ण पण्डित होकर कुमारजीव कुची वापस लौटा। अब उसने अपनी मातृभूमि मे अध्यापन का कार्य शुरू किया। उसकी विद्वता की कीर्ति सुनकर दूर-दूर के विद्यार्थी उसके पास शिक्षा ग्रहण करने के लिए आने लगे, और थोडे ही समय मे कुची विद्या का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया।

पर कुमारजीव देर तक कुची मे नही रह सका। ३८३ ईस्वी के लगभग कुची पर चीन ने आक्रमण किया। चीन की विशाल शक्ति का मुकाबला कर सकना कुची जैसे छोटे-से राज्य के लिए सम्भव नही था। फिर भी वहाँ के राजा ने वीरता के साथ युद्ध किया, पर अन्त मे कुची पर चीन का अधिकार हो गया। जो बहुत-से कैदी कुची से चीन ले जाये गए, उनमे कुमारजीव भी एक था। पर सूर्य देर तक बादलो मे नही छिपा रह सकता। कुमारजीव की विद्या की ख्याति चीन मे सर्वत्र फैल गई, और वहाँ के सम्राट् ने उसे अपने राजदरबार मे आमन्त्रित किया। ४०१ ई० मे कुमारजीव चीन की राजधानी मे पहुँचा। वहाँ उसका बडा सत्कार हुआ। वह सस्कृत और चीनी का अनुपम विद्वान् था। शास्त्रो मे उसकी अप्रतिहत गति थी। अत उसे यह कार्य सुपुर्द किया गया, कि वह संस्कृत के प्रामाणिक बौद्ध ग्रन्थो का चीनी भाषा मे अनुवाद करे। इस कार्य मे उसकी सहायता के लिए अन्य बहुत-से विद्वान् नियत कर दिए गए। दस वर्ष के लगभग समय मे उसने १०६ संस्कृत ग्रथो का चीनी भाषा मे अनुवाद किया। महायान सम्प्रदाय का चीन मे प्रसार कुमारजीव द्वारा ही हुआ। उसके पाण्डित्य की कीर्ति सारे चीन मे फैली हुई थी और उससे शिक्षा ग्रहण करने के लिए दूर-दूर से चीनी विद्यार्थी और भिक्षु उसकी सेवा मे पहुँचा करते थे।

अपने कार्य मे सहायता के लिए कुमारजीव ने बहुत-से विद्वानों को भारत से भी चीन बुलाया। वह भारत मे शिक्षा ग्रहण कर चुका था। काश्मीर के बौद्ध पण्डितो

से उसका घनिष्ठ परिचय था। उसके अनुरोध से जो भारतीय विद्वान् चीन गए, उनमे विमलाक्ष, पुण्यत्रात, बुद्धयश, गौतम सघदेव, धर्मयश, गुणवर्मा, गुणभद्र और बुद्धवर्मा के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। चीन मे जो बौद्ध-धर्म का प्रसार हुआ, उसमे ये सब कुमारजीव के सहयोगी थे। चीन मे इन विद्वानो का बडा ऊँचा स्थान है। ये सब वहाँ धर्म-गुरु और धर्माचार्य के रूप मे माने जाते है।

कुमारजीव द्वारा जिन बहुत-से ग्रन्थो का सस्कृत से चीनी भाषा मे अनुवाद किया गया, उनमे अश्वघोष के सूत्रालकार शास्त्र, नागार्जुन के दशभूमिकाभाषा सूत्र, वसुबन्धु के शतशास्त्र और हरिवर्मा के सत्यसिद्धि शास्त्र विशेष महत्त्व के हैं। ये सब महायान सम्प्रदाय के उच्च कोटि के ग्रन्थ है। कुमारजीव ने जिन ग्रन्थो का चीनी मे अनुवाद किया, उनके लेखको के जीवनचरित्र भी उसने सस्कृत से अनूदित किये, ताकि पाठक उनके दार्शनिक विचारो एव मन्तव्यो के साथ-साथ उनके व्यक्तित्व से भी भली-भाँति परिचय प्राप्त कर सके। कुमारजीव द्वारा अनूदित ग्रन्थो मे ब्रह्मजाल सूत्र का चीन मे चिरकाल तक प्रचार रहा। इस ग्रन्थ मे यह प्रतिपादित है, कि बोधिसत्त्व पद की प्राप्ति के लिए मनुष्य को क्या कुछ करना चाहिए। कुमारजीव न केवल उद्भट विद्वान् तथा गम्भीर दार्शनिक थे, अपितु मानव गुणो का भी उनमे प्राचुर्य था। जब वह मृत्युशय्या पर पडे हुए अपने अन्तिम क्षणो की प्रतीक्षा कर रहे थे, तो एक शिष्य से उन्होने कहा था—"मेरे कार्य को दृष्टि मे रखो। पर मेरे जीवन को आदर्श न मानो। कमल कीचड मे उत्पन्न होता है। कमल को प्यार करना चाहिए, कीचड को नही।" काश्मीर के भिक्षु बुद्धभद्र ने एक बार उनसे प्रश्न किया था, कि सब कोई उनका इतना सम्मान क्यों करते है। उन्होंने इसका उत्तर यह दिया—"क्योकि मेरे बाल सफेद हो गये है।" इसमे सन्देह नही, कि वे अत्यन्त नम्र स्वभाव के थे, और अपनी विद्वत्ता का उन्हे जरा भी अभिमान नही था।

कुची के अन्य भी अनेक श्रमणो तथा भिक्षुओ ने चीन मे बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। विशेषतया, बौद्ध ग्रन्थो को चीनी भाषा मे अनूदित करने के सम्बन्ध मे उनका कार्य बडे महत्त्व का था। चीनी भाषा के त्रिपटिक के अनेक ग्रन्थ कुची की भाषा मे अनूदित है। मध्य एशिया के क्षेत्र मे कुची बौद्ध धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र था, और वहाँ के बौद्ध विद्वानो ने बहुत-से सस्कृत ग्रन्थो का अपनी भाषा मे भी अनुवाद किया था। कुची की प्राचीन भाषा मे अनूदित बौद्ध ग्रन्थों के अनेक अश मध्य एशिया के विविध प्रदेशो से प्राप्त भी हुए है। यह भरोसे के साथ कहा जा सकता है, कि चीन मे बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए इन ग्रन्थो का भी उपयोग किया गया था।

खोतन के प्रचारक—यारकन्द (चोक्कुक) के पूर्व मे खोतन की स्थिति है, जो प्राचीन काल मे तकला मकान मरुस्थल के दक्षिण के राज्यो मे सबसे समृद्ध तथा शक्तिशाली था। खोतन अफगानिस्तान और भारत से अधिक दूर नही है। इसीलिए वहाँ के निवासियो मे भारतीयो की सख्या बहुत अधिक थी। अशोक के समय मे वहाँ भारतीयो के एक उपनिवेश की स्थापना भी हुई थी। कुची के समान खोतन भी बौद्ध धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। चीन मे बौद्ध धर्म के प्रचार मे खोतन के श्रमणो तथा

भिक्षुओं ने भी बहुत कार्य किया। चीन के सम्राट् वू ती ने युइशियों से सम्पर्क स्थापित करने के लिए जब चाङ-किएन को अपना दूत बनाकर भेजा था (१३८ ई० पू०), तब खोतन से भी चीन का सम्पर्क स्थापित हुआ, और वू ती ने उसके साथ भी मैत्री-सम्बन्ध का सूत्रपात किया। ईस्वी सन् की पहली सदी में खोतन के राज्य की शक्ति बहुत बढ़ गई थी, और उसके राजाओं ने तकला मकान मरुस्थल के दक्षिण में विद्यमान तेरह राज्यों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। ७३ ईस्वी में जब चीन के सम्राट् हो-ती ने पश्चिम दिशा में अपनी शक्ति का विस्तार करना प्रारम्भ किया, तो उसके सेनापति पान-छाओ ने खोतन के राजा की सहायता से मध्य एशिया के क्षेत्र के प्राय. सभी राजाओं को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश किया। इस प्रकार चीन और खोतन में सम्बन्ध बहुत अधिक बढ़ गया, और चीन के बौद्ध भिक्षु बौद्ध धर्म के उच्च अध्ययन के लिए खोतन भी जाने लगे, क्योंकि उस समय यह प्रदेश बौद्ध धर्म का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। चोउ-शे-हिंग नामक एक चीनी भिक्षु बौद्ध धर्म के अध्ययन के लिए २५८ ईस्वी में खोतन गया था। चीन के बौद्ध धर्म के इतिहास में इस भिक्षु का स्थान अत्यन्त महत्त्व का है। बौद्ध ग्रन्थों के जो अनुवाद उस समय चीनी भाषा में विद्यमान थे, उनकी इस भिक्षु ने सूची तैयार की थी। इस सूची को तैयार करते हुए चोउ-शे-हिंग ने अनुभव किया, कि अनेक बौद्ध ग्रन्थों का सही-सही अभिप्राय इन अनुवादों से स्पष्ट नहीं होता है। उसे ज्ञात हुआ, कि खोतन में ऐसे बौद्ध विद्वान् विद्यमान हैं, जिनसे इन ग्रन्थों को समझने में सहायता मिल सकती है। वह चिर काल तक खोतन में रहा, और ८० साल की आयु में वहीं उसकी मृत्यु हुई। खोतन में निवास करते हुए चोउ-शे-हिंग ने अनेक बौद्ध ग्रन्थों को एकत्र किया, और अपने शिष्य पुण्य-धन के हाथ उन्हें चीन भेजा। यह पुण्यधन खोतन का ही निवासी था।

२९१ ईस्वी में मोक्षल नामक एक खोतनी भिक्षु चीन गया, और वहाँ उसने पञ्चविंशतिसाहस्रिका पारमिता ग्रन्थ का चीनी भाषा में अनुवाद किया। पाँचवीं सदी के प्रारम्भ (४०१-४३३ ईस्वी) में त्सान-याग नामक चीनी राजकुमार महायान सम्प्रदाय के उच्च अध्ययन के प्रयोजन से खोतन गया। वहाँ के गोमती महाविहार में उन दिनों बुद्धिसेन नाम का एक बौद्ध विद्वान् निवास कर रहा था, जो भारत से वहाँ गया था। महायान का वह प्रकाण्ड पण्डित था, और सम्पूर्ण पश्चिमी जगत् में सिंह के रूप में प्रसिद्ध था। त्सान-याग ने बुद्धसेन के चरणों में बैठकर महायान के मन्तव्यों तथा दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया, और अपने देश को वापस लौटकर अनेक बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। इसी समय के लगभग धर्मक्षेत्र नाम का एक भारतीय भिक्षु काश्मीर से खोतन गया था, क्योंकि उसने यह सुना था कि महायान के सिद्धान्तों के अध्ययन के लिए खोतन से बढ़कर कोई अन्य स्थान नहीं है। खोतन से वह चीन गया, और वहाँ उसने महापरिनिर्वाण सूत्र का चीनी भाषा में अनुवाद किया। चीन में अनुवाद का कार्य करते हुए धर्मक्षेत्र ने अनेक बार खोतन की यात्रा की, क्योंकि वहाँ महायान सम्प्रदाय के ग्रन्थों को पूर्ण तथा प्रामाणिक रूप में सुगमता से प्राप्त किया जा सकता था। ४३६ ईस्वी में आठ चीनी भिक्षु खोतन गये, क्योंकि महायान सम्प्रदाय

की प्रामाणिक पुस्तकों की उन्हें तलाश थी। उस समय खोतन मे बौद्धो की पंचवार्षिका सभा हो रही थी। उसमे एकत्र बौद्ध विद्वानों के मुख से सुनकर उन्होंने अनेक बौद्ध ग्रन्थों को लेखबद्ध किया।

सुग्ध और पार्थिया की तुलना मे खोतन चीन के अधिक समीप था, और पान-छाओ के प्रयत्न मे इन दोनो देशो मे राजनीतिक सम्बन्ध भी बहुत सुदृढ़ हो गया था। इस दशा मे यह स्वाभाविक था, कि चीन के बौद्ध भिक्षु धर्मग्रन्थों के उच्च अध्ययन के लिए खोतन जायें, और खोतन के बौद्ध आचार्य भी चीन जाकर अपने धर्म के प्रचार मे तत्पर रहे।

(३) दक्षिण-पूर्वी एशिया के भारतीय उपनिवेशों द्वारा चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार

दक्षिण-पूर्वी एशिया मे, जहाँ वर्तमान समय मे इन्डोनीसिया, मलायीसिया, कम्बोडिया, लाओस और विएतनाम के राज्य हैं, प्राचीन काल मे अनेक भारतीय उपनिवेशो की सत्ता थी। एक हजार साल से भी अधिक समय तक ये उपनिवेश भारतीय सभ्यता, संस्कृति और धर्म के महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहे। संस्कृत का इनमे प्रचार रहा, और बौद्ध, शैव, वैष्णव आदि भारतीय धर्मों के बहुत-से विहार, चैत्य, मन्दिर आदि वहाँ स्थापित हुए। मध्य एशिया के कुची, खोतन आदि राज्यों के समान दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध भारतीय उपनिवेशो व राज्यों से भी बौद्ध धर्म के श्रमण तथा भिक्षु चीन मे तथागत बुद्ध की शिक्षाओ के प्रचार के लिए गए, और उन्हे अपने उद्देश्य मे अनुपम सफलता प्राप्त हुई। इस क्षेत्र के भारतीय राज्यो पर एक पृथक् अध्याय मे संक्षेप से प्रकाश डाला जायगा। यहाँ हम प्रसङ्गवश ही इन राज्यो का उल्लेख करेंगे।

फूनान—जहाँ आजकल कम्बोडिया का राज्य है, प्राचीन समय मे एक भारतीय राज्य की सत्ता थी, जिसे फूनान कहते थे। इस राज्य की स्थापना कौन्डिन्य नामक ब्राह्मण द्वारा पहली सदी मे की गई थी। उसने वहाँ के मूल निवासियो की रानी सीमा के साथ विवाह कर एक नये राजवंश का प्रारम्भ किया था। कौन्डिन्य के उत्तराधिकारियो मे फान्-चे-सन् (मृत्यु काल २२५ ई०) बहुत प्रसिद्ध है। उसने फूनान के राज्य का बहुत विस्तार किया, और मलाया तक के प्रदेशो को जीत लिया। फान्-चे-सन के बाद फान्-चान फूनान का राजा बना। २४० ईस्वी मे उसने अपने राजदूत भारत भेजे थे, जो पाटलिपुत्र के मुलुन (मुरुण्ड) राजा के दरबार मे गए थे। कनिष्क के समय पाटलिपुत्र पर कुशाणों का अधिकार हो गया था, और वहाँ जो क्षत्रप शासन करते थे, वे मुरुण्ड कहाते थे। फान्-चान ने एक दूतमण्डल चीन भी भेजा था (२४३ ई०), जिसके कारण फूनान का चीन के साथ सम्बन्ध स्थापित हो गया था। फान्-चान के उत्तराधिकारी फान्-सियन के शासन काल मे काग ताई नामक चीनी राजदूत फूनान आया था (२५० ई० पू० के लगभग), और फान्-सियन द्वारा भी अपने दूतमण्डल चीन भेजे गये थे। पाँचवी सदी के मध्य भाग मे फूनान का राजा जयवर्मा था, जो कौण्डिन्य का

वंशज था। जयवर्मा ने नागसेन नाम के एक बौद्ध भिक्षु को चीन के राजा की सेवा में अपना सन्देश देकर भेजा था। फूनान से कुछ व्यापारी समुद्रमार्ग द्वारा चीन जा रहे थे। नागसेन ने उनके साथ चीन के लिए प्रस्थान किया। पर मार्ग में अनाम के समुद्र-तट के समीप कुछ समुद्री डाकुओं ने व्यापारियों को लूट लिया, और नागसेन अकेला स्थल मार्ग से फूनान वापस लौट आने मे समर्थ हुआ। ४८४ ईस्वी मे जयवर्मा द्वारा नागसेन को एक बार फिर चीन भेजा गया। इस बार वह चीन के राजदरबार तक पहुँच सकने मे समर्थ हुआ, और उसने जयवर्मा का सन्देश चीन के सम्राट् की सेवा मे पहुँचा दिया। नागसेन को चीनी भाषा का अच्छा ज्ञान था। उसके प्रयत्न से फूनान और चीन का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ हो गया। कुछ समय पश्चात् फूनान के दो बौद्ध भिक्षुओ ने चीन की यात्रा की, और वहाँ जाकर उन्होंने अनेक बौद्ध ग्रन्थो का चीनी भाषा मे अनुवाद किया। फूनान के इन भिक्षुओं मे एक का नाम मन्द्रसेन था, और वह ५०३ ईस्वी में नानकिंग पहुँचा था। दूसरा भिक्षु सघभद्र था, जो अनेक भाषाओ का ज्ञाता था। युवावस्था मे ही उसने भिक्षव्रत ग्रहण कर लिया था, और बौद्ध धर्म के अध्ययन के लिए उसने बहुत प्रयत्न किया था। बौद्ध त्रिपिटक के अभिधम्म भाग का वह विशेषज्ञ था, और उसकी कीर्ति दूर-दूर तक फैली हुई थी। जब उसे यह ज्ञात हुआ कि चीन मे बौद्ध धर्म को आदर की दृष्टि से देखा जाता है, तो उसने समुद्र मार्ग से चीन के लिए प्रस्थान कर दिया। चीन के सम्राट् ने उसे अपने दरबार मे निमन्त्रित किया (५०६ ई० पू०), और वहाँ रहकर उसने बौद्ध ग्रन्थो का चीनी भाषा मे अनुवाद प्रारम्भ किया। सघभद्र की मृत्यु ५२४ ईस्वी मे हुई थी। ५०६ से ५२४ तक वह चीन मे ही रहा, और यह समय उसने बौद्ध ग्रन्थो को चीनी भाषा मे अनूदित करने मे व्यतीत किया। भिक्षु सघभद्र का जीवनचरित्र चीनी भाषा मे विद्यमान है और उसके अध्ययन से ज्ञात होता है, कि छठी सदी मे फूनान और चीन मे घनिष्ठ सम्बन्ध की सत्ता थी, और चीन की राजधानी मे फूनान के लिए एक पृथक् मण्डप भी विद्यमान था।

कौण्डिन्य द्वारा स्थापित फूनान का राज्य सातवी सदी का प्रारम्भ होने तक कायम रहा। वहाँ का अन्तिम राजा रुद्रवर्मा था, जिसके बाद फूनान मे अव्यवस्था उत्पन्न हो गई, और पडोस के कम्बुज राज्य के राजाओ (जो पहले फूनान की अधीनता स्वीकार करते थे) ने उसे अपने अधीन कर लिया। कम्बुज राज्य वर्तमान कम्बोडिया के उत्तरी भाग मे स्थित था। वह भी भारतीयो का एक उपनिवेश था, और शुरू मे फूनान के राज्य के अन्तर्गत या अधीन था। जिस राजा ने फूनान को परास्त कर कम्बुज के उत्कर्ष का प्रारम्भ किया, उसका नाम भववर्मा था। भववर्मा और उसके उत्तराधिकारी बौद्ध न होकर सनातन हिन्दू धर्म के अनुयायी थे। उनके राज्य मे शिव, विष्णु, दुर्गा आदि पौराणिक देवी-देवताओं की पूजा हुआ करती थी। वेद, पुराण, रामायण, महाभारत आदि का वहाँ उसी प्रकार से अध्ययन होता था, जैसे कि भारत मे। वहाँ के राजाओ ने कम्बुज मे अनेक आश्रमो का भी निर्माण कराया था। जैसे बौद्ध धर्म के मठ विहार कहाते थे, वैसे ही पौराणिक धर्म के मठो को आश्रम कहा जाता था। इनमे संन्यासी लोग निवास करते थे, जो बौद्ध भिक्षुओ के समान विद्याध्ययन, धर्म-

प्रचार तथा शिक्षण के कार्य मे व्यापृत रहते थे। पर इन सन्यासिग्रो ने चीन जाकर अपने धर्म के प्रचार का कोई उद्योग किया था या नही, इस सम्बन्ध मे कोई सूचना प्राचीन चीनी साहित्य मे उपलब्ध नही है।

चम्पा—विएत-नाम के समुद्रतट के प्रदेश मे चम्पा नाम के एक अन्य भारतीय उपनिवेश की सत्ता थी, जिसकी स्थापना ईस्वी सन् की दूसरी सदी मे हुई थी। इसकी स्थिति कम्बुज के पूर्व मे और विएत-नाम के दक्षिणी भाग मे थी। उन दिनो तोन्किन (उत्तरी विएत-नाम मे) का प्रदेश चीनी साम्राज्य के अधीन था। इस कारण चम्पा के राज्य की उत्तरी सीमा चीन के साम्राज्य के साथ लगती थी। चीन की प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार चम्पा की स्थापना १८२ ईस्वी मे हुई थी। पर इससे कम-से-कम एक सदी पूर्व इस क्षेत्र मे भारतीय उपनिवेशो की स्थापना प्रारम्भ हो चुकी थी। ये उपनिवेश चार थे, पाण्डुरग (आधुनिक फनरग), विजय (आधुनिक बिन-दिन्ह), कौठार (न्हा-त्राग) और अमरावती। चम्पा के राजाओ ने इन सबको जीत कर अपने अधीन कर लिया था, और इस प्रकार एक अच्छे बडे एव शक्तिशाली राज्य की स्थापना कर दी थी। चम्पा के इस राज्य का पहला राजा श्रीमार था। वह और उसके उत्तराधिकारी विशुद्ध भारतीय राजा थे। उनकी भाषा सस्कृत थी, और उनका धर्म शैव था। इन राजाओ द्वारा उत्कीर्ण कराये हुए सस्कृत के अनेक शिलालेख दक्षिणी विएत-नाम मे उपलब्ध हुए हैं।

चीन की ऐतिहासिक अनुश्रुति से ज्ञात होता है, कि फान-वेन नाम के चम्पा के एक राजा ने ३४० ईस्वी मे अपना एक राजदूत चीन के सम्राट् के पास भेजा था। उसने अपने दूत से यह कहलवाया कि चीन और चम्पा के राज्यो के बीच की सीमा होन-सोन पर्वतमाला को निश्चित कर दिया जाए। इस नई सीमा के अनुसार न्हुत-नाम का उपजाऊ प्रदेश चम्पा के राज्य मे सम्मिलित हो जाता था। चीन का सम्राट् यह स्वीकार करने के लिए उद्यत नही हुआ, जिस पर ३४७ ईस्वी मे फान-वेन ने चीन पर आक्रमण कर दिया, और न्हुत-नाम को जीत कर चम्पा के राज्य को होन-सोन पर्वतमाला तक विस्तृत कर दिया। बाद मे इस प्रदेश को लेकर चीन और चम्पा मे अनेक युद्ध हुए, और ये युद्ध पाँचवी सदी के प्रारम्भ तक जारी रहे। यहाँ यह ध्यान मे रखना चाहिए, कि चम्पा के राजाओ के फान-वेन आदि नाम चीन की अनुश्रुति के अनुसार है। इनके वास्तविक नाम शुद्ध सस्कृत के थे, जिनका परिचय इनके शिलालेखो द्वारा प्राप्त होता है।

फूनान के समान चम्पा मे भी पौराणिक हिन्दू धर्म प्रचलित था, और षड्-दर्शन, बौद्ध दर्शन, काशिकावृत्तिसहित पाणिनीय व्याकरण, नारदीय और भार्गवीय आदि धर्मशास्त्र, आख्यान, शैव उत्तरकल्प, होराशास्त्र आदि का वहाँ उसी प्रकार से अध्ययन-अध्यापन होता था, जैसे कि भारत मे। भारत के पण्डितो के समान चम्पा के पण्डित भी सस्कृत भाषा मे ग्रन्थो की रचना मे तत्पर रहते थे। राजा हरिवर्मा (८०३-८१७ ई० प०) के शासनकाल मे पुराणार्थ या अर्थपुराणशास्त्र नामक संस्कृत पद्यग्रन्थ की रचना चम्पा मे की गई थी। पर चम्पा केवल पौराणिक हिन्दू धर्म का ही

केन्द्र नही था। बौद्ध साहित्य का भी वहाँ पठन-पाठन होता था। ६०५ ईस्वी में जब चीन के अन्यतम सेनापति लियू-फाँग ने चम्पा पर आक्रमण किया था, तो वहाँ के राजा शम्भूवर्मा को युद्ध में परास्त कर वह बहुत-सी लुट भी अपने साथ चीन ले गया था। इस लूट में १३५० बौद्ध ग्रन्थ भी थे। ये चम लिपि मे लिखे हुए थे, जो ब्राह्मी के साथ-साथ उस युग मे चम्पा मे प्रचलित थी। येन-त्सोग (५५७-३१० ई० प०) नाम के एक चीनी भिक्षु को इन ग्रन्थो को चीनी मे अनूदित करने का कार्य सुपुर्द किया गया था। पौराणिक हिन्दू धर्म का केन्द्र होते हुए भी चीन मे बौद्ध धर्म के प्रसार के लिए चम्पा द्वारा जो कार्य किया गया, इस घटना से उसका कुछ आभास प्राप्त हो जाता है।

सुमात्रा और जावा—हिन्द महासागर के जिन द्वीपो के समूह को आजकल इन्डोनीसिया कहते है, उनमे भी प्राचीन समय मे भारतीयो के अनेक उपनिवेशो की सत्ता थी। इन द्वीपो मे जावा सबसे अधिक महत्त्व का था। इसका प्राचीन नाम यवद्वीप था। दूसरी सदी तक भारतीय लोग वहाँ बस चुके थे। १३२ ईस्वी मे जावा का राजा देववर्मा था, जिसने अपना राजदूत चीन के सम्राट् की सेवा मे भेजा था। पाँचवी सदी के प्रारम्भ काल मे जब प्रसिद्ध चीनी यात्री फाइयान भारत की यात्रा समाप्त कर चीन वापस लौटा, तो वह मार्ग मे यवद्वीप ही ठहरा था। उसके यात्राविवरण से ज्ञात होता है, कि इस द्वीप मे भारतीय लोग अच्छी बडी सख्या मे निवास करते थे। पाँचवी सदी मे यवद्वीप तथा उसके समीपवर्ती अन्य द्वीपो मे बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ, जिसका प्रधान श्रेय गुणवर्मा को है। गुणवर्मा काश्मीर के राजा सघानन्द का पुत्र था। शुरू से ही उसकी प्रवृत्ति बौद्ध धर्म की ओर थी। जब उसकी आयु तीस वर्ष की थी, उसके पिता का देहान्त हो गया। अब उसे अपना राज्य सभालने के लिए कहा गया। पर उसने राजसिंहासन की तुलना मे बौद्ध भिक्षुओ के काषाय वस्त्र धारण करने को अधिक उचित समझा, और वह भिक्षु बन कर लका चला गया। कुछ समय लका मे निवास कर वह यवद्वीप गया, जहाँ की राजमाता शीघ्र ही उसके प्रभाव मे आ गई। गुणवर्मा ने उसे बौद्ध धर्म मे दीक्षित किया, और अपनी माता की प्रेरणा से जावा के राजा ने भी बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया। इसी समय किसी विदेशी सेना ने जावा पर आक्रमण किया। अहिंसाप्रधान बौद्ध धर्म के अनुयायी जावा के राजा के सम्मुख यह समस्या उपस्थित हुई, कि इस आक्रमण का मुकाबला करने के लिए युद्ध करना चाहिए या नही। इस समस्या का समाधान गुणवर्मा ने किया। उसने कहा कि दस्युओ को नष्ट करना हिंसा नही है, और उनसे युद्ध करना धर्म है। आक्रमण करने वाली शत्रु सेना परास्त हो गई, और जावा की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रही।

गुणवर्मा की कीर्ति जावा के समीप के सब भारतीय उपनिवेशो मे फैल गयी थी, और वहाँ से उसके ज्ञान तथा गुणो की गाथा चीन मे भी पहुँच गयी थी। चीन के बौद्ध भिक्षुओ ने अपने राजा से प्रार्थना की, कि गुणवर्मा को चीन निमन्त्रित किया जाए। भिक्षुओ का आवेदन स्वीकार कर चीन के सम्राट् ने अपना एक दूतमण्डल जावा के राजा और गुणवर्मा के पास भेजा और यह प्रार्थना की, कि आचार्य चीन पधारें। चीन के सम्राट् की प्रार्थना को गुणवर्मा ने स्वीकार कर लिया, और ४३१ ई०

मे वह नानकिंग के बन्दरगाह पर पहुँच गया। चीन मे बौद्ध धर्म का प्रचार करने और बौद्ध ग्रन्थो का चीनी भाषा मे अनुवाद कराने के सम्बन्ध मे गुणवर्मा का कर्तृत्व अत्यन्त महत्त्व का था।

जावा (यवद्वीप) के समीप सुमात्रा द्वीप है, जिसका प्राचीन राजनीतिक केन्द्र श्रीविजय था, जो कम्पर नदी के तट पर स्थित था। श्रीविजय की स्थापना चौथी सदी ईस्वी से पहले ही हो चुकी थी। पर सातवी सदी मे इसने बहुत अधिक उन्नति की, और इसके प्रतापी राजाओ ने पडोस के अनेक प्रदेशो को जीत कर अपने अधीन कर लिया। ६८४ ई० मे श्रीविजय के राजसिंहासन पर जयनाग का अधिकार था, जो बौद्ध धर्म का अनुयायी था। श्रीविजय के बौद्ध राजाओ का चीन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था, और ६४० से ७४१ ईस्वी तक की एक सदी मे उन्होने अनेक दूतमण्डल चीन के राजा की सेवा मे भेजे थे। इस काल मे श्रीविजय का राज्य बौद्ध धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। यही कारण है, जो बहुत-से चीनी भिक्षु बौद्ध धर्म तथा साहित्य का अध्ययन करने के लिए वहाँ आया करते थे। चीन के इन भिक्षुओ मे यि-त्सिग का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भारत को जाते हुए वह मार्ग मे छ महीने श्रीविजय ठहरा था, और भारत यात्रा से वापस लौटते हुए उसने चार वर्ष (६८५-६८९ ई० प०) तक श्रीविजय मे निवास किया था। ६८९ मे वह चीन लौट गया था, पर शीघ्र ही वह पुन श्रीविजय चला आया और देर तक वहाँ निवास करता रहा। यि-त्सिग के यात्रा-विवरण से ज्ञात होता है, कि सातवी सदी मे श्रीविजय बौद्ध धर्म तथा संस्कृत साहित्य के अध्ययन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। यि-त्सिग ने लिखा है, कि "श्रीविजय मे एक हजार से भी अधिक बौद्ध श्रमणो तथा भिक्षुओ का निवास है। ये सब सदाचरण तथा विद्याध्ययन मे व्यापृत रहते है। मध्यदेश (भारत) मे जिन विविध विषयो का पठन-पाठन होता है, उन सबका अध्ययन तथा अनुशीलन श्रीविजय मे भी किया जाता है। यहाँ जो नियम तथा संस्कार आदि प्रचलित है, वे भारत से भिन्न नही है। चीन के जो भिक्षु धर्मग्रन्थो के अध्ययन तथा श्रवण के लिए पश्चिम मे जाना चाहे, उनके लिए यह वाछनीय होगा कि वे एक-दो साल श्रीविजय मे भी व्यतीत किया करे।"

इसमे सन्देह नही, कि सातवी सदी तथा उसके बाद के काल मे श्रीविजय बौद्ध धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया था, और दक्षिण-पूर्वी तथा सुदूर पूर्व के देशो की दृष्टि मे उसका महत्त्व भारत के मध्य देश के ही सदृश था। न केवल चीन के बौद्ध भिक्षु भारत आते हुए कुछ समय वहाँ भी व्यतीत किया करते थे, अपितु भारत के भिक्षु भी पूर्वी देशो को जाते हुए वहाँ ठहरा करते थे। ७१७ ई० मे वज्रबोधि नाम का भारतीय भिक्षु चीन गया था। उस सुदूर देश को जाते हुए उसने श्रीविजय की भी यात्रा की थी। मगध के प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् आचार्य दीपकर श्रीज्ञान अतीश आचार्य चन्द्रकीर्ति से भेंट करने के लिए जिस सुवर्णद्वीप को गये थे वह श्रीविजय ही था, यह ऐतिहासिको का मत है। दीपकर श्रीज्ञान ने ग्यारहवी सदी के प्रारम्भ मे इस प्रदेश की यात्रा की थी। उनके अनुसार श्रीविजय या सुवर्णद्वीप प्राच्य संसार मे बौद्ध धर्म का सबसे बडा केन्द्र था और आचार्य चन्द्रकीर्ति अपने समय के सबसे महान् बौद्ध विद्वान् थे। इस

दशा मे यदि चीन के बौद्ध भिक्षु धर्म के ज्ञान की पिपासा को शान्त करने के लिए वहाँ आया करते हो, तो यह सर्वथा स्वाभाविक था। श्रीविजय की यह स्थिति तेरहवीं सदी तक कायम रही, जबकि मुसलिम आक्रान्ताओं ने न केवल उसके राजाओं की स्वतन्त्र सत्ता का ही अन्त किया, अपितु बौद्ध धर्म का विनाश कर वहाँ के निवासियो को इस्लाम का अनुयायी भी बना लिया।

तोन्किन—विएत-नाम के उत्तरी क्षेत्र मे तोन्किन का प्रदेश था, जो प्राचीन समय मे चीन के अधीन था। कम्बुज और चम्पा के समान वहाँ किसी भारतीय उपनिवेश की स्थापना नहीं हुई थी, यद्यपि वहाँ भी भारतीयो का अच्छी बडी सख्या मे निवास था। तोन्किन भी बौद्ध धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। वहाँ बौद्ध धर्म के प्रचार का श्रीगणेश मोऊ-त्सेउ नामक चीनी भिक्षु द्वारा किया गया था। चीनी सम्राट् लिंग-ती की मृत्यु (१८६ ई० प०) के पश्चात् चीन मे अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी, और वहाँ गृहकलह प्रारम्भ हो गया था। इस दशा मे चीन के बहुत-से बौद्ध विद्वानो एव भिक्षुओ ने तोन्किन आकर आश्रय ग्रहण किया, जिनमे मोऊ-त्सेउ सर्वप्रधान था। तोन्किन मे इसी भिक्षु ने सबसे पूर्व बौद्ध धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया। इसके बाद तीसरी सदी के मध्य मे सघभद्र नामक भिक्षु ने तोन्किन को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। वह सुग्ध देश का निवासी था, और उसके पिता व्यापार के लिए तोन्किन मे बसे हुए थे। पिता के स्वर्गवास के पश्चात् उसने भिक्षुव्रत ग्रहण कर लिया, और तोन्किन तथा दक्षिणी चीन मे बौद्ध धर्म के प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया। सघभद्र के विषय मे इसी अध्याय मे ऊपर विशद रूप से लिखा जा चुका है। बौद्ध ग्रन्थो को चीनी भाषा मे अनूदित करने के कार्य मे उसने विशेष तत्परता प्रदर्शित की थी, और तोन्किन मे निवास करते हुए अनेक सस्कृत ग्रन्थो का अनुवाद किया था। पर वह देर तक तोन्किन नही रहा। वहाँ से वह चीन चला गया, और वहाँ नानकिंग के राजा को बौद्ध धर्म मे दीक्षित किया। दक्षिणी चीन मे बौद्ध धर्म के प्रचार के सूत्रपात का प्रधान श्रेय सघभद्र (सेंग-हुएई) को ही है।

तोन्किन से जाकर चीन मे बौद्ध धर्म का प्रचार करने वाले प्रचारको मे महा-जीवक या जीवक का नाम भी उल्लेखनीय है। उसका जन्म भारत मे हुआ था। भारत से वह समुद्रमार्ग द्वारा फूनान गया, और फूनान से तोन्किन। कुछ वर्ष तोन्किन मे निवास करने के पश्चात् वह कैन्टन गया, और दक्षिणी चीन के समुद्र तट के समीपवर्ती प्रदेशो मे बौद्ध धर्म का प्रचार करता हुआ वह लो-याग पहुँच गया जो तीसरी सदी के अन्त तक चीन मे बौद्ध धर्म का प्रधान केन्द्र बन चुका था और जहाँ सम्राट् मिंग-ती द्वारा श्वेताश्व विहार की स्थापना करायी गई थी।

तोन्किन को अपना कार्यक्षेत्र बनाकर जिन बौद्ध भिक्षुओ ने धर्म प्रचार मे अपना जीवन व्यतीत किया, उनमे कालरुचि या कल्याणरुचि को भी भुलाया नहीं जा सकता। वह युइशि जाति का था, और तीसरी सदी के मध्य भाग मे तोन्किन गया था। उसने भी अनेक बौद्ध ग्रन्थो का अनुवाद किया था। भारत, सुग्ध, युइशि आदि के जो बहुत-से बौद्ध भिक्षु प्राचीन काल में तोन्किन में आ बसे थे, उनके प्रयत्न से इस

देश के निवासियो ने बौद्ध धर्म को अपना लिया था। तीसरी सदी के अन्त तक तोन्किन के लेइ-ल्यू (वर्तमान समय के बक्-मिन्ह क्षेत्र मे स्थित) प्रदेश मे पाँच सौ भिक्षुओ का निवास हो गया था, और वहाँ बीस चैत्य व विहार स्थापित हो गये थे। विएत-नाम के दक्षिणी प्रदेश मे विद्यमान चम्पा के समान तोन्किन भारत का उपनिवेश तो नही था, पर वहाँ भारतीय लोग अच्छी बडी सख्या मे निवास करते थे। इस काल मे तोन्किन चीन के साम्राज्य के अन्तर्गत था, अत चीन के विविध प्रदेशो मे बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए वहाँ के भिक्षुओ तथा आचार्यों द्वारा कार्य किया जाना सर्वथा स्वाभाविक था।

(४) चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार करने वाले भारतीय विद्वान्

चीन मे बौद्ध धर्म का प्रचार प्रधानतया मध्य एशिया और दक्षिण-पूर्वी एशिया के उन राज्यो तथा भारतीय उपनिवेशो द्वारा हुआ था, जो प्राचीन समय मे भारतीय सस्कृति तथा धर्म के केन्द्र थे। इनमे निवास करने वाले बौद्ध आचार्यों, स्थविरो तथा भिक्षुओ के लिए चीन आना-जाना अधिक सुगम था, क्योंकि इनकी स्थिति चीन के अधिक समीप थी। पर भारत मे भी बहुत-से बौद्ध प्रचारक चीन गये थे, और उन्होंने भी वहाँ भगवान् तथागत के धर्म का प्रचार करने के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया था।

सम्राट् मिग-ती के शासन काल (५८-७५ ईस्वी) मे काश्यप मातग और धर्मरक्ष नामक दो भारतीय भिक्षु धर्मप्रचार के लिए चीन गये थे, यह पहले लिखा जा चुका है। चीन मे बौद्ध धर्म का सूत्रपात इन भारतीयो द्वारा ही हुआ था, यह चीन की प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति द्वारा भली-भाँति प्रमाणित है। इन्हीं के निवास के लिए चीनी सम्राट् ने अपनी राजधानी लो-याग मे श्वेताश्व विहार का निर्माण कराया था। वहाँ रहते हुए इन भिक्षुओ के अनेक सस्कृत ग्रन्थो का चीनी भाषा में अनुवाद किया था, जिनमे से केवल 'द्वाचत्वारिंशत् सूत्र' ही इस समय प्राप्त है। चाड्-किएन और पान-छाओ के प्रयत्न से इस काल मे मध्य एशिया के साथ चीन का सम्बन्ध बहुत बढ गया था, और पश्चिमी देशो से चीन जा-आ सकना बहुत सुगम हो गया था। यही कारण है, कि काश्यप मातंग और धर्मरक्ष के बाद ढाई-तीन सदियो तक जो आचार्य व भिक्षु बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए चीन गये, वे प्रधानतया पार्थिया, युइशि, कुची, खोतन तथा सुग्ध आदि ऐसे देशो के निवासी थे, जिनमे ईस्वी सन् के प्रारम्भ काल तक बौद्ध धर्म का भली-भाँति प्रचार हो चुका था। मध्य एशिया के इन प्रचारको का उल्लेख इसी अध्याय मे ऊपर किया जा चुका है।

पर चौथी सदी मे भारतीय विद्वानो ने भी बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए चीन जाना प्रारम्भ कर दिया था। उन दिनो काश्मीर बौद्ध धर्म का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, और वहाँ के विहारो मे बहुत-से प्रसिद्ध विद्वान् निवास किया करते थे। ३८१ ईस्वी मे सघभूति नाम का काश्मीरी आचार्य चीन पहुँचा था, और चार साल वहाँ निवास कर उसने अनेक बौद्ध ग्रन्थो का चीनी भाषा मे अनुवाद किया था। इनमें

विनयपिटक की सर्वास्तिवादी टीका का अनुवाद विशेष रूप से उल्लेखनीय है। गौतम संघदेव नाम का एक अन्य काश्मीरी विद्वान् ३८४ ईस्वी में चीन गया था। कुछ समय चांग-गान में निवास कर ३९१ में वह दक्षिणी चीन चला गया, जहाँ संग-हुएई (संघभद्र) नामक भिक्षु ने एक नए विहार तथा पीठ की स्थापना की थी। संघभद्र के साथ रहकर गौतम संघदेव ने अनेक बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। उसकी कीर्ति चीन में दूर-दूर तक फैल गई थी। इसीलिए उसे लू-शान में निमन्त्रित किया गया, जहाँ हुई-युआन नामक चीनी विद्वान् ने एक अनुवादपीठ स्थापित किया हुआ था। हुई-युआन के सहयोग से गौतम संघदेव ने कतिपय ऐसे ग्रन्थों को चीनी भाषा मे अनूदित किया, जिन्हें अत्यन्त कठिन व दुरूह समझा जाता था। ३९७ ईस्वी में चीन के राजा का निमन्त्रण प्राप्त कर गौतम संघदेव नानकिंग चला गया। वहाँ उसका बहुत सम्मान किया गया, और उसके निवास के लिए एक नए विहार का निर्माण करवाया गया। मृत्युपर्यन्त गौतम संघदेव नानकिंग के इसी विहार में निवास करते रहे, और वहाँ रहते हुए वे बौद्ध ग्रन्थों के चीनी भाषा में अनुवाद तथा धर्म के प्रचार कार्य मे व्यापृत रहे।

प्राचीन काल मे काश्मीर का मध्य एशिया के भारतीय उपनिवेशों के साथ अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध था। विशेषतया, कुची में काश्मीर के लोगों का आना-जाना बहुत अधिक था। कुमारजीव अपनी माता जीवा के साथ काश्मीर में विद्याध्ययन के लिए रहे थे, और वहाँ उनका अनेक बौद्ध विद्वानों के साथ सम्पर्क हुआ था। इनमे से कतिपय विद्वान् चीन भी गये थे, और उन्होंने वहाँ चीनी भाषा में बौद्ध ग्रन्थो को अनूदित करने के कार्य मे कुमारजीव को सहयोग प्रदान किया था। बुद्धयश और विमलाक्ष नामक बौद्ध विद्वानो का पिछले एक अध्याय मे उल्लेख किया जा चुका है। बुद्धयश कुमारजीव के गुरु थे, और उन्होंने काशगर में, कुमारजीव को वेद, वेदाङ्ग, दर्शन, ज्योतिष तथा अभिधम्म पिटक की शिक्षा प्रदान की थी। वे काश्मीर के एक ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न हुए थे। उनके पिता सनातन पौराणिक धर्म के अनुयायी थे, और बौद्ध धर्म के घोर विरोधी थे। एक बार उन्होंने किसी बौद्ध भिक्षु का अपमान कर दिया, जिसके कारण वे अर्धाङ्ग रोग से पीडित हो गए। अब उन्हें अपनी भूल का बोध हुआ और उन्होंने न केवल उस भिक्षु से क्षमा याचना ही की, अपितु प्रायश्चित्त के रूप में अपने पुत्र यश को उस भिक्षु के सुपुर्द भी कर दिया। यश की आयु उस समय तेरह वर्ष की थी। वेद वेदाङ्ग तथा आस्तिक दर्शनो आदि का वह बाल्यावस्था में ही अध्ययन कर चुका था। अब उसने बौद्ध ग्रन्थों का अनुशीलन प्रारम्भ किया, और २४ वर्ष की आयु मे वह सर्वविद्यानिष्णात हो गया। काश्मीर में अपनी शिक्षा को पूर्ण कर यश या बुद्धयश काशगर गया। वहाँ के राजा ने बौद्ध भिक्षुओं के सम्मान में एक महान् आयोजन किया था। ३,००० भिक्षु राजा के निमन्त्रण को स्वीकार कर काशगर मे एकत्र हुए थे। काशगर का राजा बुद्धयश की विद्वत्ता तथा प्रतिभा से बहुत प्रभावित हुआ, और उससे काशगर में ही निवास करते रहने का अनुरोध किया। यहीं कुमारजीव का उनसे परिचय हुआ, और उसने बुद्धयश के चरणों में बैठकर वेद-वेदाङ्ग आदि का

अध्ययन किया। ३८३ ईस्वी में जब चीन के सेनापति लो-कोग्रांग ने कुची पर आक्रमण किया, तो वहाँ के राजा ने काशगर से सहायता की याचना की। काशगर के राजा ने अपने कुमार को बुद्धयश के सुपुर्द कर स्वयं कुची के लिए प्रस्थान कर दिया। पर कुची और काशगर की सम्मिलित शक्ति भी चीन की सेना का मुकाबला करने में असमर्थ रही। इसी आक्रमण मे जो बहुत-से युद्धबन्दी लो-कोग्रांग द्वारा चीन ले जाये गये थे, कुमारजीव भी उनमे थे। वे पहले ही काशगर से कुची चले आ चुके थे। पर ३८२ के पश्चात् दस साल तक बुद्धयश काशगर ही रहते रहे। ३९२ मे वे कुची गए, और एक साल वहाँ रहकर उन्होने भी चीन के लिए प्रस्थान कर दिया। उस समय कुमारजीव चीन में बौद्ध ग्रन्थो का चीनी भाषा मे अनुवाद करने मे व्यापृत थे। बुद्धयश ने इस कार्य मे उनकी सहायता की। कुछ समय चीन रहकर वह अपने देश काश्मीर वापस आ गये। चीनी ग्रन्थों मे बुद्धयश की बहुत प्रशंसा की गई है। वे कोई भी भेंट-उपहार स्वीकार नही करते थे। भिक्षुओ के सरल व तपस्यामय जीवन मे उनकी आस्था थी, और ससार के सब आकर्षणों तथा सुख-भोगो से दूर रहते हुए वे सच्चे भिक्षु के समान अपना जीवन व्यतीत किया करते थे।

कुची होकर चीन जाने वाले अन्य काश्मीरी विद्वान् पुण्यत्रात, धर्मयश और विमलाक्ष थे। पुण्यत्रात भी आचार्य कुमारजीव के सहयोगी थे, और सम्भवत. कुची मे ही इन आचार्यों का परस्पर परिचय हुआ था। चीन में बौद्ध ग्रन्थो का अनुवाद करने के लिए जो महान् आयोजन कुमारजीव द्वारा किया गया था, पुण्यत्रात भी उसमे उनके सहयोगी रहे थे। धर्मयश पुण्यत्रात के शिष्य थे। ३० साल की आयु मे उन्होंने काश्मीर से प्रस्थान किया था, और मध्य एशिया की यात्रा करते हुए ३९७ ईस्वी मे वे चीन पहुँचे थे। ४५३ ई० तक वे चीन में रहे, और ५६ साल के इस सुदीर्घ काल में उन्होने बहुत-से बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा मे अनुवाद किया। जीवन के अन्तिम दिनो मे वे मध्य एशिया के मार्ग से अपने देश काश्मीर वापस लौट आए, और वही उन्होने जीवन-लीला समाप्त की। विमलाक्ष भी काश्मीरी थे, और मध्य एशिया के विविध बौद्ध चैत्यो तथा संघारामो की यात्रा करते हुए वे कुची पहुँचे थे। वहाँ कुमारजीव ने उनसे सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के विनयपिटक का अध्ययन किया था। ४०६ ईस्वी में वह भी चीन चले गए, और अपने शिष्य कुमारजीव के साथ रहकर बौद्ध ग्रन्थो का चीनो भाषा मे अनुवाद करने लगे। ४१२ ई० मे कुमारजीव की जब मृत्यु हो गई, तो आचार्य विमलाक्ष दक्षिणी चीन चले गए और अपना शेष जीवन उन्होंने वही व्यतीत किया।

काश्मीर के अनेक बौद्ध विद्वान् समुद्र के मार्ग से भी चीन गए थे। चीनी यात्री फाइयान भारत की यात्रा करता हुआ जब काश्मीर गया था, तो वहाँ उसका परिचय बुद्धजीव नामक काश्मीरी भिक्षु से हुआ था। बुद्धजीव फाइयान के साथ समुद्र मार्ग से चीन गया, और वहाँ रहकर उसने अनेक ऐसे बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया, जिन्हें फाइयान भारत से अपने साथ चीन ले गया था। गुणवर्मा का उल्लेख इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है। वे भी काश्मीरी थे, और काश्मीर

के राजा संघानन्द के पुत्र थे। कुछ समय लंका में निवास कर वे जावा चले गये थे। वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार करने में उन्होंने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया। गुणवर्मा के ज्ञान और गुणों की कीर्ति सुनकर चीनी भिक्षुओं ने अपने राजा से यह प्रार्थना की, कि उन्हें चीन निमन्त्रित किया जाए। भिक्षुओं की प्रार्थना को स्वीकार कर चीन के सम्राट् ने अपना दूत जावा के राजा और गुणवर्मा की सेवा में भेजा और यह आग्रह किया कि आचार्य चीन पधारें। गुणवर्मा ने चीन के सम्राट् की प्रार्थना स्वीकार कर ली, और ४३१ ईस्वी में वे दक्षिणी चीन की राजधानी नानकिंग पहुँच गये। वहाँ के जेतवन विहार में रहकर उन्होंने अनेक बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा मे अनुवाद किया। नानकिंग मे उनसे पूर्व धर्ममित्र नाम के एक अन्य काश्मीरी विद्वान् निवास कर रहे थे। वे तुङ्-ह्वाङ् होते हुए ४२४ ईस्वी मे नानकिंग पहुँचे थे।

काश्मीर के समान भारत के अन्य प्रदेशों मे भी बहुत-से बौद्ध विद्वान् और भिक्षु धर्मप्रचार के प्रयोजन से चीन गये थे। बिहार से पंजाब तक के सारे उत्तरी भारत को चीनी साहित्य मे 'मध्यदेश' कहा गया है। इस मध्यदेश के निवासियों मे से जो बौद्ध विद्वान् सबसे पूर्व चीन गये, उनका नाम धर्मक्षेम है। वे महायान सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध विद्वान् थे। पहले वे काश्मीर गये। पर वहाँ के निवासी हीनयान के सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। उन्होने आचार्य धर्मक्षेम की शिक्षाओं व मन्तव्यों पर कोई ध्यान नही दिया। इस दशा मे वे काश्मीर से कुची चले गये, और कुछ समय वहाँ रहकर उन्होने चीन के लिए प्रस्थान कर दिया। ४१४ से ४३२ तक वे पश्चिमी चीन में रहे, और वहाँ निवास करते हुए उन्होने बहुत-से बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा मे अनुवाद किया। आचार्य गौतम प्रज्ञारुचि वाराणसी के निवासी थे। स्थल मार्ग से यात्रा करते हुए ५१६ ईस्वी मे वे चीन गए थे, और ५४३ ई० तक वहाँ रहते रहे। गुणभद्र नामक आचार्य समुद्र मार्ग द्वारा ४३५ ई० मे चीन पहुँचे थे। लंका से वह कैन्टन गए थे, और वहाँ से नानकिंग। गुणभद्र का जन्म एक पौराणिक परिवार मे हुआ था, पर उन्होंने भिक्षुव्रत ग्रहण कर बौद्ध धर्म के प्रचार मे अपने जीवन को लगा दिया था। ज्ञानभद्र, जिनयश और यशोगुप्त बंगाल के निवासी थे, और छठी सदी के उत्तरार्द्ध में ये तीनों आचार्य बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए चीन गए थे।

प्राचीन काल मे उज्जैन शिक्षा तथा संस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। वहाँ से भी अनेक आचार्य बौद्ध धर्म का प्रचार करने के प्रयोजन से चीन गए थे। उज्जैन के इन आचार्यों मे परमार्थ सबसे प्रसिद्ध हैं। वे पहले पाटलिपुत्र गए थे, और वहाँ रह कर उन्होंने अपनी शिक्षा को पूर्ण किया था। उस समय चीन से एक मिशन इस प्रयोजन से भारत आया हुआ था, ताकि किसी प्रसिद्ध एवं गम्भीर बौद्ध विद्वान् को चीन आने के लिए निमन्त्रित करे। चीनी मिशन का ध्यान आचार्य परमार्थ की ओर गया, और उसने अपनी प्रार्थना उनके सम्मुख प्रस्तुत की। परमार्थ ने चीन जाना स्वीकार कर लिया, और ५४६ ईस्वी में वे चीन पहुँच गए। अपने साथ वे बहुत-से बौद्ध ग्रन्थ भी चीन ले गए थे। ५६९ ईस्वी तक वे चीन में रहे, और वहाँ रहते हुए उन्होंने ७० ग्रन्थों का चीनी भाषा मे अनुवाद किया। उपशून्य नामक एक अन्य विद्वान् भी उज्जैन से

चीन गए थे। उन्होंने समुद्र मार्ग द्वारा यात्रा की थी, और नानकिंग को अपना कार्य-क्षेत्र नियत किया था।

काश्मीर के समान गान्धार देश भी प्राचीन काल मे बौद्ध धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र था। वहाँ से जो बौद्ध विद्वान् चीन मे धर्मप्रचार के लिए गये, उनमें बुद्धभद्र, बिमोक्षसेन और जिनगुप्त के नाम उल्लेखनीय हैं। बुद्धभद्र नगरहार के निवासी थे। वहाँ वे १७ साल की आयु तक रहे, और फिर बौद्ध धर्म के उच्च अध्ययन के लिए काश्मीर चले गए। जब वह काश्मीर मे रह रहे थे, तो उनकी भेंट चीनी यात्री चे-येन से हुई। चे-येन फाइयान के साथ भारत यात्रा के लिए आया था, और भारत के किसी प्रकाण्ड पण्डित को अपने साथ चीन ले जाने के लिए इच्छुक था। बुद्धभद्र चे-येन के साथ चीन जाने को तैयार हो गए। वे दोनों उत्तरी भारत की यात्रा करते हुए पहले बरमा पहुँचे, और वहाँ से चीन चले गए। कुमारजीव उन दिनो चाग-गान मे रहकर बौद्ध ग्रन्थो का चीनी भाषा मे अनुवाद कर रहे थे। अपने कार्य के लिए उन्हे सुयोग्य सहयोगियों की आवश्यकता थी। कुमारजीव के अनुरोध पर बुद्धभद्र चाग-यान गए और वहाँ रह कर उन्होंने बौद्ध ग्रन्थो के अनुवाद के सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण कार्य किया। कुमारजीव उनकी विद्वत्ता का सिक्का मानते थे, और उनके परामर्श को बहुत महत्व देते थे। इसी काल मे चीन के एक प्रसिद्ध बौद्ध स्थविर हुई-युआन ने दक्षिणी चीन मे एक नये विहार की स्थापना की थी, जिसमे प्रामाणिक बौद्ध ग्रन्थो को चीनी भाषा मे अनूदित करने के लिए एक अनुवादपीठ भी विद्यमान था। हुई-युआन के निमन्त्रण को स्वीकार कर बुद्धभद्र दक्षिणी चीन के इस स्थान पर गए, और कुछ समय वहाँ निवास कर वे नानकिंग चले गए, जहाँ के राजा ने उन्हे अत्यन्त आग्रहपूर्वक निमन्त्रित किया था। ४२६ ई० मे नानकिंग मे ही उनकी मृत्यु हुई। पर चीन के अनेक स्थानों पर चिरकाल तक निवास करते हुए बुद्धभद्र ने बौद्ध ग्रन्थों को चीनी भाषा में अनूदित करने के सम्बन्ध मे जो कार्य किया वह अत्यन्त महत्वपूर्ण था।

विमोक्षसेन स्वात की घाटी मे बसे हुए एक शाक्य परिवार के कुमार थे। कोशल देश के राजा विरुधक (विडूडभ) ने जब कपिलवस्तु के गणराज्य पर आक्रमण किया था और शाक्यो का यह राज्य उजड गया था, तो कतिपय शाक्य परिवार अपने अभिजन को छोडकर दूसरे देशो मे जा बसे थे। दो शाक्य परिवार भारत के उत्तर-पश्चिम मे स्थित गान्धार से भी परे बस गए थे। विमोक्षसेन का जन्म इनमे से एक परिवार मे हुआ था। ५४१ मे यह आचार्य चीन गए थे, और वहाँ जाकर अनेक बौद्ध ग्रन्थो का चीनी भाषा में अनुवाद किया था। विमोक्षसेन अभिधम्मपिटक के विख्यात विद्वान् थे।

जिनगुप्त पुष्पपुर (पेशावर) के निवासी थे, जो कनिष्क के समय में गान्धार का मुख्य नगर हो गया था। उनके पिता एक उच्च कर्मचारी थे, पर उन्होंने बाल्यावस्था मे ही भिक्षुव्रत ग्रहण कर पुष्पपुर के महावन विहार मे धर्मग्रन्थो तथा शास्त्रो का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया था। २७ साल की आयु मे वे कपिशा और खोतन होते हुए चीन पहुँच गए (५५७ ईस्वी)। साथ में उनके गुरु आचार्य ज्ञानभद्र

और जिनयश भी थे। इन्होंने चांग-गान को अपना केन्द्र बनाया, और वहाँ के राजा की आज्ञा से इनके निवास के लिए एक पृथक् विहार का निर्माण कराया गया।

भारत के अन्य प्रदेशों से धर्मप्रचार के लिए चीन जाने वाले बौद्ध विद्वानों मे धर्मगुप्त का नाम उल्लेखनीय है। वे लाट देश (काठियावाड़) के निवासी थे। विद्या के अध्ययन के लिए वे कान्यकुब्ज (कन्नौज) गए, और वहाँ के कौमुदी संघाराम में रहकर उन्होंने बौद्ध धर्म की उच्च शिक्षा प्राप्त की। २५ साल की आयु मे उन्होंने भिक्षुव्रत ग्रहण कर लिया, और फिर पंजाब में टक्का नामक स्थान के देव विहार में निवास करने लगे। कुछ समय वहाँ रहकर वे कपिशा, बल्ख, बदख्शाँ और काशगर होते हुए कुची जा पहुचे। कुची का राजा चाहता था, कि वे कुची में ही रहते रहें। पर वे चीन जाने के लिए उत्सुक थे। अत. उन्होंने छिपकर कुची से प्रस्थान कर दिया और काराशहर (अग्निदेश), तुर्फान तथा हामी होते हुए ५६० मे वे चांग-यान पहुच गए। कुछ समय वहाँ रहकर उन्होने लो-याग के लिए प्रस्थान कर दिया। चीन के सम्राट् का निवास उन दिनो लो-याग मे ही था। ६१६ मे उनकी वहीं पर मृत्यु हुई। धर्मगुप्त केवल बौद्ध धर्म के ही प्रकाण्ड विद्वान् नही थे, अपितु उनके ज्ञान, चिन्तन आदि का क्षेत्र अत्यन्त विस्तीर्ण था। वे जिन देशो मे भी गये, उनकी जलवायु, आर्थिक उत्पादन, निवासस्थानों की दशा, रीतिरिवाज, चाल-चलन, भोजन-पान, सरकार व शासन, पोशाक, शिक्षापद्धति, व्यापारिक पदार्थ, पर्वत, नदी, नगर और प्रसिद्ध व्यक्तियो आदि का भी उन्होंने सूक्ष्मतापूर्वक अध्ययन किया और उनका विवरण भी लिखा। दुर्भाग्यवश आचार्य धर्मगुप्त का यह ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है। पर भविष्य मे यदि कभी यह ग्रन्थ प्राप्त हो गया, तो इसका महत्व ह्यु एन्-त्साग के यात्रा विवरण से कदापि कम न होगा।

पाँचवी सदी मे बुद्धधर्म नाम का एक भारतीय भिक्षु समुद्र मार्ग से चीन गया था, और उसने दक्षिणी चीन मे बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। चीन का अन्यतम बौद्ध सम्प्रदाय शान्-तो (ध्यान) है, जो ध्यान-समाधि को बहुत महत्व देता है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक बुद्धधर्म ही थे।

तांग वश के शासन काल (६१८ ई० से दसवी सदी के प्रारम्भ समय तक) मे चीन की राजनीतिक एकता भलीभाँति स्थापित हो गई थी। देश मे सर्वत्र शान्ति और व्यवस्था थी, जिसके कारण लोगो का एक स्थान से दूसरे स्थान पर आना-जाना बहुत सुगम हो गया था। भारत और चीन के पारस्परिक सम्बन्धों मे इस काल मे और भी अधिक वृद्धि हुई। चीन के नगरों मे बहुत-से भारतीय भिक्षु और व्यापारी निवास करने लगे। इस काल मे नालन्दा भारत का सबसे प्रसिद्ध विद्यापीठ था। बहुत-से चीनी विद्यार्थी इस काल मे धर्म और ज्ञान की प्राप्ति के लिए नालन्दा आये, और बहुत-से भारतीय विद्वान् भी इस समय मे नालन्दा से चीन गए।

तांग-वंश के शासन काल में भारत से चीन जाने वाले बौद्ध विद्वानों मे सर्वप्रथम स्थान आचार्य प्रभाकरमित्र का है। वे मध्य भारत के एक राजकुल मे उत्पन्न हुए थे। दस वर्ष की आयु में ही उन्होंने बौद्ध ग्रन्थो का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया था।

उनके विषय में यह अनुश्रुति है, कि उन्हे महायान सम्प्रदाय के एक लाख श्लोक कण्ठस्थ थे। उच्च ज्ञान की प्राप्ति के लिए वे नालन्दा आये थे, और वहां आचार्य शीलभद्र के पास रह कर उन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी। कुछ समय पश्चात् उन्हें नालन्दा मे ही अभिधम्म पिटक का अध्यापक नियुक्त कर दिया गया था। पर विदेश-यात्रा की उन्हें प्रबल इच्छा थी। अत नालन्दा छोडकर वे भारत के उत्तर-पश्चिमी देशों की ओर चल पड़े, और मध्य एशिया की यात्रा करते हुए पश्चिमी तुर्कों के राज्य मे जा पहुचे। वहाँ उन्होने तुर्क राजा (खान) को बौद्ध धर्म का उपदेश दिया। तुर्क खान के दरबार मे स्थित चीनी राजदूत द्वारा उनकी कीर्ति चीन में पहुँच गई, और वहाँ के सम्राट् से निमन्त्रण प्राप्त कर ६२७ ई० मे वे चीन चले गये। वहाँ के सम्राट् ने उनका बहुत सम्मान किया, और उनके निवास आदि की सब व्यवस्था अपनी ओर से कर दी। चीन के राजदरबार मे उस समय बहुत-से लोग ऐसे भी थे, जो कन्फ्यूसियस के अनुयायी और बौद्ध धर्म के विरोधी थे। प्रभाकरमित्र को जो सम्मान सम्राट् द्वारा प्राप्त हो रहा था, उससे वे बहुत असन्तुष्ट हुए और उन्होंने सम्राट् को उनके विरुद्ध बहकाना शुरू कर दिया। वह उनके बहकाये मे आ गया, और सम्राट् द्वारा उपेक्षित होकर ६३३ ई० मे चीन में ही प्रभाकरमित्र की मृत्यु हुई।

६९३ ईस्वी मे बोधिरुचि नामक एक विद्वान् चीन गए। वे दक्षिणी भारत के निवासी थे। पहले उन्होंने सांख्य आदि दर्शनो का अध्ययन किया, और बाद मे बौद्ध धर्म तथा दर्शन के प्रति रुचि हो जाने के कारण उन्होने बौद्ध ग्रन्थो का अनुशीलन प्रारम्भ किया। ६९२ ईस्वी में उनकी भेंट चालुक्य राजा के दरबार में विद्यमान एक चीनी राजदूत से हुई। उसने उन्हें चीन जाने के लिए निमन्त्रण दिया। ६९३ मे चीन पहुँच कर उन्होने बौद्ध ग्रन्थो को चीनी भाषा मे अनूदित करना प्रारम्भ कर दिया। कुछ वर्ष बाद ७०६ ईस्वी मे वह चांग-गान पहुँचे, जहाँ उस समय बहुत-से भारतीय विद्वान् निवास कर रहे थे और बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद करने मे व्यापृत थे। बोधिरुचि भी उनमे शामिल हो गए, और वहाँ उन्होने ५३ ग्रन्थो का चीनी भाषा मे अनुवाद किया। उनके समय मे जो अन्य अनेक भारतीय भिक्षु चाग-गान में अनुवाद कार्य कर रहेथे, उनमें ईश्वर, धर्म और प्राणगुप्त के नाम उल्लेखनीय हैं। ह्यु एन्-त्सांग जो बहुत-से ग्रन्थ भारत से अपने साथ चीन ले गया था, चांग-गान मे उन्हीं का अनुवाद किया जा रहा था।

शुभकर्णसिंह नामक एक अन्य भारतीय विद्वान् ७१६ ईस्वी में चाग-गान पहुँचे थे। वे नालन्दा के विद्यापीठ के साथ सम्बद्ध थे, और चीन जाने से पूर्व तुर्कों के राज्य में भी रहे थे। नालन्दा से जाते हुए वे बहुत-से संस्कृत ग्रन्थ भी अपने साथ ले गए थे। कुछ वर्ष चाग-गान मे रहकर शुभकर्णसिंह लो-याग चले गए थे, जहाँ ९९ साल की आयु में उनकी जीवनलीला समाप्त हुई थी।

आचार्य वज्रबोधि मध्य भारत के एक राजा ईशानवर्मा के पुत्र थे। घर का परित्याग कर वे नालन्दा चले आए थे, और वहाँ रहकर ही उन्होंने धर्म तथा दर्शन की उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। शिक्षा पूर्ण कर वे काञ्ची (काञ्जीवरम) गए, जहाँ

पल्लवराज नरसिंह पोतवर्मन् को उन्होंने धर्म की शिक्षा प्रदान की। कुछ समय काञ्ची में निवास कर वे लंका चले गए। उन दिनों लंका का राजा अपना एक दूतमण्डल चीन भेज रहा था। वज्रबोधि भी उसके साथ चीन गये, और वहाँ जाकर उन्होंने महाप्रज्ञापारमिता सूत्र तथा अन्य अनेक ग्रन्थ चीन के राजा को भेंट में प्रदान किए। ७२० ईस्वी में वे कैण्टन गए, और वहीं स्थायी रूप से निवास करने लगे। बहुत-से युवक वहाँ उनके शिष्य हो गए, जिनमे अमोघवज्र नामक भारतीय का स्थान सर्वोच्च था।

दसवी सदी और उसके बाद भी भारतीय विद्वानों की चीन जाने की परम्परा जारी रही। ९७२ ई० में को-ये, फा-किअन, चेन-ली और सु-की-तो नामक भारतीय भिक्षु ४० अन्य भिक्षुओं के साथ पश्चिमी भारत से चांग-गान गये थे। ९७३ ई० में चीन के राजा ने नालन्दा से आये एक भारतीय विद्वान् फा-तिउन (धर्मदेव) का अपने दरबार में अत्यन्त सम्मानपूर्वक स्वागत किया था। वे चीन में ही निवास करने लगे थे, और वहीं १००१ ई० मे उनकी मृत्यु हुई थी। ९८२ ईस्वी में चीन के सम्राट् ने बौद्ध धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद कराने के लिए अनुवादकों की एक मण्डली को सगठित किया था, जिसके अध्यक्ष आचार्य धर्मदेव को बनाया गया था। इनके प्रयत्न से ९८२ से १००१ ईस्वी तक २०१ ग्रन्थों का चीनी भाषा मे अनुवाद हुआ। १०३६ ईस्वी तक भारतीय विद्वानो के चीन जाने की प्रक्रिया जारी रही। पर इसके बाद भारतीयों का चीन जाना बन्द हो गया।

(५) चीन के बौद्ध विद्वानों की भारत यात्राएं

यद्यपि चीन मे बौद्ध धर्म के प्रचार का सूत्रपात काश्यप मातंग और धर्मरक्ष नामक दो भारतीय भिक्षुओ द्वारा किया गया था, पर शुरू में जो बहुत-से धर्मप्रचारक वहाँ गए, वे प्रधानतया मध्य एशिया के उन राज्यो से गए थे जो ईस्वी सन् के प्रारम्भ काल तक बौद्ध धर्म के महत्वपूर्ण केन्द्र बन चुके थे। सुग्ध, कुची, खोतन आदि के ये बौद्ध विद्वान् बौद्ध धर्म के जिन ग्रन्थो को अपने साथ ले गए थे, उनकी प्रामाणिकता मे सन्देह की गुञ्जाइश थी। अतः स्वाभाविक रूप से चीन के अनेक बौद्ध विद्वानों में यह इच्छा उत्पन्न हुई, कि वे भारत जा कर अपने धर्म के मूल एवं प्रामाणिक ग्रन्थों को प्राप्त करें, भारतीय विद्वानों से उन ग्रन्थो का अध्ययन करें और साथ ही उन तीर्थ-स्थानो, चैत्यो तथा स्तूपों के दर्शन भी करें जिनके साथ तथागत बुद्ध का सम्बन्ध था। इन उद्देश्यो को सम्मुख रखकर तीसरी सदी मे चीनी विद्वानों व भिक्षुओं ने भारत आना प्रारम्भ किया, और उनकी यात्राओं की यह प्रक्रिया ग्यारहवीं सदी के पूर्वार्ध तक जारी रही।

धर्म तथा ज्ञान की पिपासा को शान्त करने के प्रयोजन से भारत की यात्रा के लिए प्रस्थान करने वाले चीनी विद्वानो मे सर्वप्रथम चू शे-हिंग था। लौ-यांग के श्वेताश्व विहार में अपनी शिक्षा को समाप्त कर २६० ईस्वी में वह भारत के लिए चला, और मध्य एशिया के विभिन्न स्थानों की यात्रा करते हुए खोतन पहुँच गया। उन दिनों खोतन बौद्ध धर्म का केन्द्र था और वहाँ के विहारों में बहुत-से बौद्ध विद्वान्

निवास करते थे। काश्मीर के साथ खोतन का सीधा सम्बन्ध था, और काश्मीरी स्थविर तथा भिक्षु वहाँ बहुधा आते-जाते रहते थे। यू शे-हिंग खोतन मे ही रह गया, और वही से बहुत-से संस्कृत ग्रन्थ प्राप्त कर उन्हे उसने अपने शिष्यों के हाथ चीन भेज दिया। चू शे-हिंग तो भारत नही आ सका, पर तीसरी सदी में कतिपय अन्य चीनी यात्री अवश्य भारत आए थे। यि-त्सिग ने लिखा है, कि तीसरी सदी के मध्य मे २० चीनी भिक्षु यून्नान-बरमा मार्ग से भारत गए थे, और मगध के राजा ने उनका उत्साहपूर्वक स्वागत किया था। उस समय मगध के राजसिहासन पर श्रीगुप्त विराजमान था, जिसे गुप्तवश का प्रवर्तक माना जाता है। श्रीगुप्त ने इन चीनी भिक्षुओ के निवास के लिए एक संघाराम का निर्माण कराया था, जिसके खण्डहर सातवी सदी मे भी विद्यमान थे और उन्हे यि-त्सिग ने देखा भी था। सातवीं सदी के कतिपय अन्य चीनी यात्रियो ने भी इस चीनी सघाराम का उल्लेख किया है। पर जिन २० चीनी यात्रियो के निवास के लिए राजा श्रीगुप्त ने इस सघाराम का निर्माण कराया था, उनके नाम हमे ज्ञात नही हैं।

चौथी सदी के उत्तरार्ध मे चीन के लोगो मे भारत यात्रा के लिए विशेष उत्साह उत्पन्न हुआ, जिसका प्रधान श्रेय ताओ-न्गान नामक चीनी विद्वान् को दिया जाना चाहिए। ताओ-न्गान का जन्म चीन के एक ऐसे प्रतिष्ठित परिवार मे हुआ था, जो कन्फ्यूसियस का अनुयायी था। पर शुरू से ही उसका झुकाव बौद्ध धर्म की ओर था, और बाल्यावस्था मे ही बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण कर उसने लो-याग मे रहकर बौद्ध ग्रन्थो का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया था। शीघ्र ही उसके सदाचारमय जीवन तथा विद्वत्ता की ख्याति चीन मे दूर-दूर तक फैल गई। बौद्ध ग्रन्थों के जो अनुवाद उस समय चीनी भाषा मे उपलब्ध थे, उनके अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए ताओ-न्गान ने अनेक भाष्य लिखे। इन भाष्यो को लिखते हुए उसने अनुभव किया, कि बौद्ध ग्रन्थो के चीनी अनुवाद मे बहुत-सी अशुद्धियाँ रह गई हैं, जिन्हे दूर करने के लिए सस्कृत के मूल ग्रन्थो को प्राप्त करना बहुत आवश्यक है। इसी उद्देश्य से ताओ-न्गान ने मध्य एशिया से अनेक भारतीय विद्वानो को चीन निमन्त्रित किया। साथ ही, उसने भारत के सम्बन्ध मे एक ऐसी पुस्तक भी तैयार की, जिससे इस देश के विषय मे यथोचित जानकारी प्राप्त की जा सकती थी। ताओ-न्गान चाहता था, कि चीन के युवक भिक्षु इस पुस्तक को पढकर भारत-यात्रा के लिए उत्साहित हो, और वहाँ जाकर बौद्ध धर्म के सत्य सिद्धान्तो तथा मूल ग्रन्थो का प्रामाणिक रूप से परिचय प्राप्त किया करें। ताओ-न्गान ने चीन के विविध प्रदेशो मे बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए अनेक प्रचारक-मण्डलो का भी सगठन किया था। उसकी मृत्यु ३८५ ईस्वी मे हुई। उसने बौद्ध धर्म तथा भारत के विषय मे जो जिज्ञासा चीनी लोगो मे उत्पन्न कर दी थी, शीघ्र ही उसके परिणाम प्रगट होने लगे, और बहुत-से चीनी यात्रियों ने प्रामाणिक बौद्ध ग्रन्थो को प्राप्त करने, बौद्ध धर्म तथा दर्शन का उच्च अध्ययन करने और तीर्थदर्शन के लिए भारत आना प्रारम्भ कर दिया।

ताओ-न्गान से प्रेरणा प्राप्त कर जो चीनी यात्री भारत आये, उनमे सर्वप्रथम

स्थान फाइयान का है। ३९९ ईस्वी में उसने भारत के लिए प्रस्थान किया। हुई-किंग, ताओ-किंग, हुई-यिंग और हुई-वेई नाम के अन्य चीनी भिक्षु भी उनके साथ थे। मध्य-एशिया के स्थल मार्ग से भारत यात्रा के लिए जब फाइयान की यह मण्डली चीन की पश्चिमी सीमा पर तुङ्-ह्वांग पहुँची, तो वहाँ एक अन्य मण्डली मिली, जो भी भारत जा रही थी। इसमे चे-येन,हुई-किअन, सेंग-शाओ, पाओ-युन और सेंग-किंग सम्मिलित थे। तुङ्-ह्वांग मे यात्रियो की दोनो मण्डलियाँ साथ हो गई, और पश्चिमी चीन के राजपदाधिकारियों ने उनकी यात्रा की समुचित व्यवस्था कर दी। तुङ्-ह्वांग से ये चीनी यात्री कराशहर (अग्नि देश) गए, और वहाँ से तकला मकान की मरुभूमि को पार कर खोतन आ गए। मार्ग में उन्हें बहुत कष्ट उठाने पड़े, क्योंकि मरुभूमि की परिस्थितियाँ यात्रा के लिए सर्वथा प्रतिकूल थी। खोतन से वे कर्वलिक और ताश-कुर्घन हो काश्मीर गए, जो उस समय बौद्ध धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। तुङ्ह्वांग से जो भिक्षु फाइयान के साथ भारत की यात्रा के लिए चले थे, बाद मे वे सब एक साथ नही रहे। पर उन्होने भारत के बहुत-से तीर्थस्थानो की यात्रा की, और अनेक विहारो मे निवास कर बौद्ध धर्म का अध्ययन किया। फाइयान की यात्रा-क्षेत्र बहुत विस्तृत था। उड्डीयान, सुवास्तु, नगरहार, तक्षशिला, मथुरा, कान्यकुब्ज, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, वैशाली, पाटलिपुत्र, राजगृह, बोधगया, वाराणसी, चम्पा, ताम्रलिप्ति आदि कितने ही स्थानों पर वह गया, और बौद्ध चैत्यों तथा मूर्तियो आदि के दर्शन कर बहुत-से विद्वानो तथा स्थविरो का सत्सग भी उसने किया। ताम्रलिप्ति मे वह दो साल रहा, और वहाँ रह कर बहुत-से संस्कृत ग्रन्थो की प्रतिलिपियाँ तथा बौद्ध मूर्तियों की अनुकृतियाँ उसने तैयार की। इन सब को वह अपने साथ चीन ले गया। वापसी यात्रा उसने समुद्र मार्ग से की। ताम्रलिप्ति से वह जहाज द्वारा लंका गया, और वहाँ भी वह दो साल के लगभग रहा। वहाँ रहते हुए भी उसने कितने ही बौद्ध ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ चीन ले जाने के लिए तैयार की। लंका से जहाज द्वारा चीन जाते हुए समुद्र मे भयंकर तूफान आ गया, जिसके कारण जहाज पथभ्रष्ट हो गया। पर ९० दिन की समुद्रयात्रा के पश्चात् वह जावा पहुँच सकने में समर्थ हुआ। उस समय जावा के निवासी प्रधानतया पौराणिक हिन्दू धर्म के अनुयायी थे, बौद्ध धर्म का वहाँ विशेष प्रचार नहीं था। कुछ दिन जावा मे रहकर फाइयान ने जहाज द्वारा चीन के लिए प्रस्थान कर दिया। पर उनकी यह यात्रा भी निरापद नही रही। मार्ग मे फिर आँधी-तूफान आ गया। जहाज के बहुसंख्यक यात्री पौराणिक हिन्दू धर्म के अनुयायी थे। उन्होंने समझा, कि प्रकृति का यह भयंकर प्रकोप इस श्रमण के कारण है, जो उनके साथ यात्रा कर रहा है। उन्होंने चाहा कि फाइयान को मार्ग में किसी टापू पर उतार दें। पर एक सम्भ्रान्त यात्री के हस्तक्षेप के कारण वे ऐसा नही कर सके, और ४१४ ईस्वी में अपनी भारत यात्रा को समाप्त कर वह सकुशल चीन वापस पहुँच गया। सम्भवतः, फाइयान ही वह पहला चीनी यात्री था, जिसने कि मध्य एशिया के विकट मार्ग से भारत मे प्रवेश कर कपिलवस्तु से लंका तक की यात्रा की थी, और जो फिर दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध द्वीपों से होकर स्वदेश वापस गया था। मार्ग में उसे भयंकर कष्टो का सामना करना पड़ा

था। इन कष्टो को याद करते हुए उसने लिखा था—"जो कुछ मुझ पर बीता है, उसे स्मरण कर मेरा हृदय विचलित हो जाता है और मुझे पसीना आने लगता है। अपनी जरा भी चिन्ता न कर मैंने जो खतरों का सामना किया और अत्यधिक भयावह स्थानों पर जो मैं चला, उसका कारण यही था कि एक सुनिश्चित उद्देश्य मेरे सम्मुख था और मैं केवल यही ध्यान रखता था कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो कुछ भी सम्भव हो, मुझे अवश्य करना है।" इसमे सन्देह नहीं, कि फाइयान को अपने उद्देश्य की पूर्ति मे सफलता हुई। भारत मे रहकर उसने संस्कृत भाषा का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया और इसमे उसने इतनी योग्यता प्राप्त कर ली, कि महसांघिक सम्प्रदाय के विनय-पिटक सदृश अनेक ग्रन्थो का वह मूल संस्कृत से चीनी भाषा मे अनुवाद कर सका। अपनी सुदीर्घ यात्रा मे उसका ध्यान केवल बौद्ध धर्म के अध्ययन की ओर रहा। इसी-लिए उसने अपनी यात्रा का जो वृत्तान्त लिखा, उससे मध्य एशिया तथा भारत के विविध प्रदेशो मे उस समय बौद्ध धर्म की जो दशा थी, उसका अच्छा परिचय मिल जाता है।

फाइयान के साथ जो अनेक चीनी भिक्षु भारत आये थे, उनमे एक पाओ-युन भी था, जिसने कपियय अन्य भिक्षुओ की मण्डली के साथ ३९७ ईस्वी मे अपनी यात्रा प्रारम्भ की थी और जो तुङ्‌ ह्वाग मे फाइयान के साथ हो लिया था। भारत मे रह कर उसने भी सस्कृत भाषा की शिक्षा प्राप्त की थी, और चीन वापस जाते हुए बहुत-से सस्कृत ग्रन्थ भी वह अपने साथ ले गया था। उसने अपनी यात्रा का वृत्तान्त भी लिखा था, पर वह इस समय प्राप्य नही है।

४०४ ईस्वी मे १४ चीनी भिक्षुओ की एक अन्य मण्डली चांग-गान से भारत के लिए रवाना हुई थी। इसका नेता चे-मोग नामक एक भिक्षु था। लोबनोर से शेन शेन, कुची और खोतन होती हुई इस मण्डली ने पामीर की पर्वतमाला को पार कर काश्मीर मे प्रवेश किया था। मार्ग के कष्टो से घबराकर चे-मोंग के ६ साथी पामीर से ही वापस लौट गए थे, और वह केवल ४ भिक्षुओ के साथ काश्मीर पहुँच सकने में समर्थ हुआ था। कपिलवस्तु और पाटलिपुत्र आदि की यात्रा कर और वहाँ से बहुत-से बौद्ध ग्रन्थो का सग्रह कर चे-मोग तथा उसके साथी ४२४ ईस्वी मे मध्य एशिया के उसी मार्ग से चीन वापस लौट गये, जिससे कि वे भारत आये थे। ४३९ ईस्वी मे चे-मोंग ने भी अपनी यात्रा का वृत्तान्त लिखा था, जो दुर्भाग्यवश इस समय उपलब्ध नही है।

पाँचवी सदी के प्रथम चरण मे चीन के सम्राट् ने ताओ-पू नामक विद्वान् भिक्षु को अपनी ओर से इस प्रयोजन से भारत भेजा, ताकि वह इस देश से बौद्ध धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थो को प्राप्त कर सके। ग्रन्थो की प्रतिलिपि करने में ताओ-पू को कोई कठिनाई न हो, इसलिए दस सुलेखक भी उसके साथ भेज दिए गये। इस मण्डली ने समुद्र मार्ग से यात्रा आरम्भ की, पर समुद्र में तूफान आ जाने के कारण जहाज डूब गया और ताओ-पू तथा उसके साथी भारत नहीं पहुंच सके।

ताओ न्गान से प्रेरणा प्राप्त कर फाइयान और अन्य बहुत-से चीनी भिक्षु जो इस काल मे भारत की यात्रा कर चीन वापस जा रहे थे, उनके यात्रा-वृत्तान्तों को पढ़कर

चीन में नये उत्साह का संचार हुआ, और बहुत-से लोग यह सोचने लगे कि प्रामाणिक व वास्तविक बौद्ध ग्रन्थों को भारत से ही प्राप्त किया जा सकता है, और चीन में धर्म के शुद्ध रूप को कायम रखने के लिए यह आवश्यक है कि भारत से इन धर्मग्रन्थों को प्राप्त करने का पूरा-पूरा उद्योग किया जाए। इसीलिए सन् ५१८ में वेई वंश की एक साम्राज्ञी ने सरकार की ओर से एक मिशन भारत भेजा, जिसका अध्यक्ष सुंग-युन था। हुई-सेंग नाम का एक बौद्ध भिक्षु भी इस मिशन के साथ भेजा गया। मध्य एशिया के दक्षिणी स्थलमार्ग से शेन शेन (लोबनौर के समीप), चर्चन, खोतन और कर्घलिक होता हुआ यह मिशन गान्धार पहुँचा, और उत्तर-पश्चिमी भारत के काश्मीर आदि प्रदेशों की यात्रा कर स्थलमार्ग से ही ५२२ ईस्वी में चीन वापस चला गया। सुंग-युन ने भारत यात्रा का जो विवरण लिखा था, वह अब प्राप्य नहीं है, पर उसकी कुछ बातें अन्य चीनी ग्रन्थों में उद्धृत पायी जाती हैं।

सुई वंश के सम्राट् यांग (६०५-६१६) ने भी मध्य एशिया के मार्ग से एक मिशन भारत भेजा था, और बौद्ध धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थ प्राप्त करने का कार्य उसके सुपुर्द किया गया था। वेई-त्सी और तू हिंग-मान इस मिशन के मुख्य सदस्य थे। उत्तरी भारत में यह मिशन दूर-दूर तक गया था। इसके द्वारा जो यात्रा वृत्तान्त लिखा गया था, वह भी अब नष्ट हो चुका है।

६१८ ई० में चीन में तांग वंश के शासनकाल का प्रारम्भ हुआ। चीन के इतिहास मे यह पुनर्जागरण तथा समृद्धि का काल था। चीन की राजनीतिक एकता की स्थापना तथा देश मे शान्ति व व्यवस्था कायम रखने मे इस वंश के सम्राटों ने अच्छी सफलता प्राप्त की थी। बौद्ध धर्म मे भी उनकी बहुत रुचि थी। इसीलिए सातवी सदी मे जहाँ अनेक चीनी भिक्षु व्यक्तिगत रूप से भारत की यात्रा के लिए प्रवृत्त हुए, वहाँ साथ ही तांग सम्राटों ने भी अपनी ओर से अनेक मिशन भारत भेजे। इन सबका उद्देश्य यह था, कि नालन्दा सदृश विद्यापीठों में रह कर चीनी भिक्षु बौद्ध ग्रन्थो का गम्भीर रूप से अध्ययन करें, संस्कृत के मूल बौद्ध ग्रन्थो की प्रतिलिपियाँ करा के उन्हे चीन लाया जाए, बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों आदि की मूर्तियों तथा चित्रो की अनुकृतियाँ चीन ले जायी जाएँ और यह भी यत्न किया जाए कि तथागत बुद्ध की अस्थियो व अन्य अवशेषों को भी चीन ले जाने के लिए प्राप्त किया जा सके। वैदिक तथा पौराणिक साहित्य, दर्शन, गणित, ज्योतिष और आयुर्वेद के प्रति भी तांग सम्राटों की रुचि थी, और वे चाहते थे कि चीनी युवक भारत जा कर इन विषयो का भी अध्ययन करें। इसीलिए उन्होंने अपने देशवासियों को भारत यात्रा के लिए प्रोत्साहित किया, और उन्हें सब प्रकार से सहायता प्रदान की।

तांग वंश के शासनकाल में जो चीनी यात्री भारत आये, ह्यू एन्-त्सांग का उनमें सर्वोच्च स्थान है। उनका जन्म ६०० ईस्वी में एक कुलीन परिवार में हुआ था, और उनके पिता एक अत्यन्त प्रतिष्ठित व सुशिक्षित व्यक्ति थे। वे कन्फ्यूसियस के अनुयायी थे। इसीलिए ह्यू एन्-त्सांग की शिक्षा की व्यवस्था चीन की पुरानी शैली के अनुसार की गई थी। पर उनका झुकाव बौद्ध धर्म की ओर था, और २० वर्ष की आयु में ही

उन्होंने भिक्षुव्रत ग्रहण कर लिया था। भिक्षु बनकर ह्यु एन्-त्साग चीन में अनेक स्थानों पर गये, और वहाँ के सघारामो में निवास कर उन्होंने बौद्ध धर्म का उच्च अध्ययन किया। पर इससे उन्हे सन्तोष नही हुआ। वे चाहते थे, कि भारत जा कर बौद्ध धर्म के मूल संस्कृत ग्रन्थो का अध्ययन किया जाए और साथ ही बौद्ध तीर्थों का दर्शन भी। भारत-यात्रा की उत्कट अभिलाषा को लेकर ६२९ ईस्वी में उन्होंने चांग-गान से प्रस्थान किया, और तङ्ह्वाग् होकर वे काओ-शांग (तुर्फान) पहुँच गये। उन दिनो थियान शान पर्वतमाला के समीपवर्ती प्रदेश तुर्कों के शासन मे थे, और तुर्फान के राजा का तुर्क कगान (खान) के साथ मैत्री सम्बन्ध था। इस काल मे मध्य एशिया के उत्तरी प्रदेश तुर्कों के स्वत्त्व मे आ चुके थे। तुर्फान के राजा ने ह्यु एन्-त्साग को परामर्श दिया, कि वे थियान शान की उपत्यका से होकर यात्रा करें और मार्ग मे तुर्क कगान से भी भेंट करें। इसे स्वीकार कर ह्यु एन्-त्साग ने काराशहर (अग्निदेश), कुची और भरुक होते हुए थियानशान पर्वत माला को पार किया और वे तुर्क कगान की राजधानी मे पहुँच गये। तुर्क कगान को बौद्ध धर्म मे रुचि थी, क्योकि नालन्दा के प्रसिद्ध आचार्य प्रभाकर-मित्र चीन जाते हुए मार्ग मे तुर्क कगान की राजधानी मे भी ठहरे थे और वहाँ से गये उन्हे अभी अधिक समय नही हुआ था। प्रभाकरमित्र से भेंट करने के अनन्तर तुर्क कगान का झुकाव बौद्ध धर्म की ओर हो गया था। इसीलिए जब ह्यु एन्-त्साग उसकी राजधानी मे पहुँचे, तो उनके स्वागत-सत्कार मे कोई कसर नही रखी गई और आगे के प्रदेशो मे उनकी यात्रा के लिए सब समुचित व्यवस्था भी कर दी गई। अब ह्यु एन्-त्साग सुग्ध, बल्ख, बामियान और कपिश की यात्रा करते हुए भारत आ गए। वे सोलह साल भारत मे रहे, और इस काल मे उन्होने भारत के प्राय: सभी महत्त्वपूर्ण स्थानो की यात्रा की। नेपाल सदृश जिन प्रदेशो मे वे नही जा सके, उनके सम्बन्ध में भी जानकारी प्राप्त करने का उन्होने पूरा-पूरा प्रयत्न किया। भारत मे सबसे अधिक समय उन्होंने नालन्दा में व्यतीत किया, जहाँ वे पाँच वर्ष रहे। कन्नौज के राजा हर्षवर्धन तथा कामरूप (असम) के राजा भास्कर वर्मा के साथ उनका घनिष्ठ सम्पर्क रहा। नालन्दा मे निवास करते हुए उन्होंने आचार्य शीलभद्र से बौद्धों के अन्यतम सम्प्रदाय विज्ञानवाद का विशेष रूप से अध्ययन किया था, और इसके वे प्रकाण्ड पण्डित हो गये थे। ६४५ ईस्वी मे वे भारत से वापस लौटे, और मध्य एशिया के दक्षिणी स्थल-मार्ग से काशगर, खोतन, चर्चन और शेन शेन होते हुए चीन पहुँच गये।

चीन से भारत के लिए प्रस्थान करते समय ह्यु एन्-त्साग ने चीनी सम्राट् से अपनी यात्रा के लिए अनुमति नही ली थी, और गुप्त रूप से ही वे चीन से चल पड़े थे। अत खोतन पहुँच कर उन्होने सम्राट् की सेवा में एक पत्र लिखा, जिसमें उन्होने अपनी भारत यात्रा का संक्षिप्त विवरण देते हुए उन उपलब्धियो का भी उल्लेख किया जो उन्हे इस यात्रा द्वारा प्राप्त हुई थी। इस पत्र को प्राप्त कर सम्राट ने खोतन मे स्थित अपने राजकर्मचारियो को यह आदेश दिया, कि ह्यु एन्-त्सांग को सब प्रकार से सहायता दी जाए, जिससे कि वे निरापद रूप से चीन लौट सकें। चीन पहुँचने पर

उनका धूमधाम के साथ स्वागत किया गया, और सम्राट् ने भी उनका सम्मान किया। ह्यु एन्-त्सांग ने अपना शेष जीवन बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद करने और शिष्यो को इस कार्य के लिए प्रशिक्षित करने मे व्यतीत किया। ६६४ ईस्वी में उनकी मृत्यु हुई। उन्होंने अपनी यात्रा का जो विवरण लिखा, वह सि-यू-की नाम से अब भी उपलब्ध है। मध्य एशिया और भारत मे सातवीं सदी के पूर्वार्ध मे बौद्ध धर्म की जो दशा थी, उसकी जानकारी प्राप्त करने का इससे अधिक अच्छा व प्रामाणिक अन्य कोई साधन नही है। सियान में ह्यु एन्-त्साग की समाधि है, जिस पर इस आशय के वाक्य उत्कीर्ण हैं—"इस महापुरुष ने उन प्रदेशों मे मार्ग बनाए जहाँ पहले कोई मार्ग नहीं थे, ताकि भविष्य की सन्ततियों को वहाँ आने-जाने मे कोई असुविधा न हो।"

चीन वापस लौट जाने के बाद भी ह्यु एन्-त्सांग का भारत के विद्वानों व आचार्यों के साथ सम्पर्क कायम रहा था। भारत के विद्वानो ने उन्हे जो अनेक पत्र सस्कृत मे भेजे थे, उनमे से दो पत्रो के चीनी अनुवाद इस समय भी उपलब्ध हैं। इनमे से एक पत्र महाबोधि विहार के स्थविर प्रज्ञादेव का लिखा हुआ है। पत्र इस प्रकार है—"व्यापक ज्ञान वाले विद्वानों से घिरा हुआ स्थविर प्रज्ञादेव भगवान् बुद्ध के वज्रासन के समीप विद्यमान महाबोधि विहार से यह पत्र सूत्र, विनय तथा असख्य शास्त्रों मे अप्रतिहत गति रखने वाले महाचीन के मोक्षाचार्य (ह्यु एन्-त्सांग) के पास भेज रहा है। प्रज्ञादेव की कामना है, कि मोक्षाचार्य सदा नीरोग तथा पीडारहित रहे। मुझ भिक्षु प्रज्ञादेव द्वारा सूत्रों तथा शास्त्रो का एक तुलनात्मक अध्ययन तैयार किया गया है, जिसे मैंने भिक्षु फा-चोंग के सुपुर्द कर दिया है। वह उसे आपके पास ले जायेगा। यहाँ आचार्य (ह्यु एन्-त्साग) के बहुत-से परिचित हैं। उनमे स्थविर ज्ञानप्रभ भी मेरे साथ इस पत्र द्वारा आपका कुशल-मंगल जानना चाहते हैं। उपासक लोग सदा आपके प्रति प्रणाम निवेदन करते रहते हैं। हम आपको भूले नहीं हैं, यह प्रदर्शित करने के लिए हम आपके पास श्वेत वस्त्रों का एक जोडा भेज रहे हैं। मार्ग बहुत दूरी का है, अतः इस उपहार के लघु होने का खयाल न करें। हमारी इच्छा है, आप इसे स्वीकार कर लें। आपको जिन सूत्रो तथा शास्त्रों की आवश्यकता हो, कृपया उनकी एक सूची भेज दें। हम उनकी प्रतिलिपि कराके आपको भेज देंगे।" इस पत्र का जो उत्तर ह्यु एन्-त्सांग ने प्रज्ञादेव को भेजा था, वह भी उपलब्ध है। इन पत्रों से ज्ञात होता है, कि ह्यु एन्-त्साग का भारतीय नाम मोक्षाचार्य था। एक पत्र मे उन्हें महायान भी कहा गया है।

जब ह्यु एन-त्सांग सम्राट् हर्षवर्धन की राजसभा में थे, हर्ष ने अपना एक दूत-मण्डल चीन के सम्राट् की सेवा में भेजा था। उसके बदले में चीनी सम्राट् द्वारा एक दूतमण्डल हर्ष की सेवा मे भेजा गया था (६३४ ई०), जिसका अध्यक्ष ली यी-पाओ था। वांग ह्यु एन्-त्से नामक एक पदाधिकारी भी इस दूतमण्डल के साथ भेजा गया था। कन्नौज में राजकीय कार्य को सम्पादित करने के पश्चात् इस दूतमण्डल ने राजगृह, गृद्धकूट, महाबोधि आदि तीर्थस्थानों की यात्रा की, और ६४७ ई० में यह चीन वापस लौट गया।

६४७ में ही वांग ह्यु एन्-त्से को पुनः भारत भेजा गया। पर जब वह भारत

पहुँचा, तो हर्ष की मृत्यु हो चुकी थी, और उसके अमात्य अर्जुन या अरुणाश्व ने कन्नौज की राजगद्दी पर अधिकार कर लिया था। चाहिए तो यह था, कि अर्जुन इस दूतमण्डल का यथोचित स्वागत करता, पर उसने इसकी सम्पत्ति को लूट लिया, और दूतमण्डल के कतिपय सदस्यों का घात भी कर दिया। वाग ह्यु एन्-त्से ने नेपाल भाग कर अपने प्राण बचाए। नेपाल से वह तिब्बत चला गया। तिब्बत के राजा का विवाह चीन की एक राजकुमारी के साथ हुआ था, अतः उसने चीनी राजदूत की सहायता करना स्वीकार कर लिया, और तिब्बती सेना की सहायता से वाग ह्यु एन्-त्से ने अर्जुन के राज्य पर आक्रमण कर दिया। युद्ध में अर्जुन परास्त हो गया, और उसे बन्दी बना कर चीन ले जाया गया।

६५७ मे वाँग-ह्यु एन्-त्से को फिर एक बार भारत भेजा गया। चीनी अनुश्रुति के अनुसार एक भारतीय राजा ने चीन के सम्राट् के पास एक तान्त्रिक को भेजा था, जिसका यह दावा था कि वह तन्त्र-मन्त्र के प्रयोग से मनुष्य को सुदीर्घजीवी बना सकता है। पर सम्राट् उससे प्रभावित नही हुआ, और उसने निश्चय किया कि तान्त्रिक को सकुशल भारत वापस भिजवा दिया जाए। सम्राट् द्वारा वांग ह्यु एन्-त्से के हाथ बहुत-सी पूजा सामग्री भी बौद्ध चैत्यो, स्तूपो आदि को अर्घ्य के रूप मे भेजी गई थी, जिसे उसने विविध तीर्थस्थलों पर जाकर अर्पित किया।

६६४ ई० वाग ह्यु एन्-त्से एक बार फिर भारत आया। इस बार भी उसे चीन के सम्राट् द्वारा भारत भेजा गया था, ताकि हिउआन्-चाओ नामक चीनी यात्री को सकुशल स्वदेश वापस लौटने में वह सहायता करे। वे दोनो नेपाल-तिब्बत के मार्ग से चीन लौटे। वाग ह्यु एन्-त्से ने अपनी चारो यात्राओ के वृत्तान्त भी लिखे थे, जो इस समय अप्राप्य हैं, यद्यपि उनके उद्धरण अन्य ग्रन्थों मे विद्यमान हैं।

चीन के प्राचीन बौद्ध साहित्य मे ६० ऐसे चीनी भिक्षुओं की जीवनियाँ दी गई हैं, जिन्होने कि सातवी सदी के उत्तरार्ध में भारत की यात्रा की थी। इनमें कुछ ऐसे भिक्षु भी थे जो वस्तुत. मध्य एशिया तथा कोरिया के निवासी थे, पर चिरकाल से चीन मे रह रहे थे। सातवी सदी के उत्तरार्ध में भारत की यात्रा करने वाले चीनी भिक्षुओ मे हिउआन्-चाओ तथा यि-त्सिग सब से प्रसिद्ध हैं। हिउआन्-चाओ की शिक्षा ता-हिंग-शेग के विहार मे हुई थी। भारत से लौटकर ह्यु एन्-त्साग इसी विहार मे निवास करने लगे थे, और यहाँ रहकर उन्होंने चीनी भिक्षुओं को प्रशिक्षित करने का कार्य प्रारम्भ किया था। हिउआन्-चाओ भी ह्यु एन्-त्साग का शिष्य था, और भारत के विषय मे अपने गुरु से जानकारी प्राप्त कर उसके हृदय मे भारत यात्रा की उत्कट अभिलाषा प्रादुर्भूत हो गई थी। ६५० ई० में उसने मध्य एशिया के स्थल मार्ग द्वारा भारत के लिए प्रस्थान किया, और सुग्ध तथा बल्ख होता हुआ वह तिब्बत चला गया। वहाँ से नेपाल होकर वह भारत आया, और इस देश मे दूर-दूर तक यात्रा के लिए गया। बौद्ध तीर्थों के दर्शन कर वह नालन्दा में बस गया, और वहाँ के प्रकाण्ड पण्डितो से बौद्ध-दर्शन का अध्ययन करने मे प्रवृत्त हुआ। जब हिउआन-चाओ नालन्दा रह रहा था, वाँग ह्यु एन्-त्से से उसकी भेंट हुई, जो उसकी विद्वत्ता से बहुत प्रभावित हुआ।

चीन वापस आने पर वांग-ह्यु एन्-त्से ने हिउआन-चाओ के अगाध पाण्डित्य और दार्शनिक ज्ञान का सम्राट् से जिकर किया, जिसे सुनकर सम्राट् ने हिउआन-चाओ को स्वदेश वापस बुला लेने का निश्चय किया। इसी प्रयोजन से उसने वांग-ह्यु एन्-त्से को चौथी बार भारत भेजा, और वह इस प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् को ६६४ ई० में अपने साथ चीन ले गया। पर वह वहाँ देर तक नहीं रह सका। उन दिनों एक हिन्दू ब्राह्मण चीन के राजदरबार में रह रहा था, जो कश्मीर से वहाँ गया था, और अब अपने देश को वापस लौट जाने के लिए इच्छुक था। चीन के सम्राट् ने हिउआन्-चाओ को उस ब्राह्मण को सुरक्षित रूप से भारत पहुँचाने का काम सौंप दिया, जिसके कारण वह पुनः भारत आया। ब्राह्मण को काश्मीर पहुँचा कर हिउआन्--चाओ कपिशा और सिन्ध होकर लाट देश (काठियावाड) गया, और वहाँ चार साल रहा। लाट देश से उसने दक्षिण भारत की यात्रा की, और इस यात्रा का उपयोग नानाविध ओषधियों के संग्रह के लिए किया। उसकी योजना थी, कि भारत के चिकित्सकों द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली औषधियों को चीन ले जाकर सम्राट् को भेंट रूप मे प्रदान किया जाय ताकि चीन में भी उनको प्रयोग मे लाया जा सके। दक्षिणी भारत से सीधे चीन न जाकर वह एक बार फिर नालन्दा गया, ताकि वहाँ अपने गुरुओं तथा सहपाठियो से भेंट कर सके। पर इसी बीच मे तिब्बत और चीन मे युद्ध प्रारम्भ हो गया था, जिसके कारण नेपाल और तिब्बत के स्थल मार्ग से चीन जा सकना सम्भव नहीं रहा था। उधर मध्य-एशिया का मार्ग भी सुरक्षित नही रह गया था, क्योंकि अरब लोगो ने वहाँ आक्रमण प्रारम्भ कर दिए थे। इस दशा मे हिउआन्-चाओ चीन वापस नही आ सका, और उसने अपना शेष जीवन भारत मे ही व्यतीत किया।

सातवीं सदी के उत्तरार्ध में भारत आने वाला दूसरा प्रसिद्ध चीनी यात्री यि-त्सिग था। बाल्यावस्था मे ही उसने भिक्षुव्रत ग्रहण कर लिया था, और भारत यात्रा के लिए उसकी उत्कट अभिलाषा थी। अन्य अनेक भिक्षुओं को अपने साथ चलने के लिए तैयार कर ३७ वर्ष की आयु में उसने चीन से प्रस्थान किया (६७१ ई०), और समुद्र के मार्ग से वह श्रीविजय (सुमात्रा) पहुँच गया। जो अन्य भिक्षु उसके साथ यात्रा के लिए तैयार हुए थे, उन्होंने मार्ग में ही यि-त्सिग का साथ छोड दिया और वह अकेला ही श्रीविजय पहुँचा। उस समय श्रीविजय बौद्ध धर्म का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, अत: यि-त्सिग कई वर्ष वहाँ रहा। बौद्ध धर्म का जो स्वरूप श्रीविजय में था, यि-त्सिग ने उसका गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया और उस पर एक ग्रन्थ भी लिखा। जहाज द्वारा वह श्रीविजय से ताम्रलिप्ति आया, और वहाँ से राजगृह, वैशाली, कुशीनगर-सारनाथ, नालन्दा आदि की यात्रा की। नालन्दा में उसने दस साल निवास किया। बौद्ध धर्म के इस विश्वविख्यात विद्यापीठ में निवास करते हुए उसने वहाँ बौद्ध धर्म तथा दर्शन का अनुशीलन किया, वहाँ साथ ही बहुत-से संस्कृत ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ भी उसने तैयार करायीं। ६९५ में वह समुद्र मार्ग से ही चीन वापस गया, और ४०० के लगभग ग्रन्थ अपने साथ ले गया। चीन में रहकर उसने जहाँ अनेक ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया, वहाँ साथ ही संस्कृत-चीनी शब्द-कोष भी लिखा।

६४३ से ७५८ ई० तक चीन का अफगानिस्तान और भारत के अनेक राज्यों (कपिशा, उद्यान, गान्धार, कन्नौज, मगध, काश्मीर, लंका आदि) के साथ राजनीतिक सम्बन्ध विद्यमान था। इस कारण इन राज्यो के राजदूत चीन के राजदरबार में जाया करते थे, और चीन का सम्राट् भी इन राज्यों मे अपने दूत भेजा करता था। आठवीं सदी के मध्य भाग मे कपिशा की ओर से जो राजदूत चीन मे नियुक्त था, उसे सुरक्षित रूप से अपने देश को वापस पहुँचाने के लिए वू-कोग नामक राजकीय पदाधिकारी को भेजा गया, जो ७५१ ई० मे कपिशा के राजदूत के साथ चीन से चला। वे स्थल मार्ग से कपिशा पहुँचे, और वू-कोंग ने वहाँ आकर बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। कपिशा से वह काश्मीर गया, और अनेक वर्ष वहाँ रह कर उसने बौद्ध-ग्रन्थो का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया। बौद्ध धर्म का समुचित ज्ञान प्राप्त कर उसने तीर्थ-स्थानो की यात्रा की, और फिर मध्य एशिया के स्थल मार्ग से ही वह चीन वापस लौट गया (७९० ई०)। वू-कोग ने भी अपनी यात्रा का वृत्तान्त लिखा, जो संक्षिप्त रूप से इस समय उपलब्ध है।

आठवी सदी के बाद ग्यारहवी सदी तक चीनी यात्री निरन्तर भारत आते रहे। चीन के प्राचीन साहित्य मे इनकी यात्राओ की अनेक सूचनाएँ विद्यमान हैं। पर ये यात्री प्राय बौद्ध धर्म के पवित्र स्थानो का दर्शन करने और बोधगया, सारनाथ व कपिलवस्तु सदृश तीर्थों मे चैत्यो तथा स्तूपो की पूजा करने और उन्हे अर्घ्य अर्पित करने के लिए ही भारत आया करते थे। इस काल मे चीन मे अनेक ऐसे संघाराम स्थापित हो चुके थे, जो बौद्ध-धर्म के अध्ययन के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। इस कारण चीनी भिक्षुओ को यह आवश्यकता अनुभव नही होती थी, कि वे बौद्ध ग्रन्थो की खोज या शिक्षा के लिए भारत आयें। सन् ९६४ में ३०० चीनी भिक्षु भारत आए थे। वे बारह वर्ष तक भारत मे यात्रा पर रहे। उनमे एक भिक्षु की-ये नाम का था, जिसका लिखा हुआ यात्रावृत्तान्त इस समय प्राप्य है। ९६६ ई० मे चीन के सम्राट् की प्रेरणा पर १५७ चीनी भिक्षु भारत यात्रा के लिए चले थे, और इस देश मे आकर उन्होंने विविध तीर्थों का दर्शन कर सम्राट् की ओर से वहाँ अर्घ्य अर्पण किए थे। १०३१ ई० मे हुआई-वेन नाम का चीनी यात्री भारत आया था, और आठ वर्ष की यात्रा के अनन्तर १०३९ मे वह स्वदेश वापस लौट गया था। सम्भवतः, हुआई-वेन अन्तिम चीनी यात्री था, जिसने भारत आकर बौद्ध तीर्थों की यात्रा की थी। बारहवी सदी के अन्तिम चरण मे तुर्क-अफगानो ने उत्तरी भारत के बडे भाग को आक्रान्त कर लिया था, और वहाँ के अनेक राजपूत राज्य उनकी अधीनता मे आ गए थे। नालन्दा सदृश जो विद्या के केन्द्र उस समय उत्तरी भारत मे विद्यमान थे, तुर्क अफगानो ने उन्हें बुरी तरह से नष्ट किया। इस दशा मे धर्म तथा ज्ञान की पिपासा को शान्त करने के लिए चीनी भिक्षुओ का भारत आ सकना सम्भव ही कैसे था? कितने ही बौद्ध तीर्थ, संघाराम, चैत्य तथा स्तूप भी इस काल में नष्ट कर दिए गए, और भारत की राज-नीतिक दशा भी ऐसी नहीं रह गई जिसमे विदेशी भिक्षु यहाँ निरापद रूप से आ-जा सकें। परिणाम यह हुआ, कि चीनी यात्रियो की भारत आने की जो प्रक्रिया तीसरी सदी

में प्रारम्भ हुई थी, उनका अब अन्त हो गया। यह सर्वथा सम्भव है, कि हुआई-वेन के बाद भी ग्यारहवीं और बारहवीं सदियों में कतिपय चीनी यात्री भारत आए हों, पर वे अभी अज्ञात हैं।

बोधगया में चीनी यात्रियों द्वारा उत्कीर्ण कराए हुए पाँच शिलालेख इस समय भी विद्यमान हैं, जो उनकी भारत-यात्रा के ठोस प्रमाण हैं। इनमें पहला लेख चे-यी का है, जो ६४७ और ६५१ ई० के बीच में भारत आया था। दूसरा लेख १०२२ ई० में युन-शू द्वारा उत्कीर्ण कराया गया था। तीसरे और चौथे लेख यि-सिंग तथा शाओ पिन नामक भिक्षुओं द्वारा १०२२ में उत्कीर्ण कराए गए थे। इन लेखों में इन्हें लिखवाने वाले यात्रियों ने अपना परिचय देते हुए अपने अध्ययन तथा कर्त्तृत्व का उल्लेख किया है, और भगवान् बुद्ध के प्रति अपनी श्रद्धा प्रगट की है। पाँचवाँ लेख अधिक महत्त्व का है। उसे हुआई-वेन ने लिखवाया है, जो १०३३ ई० मे भारत आया था। इसे सोंग वंश (६६०-१२७६) के चीनी सम्राट् ताई-त्सोंग ने भारत भेजा था, और मगध जाकर सम्राट् की ओर से वहाँ एक स्तूप को निर्मित कराने का कार्य इसके सुपुर्द किया गया था। इसीलिए इस लेख में यह लिखा गया है, कि भिक्षु हुआई-वेन को साम्राट् तथा साम्राज्ञी ने मगध जाकर वज्रासन के पार्श्व में एक स्तूप बनाने का कार्य सौंपा था।

(६) तुङ्-ह्वांग् तथा अन्यत्र भारतीय संस्कृति के अवशेष

मध्य एशिया मे पुरातत्व-सम्बन्धी खोज का विवरण देते हुए पिछले अध्याय में तुङ्-ह्वांग के सहस्र-बुद्ध-गुहा-विहार का उल्लेख किया जा चुका है। जर्मनी, फ्रांस, ब्रिटेन आदि के जिन विद्वानों ने मध्य एशिया के प्राचीन अवशेषों का अनुसंधान तथा अवगाहन किया था, उन्होंने ही तुङ्-ह्वांग के गुहा-विहारों तथा ऐतिहासिक निधियों का भी पता लगाया था। तुङ्-ह्वांग की स्थिति तकला मकान मरुभूमि के पूर्व मे है, और कुची, खोतन आदि से चीन जाने वाले यात्री तथा व्यापारी इस नगर से होकर ही आया-जाया करते थे। चीन का एक पश्चिमी प्रान्त कान्सू है, जिसकी पश्चिमी सीमा के समीप तुङ्-ह्वांग नगर की स्थिति है। चीन की विशाल दीवार का पश्चिमी सिरा इस नगर के उत्तर में है। इसे मध्य एशिया के अन्तर्गत न मानकर चीन में ही स्थित समझना चाहिए। तकला मकान की मरुभूमि इसके पश्चिम से ही शुरू हो जाती है, अतः इस मरुभूमि के उत्तर और दक्षिण मे भारत की ओर से चीन जाने के लिए जो मार्ग थे, उन से यात्रा करने वाले व्यापारी तथा धर्मप्रचारक तकला मकान की सुविस्तृत रेतीली भूमि को पारकर तुङ्-ह्वांग में विश्राम किया करते थे, जिसके कारण यह चीन के रेशम-पथ का मुख्य नगर बन गया था। चीन के सम्राटों ने अपने राज्य की पश्चिमी सीमा की रक्षा करने के लिए इसके समीप अनेक सैनिक छावनियों की भी स्थापना की थी।

तुङ्-ह्वांग नगर के दक्षिण-पश्चिम में नौ मील की दूरी पर नंगी पहाड़ियों की शृंखलाएँ विद्यमान हैं, जिनके साथ-साथ एक नदी भी बहती है। इन पहाड़ियों को

खोद कर बहुत-सी गुफाएँ प्राचीनकाल में बनाई गई थी, जो दूर से देखने पर मधु-मक्षिकाओं के छत्ते-सी मालूम देती हैं। इन गुहाओं या गुहाविहारों का निर्माण चौथी सदी के मध्य भाग में शुरू हो गया था। पर पाँचवीं सदी में चीन के वेई वंश के राजाओं ने बौद्ध धर्म तथा कला का विकास करने में विशेष उत्साह प्रदर्शित किया, और उनके द्वारा तुङ्ह्वांग् मे भी बहुत-से गुहाविहार तैयार कराए गए। ताग वंश के शक्तिशाली सम्राटो के शासन काल मे भी अनेक नये गुहा-विहार बनवाए गए, और यह प्रक्रिया दशवी सदी तक जारी रही। चीनी भाषा मे लिखे हुए कितने ही अभिलेख तुङ्ह्वांग् मे मिले हैं, जिनसे इन गुहाविहारो के निर्माण के इतिहास पर अच्छा प्रकाश पडता है। इनमे सबसे पुराना अभिलेख ६९८ ईस्वी का है, जिससे यह ज्ञात होता है कि लो-चुन नाम का भिक्षु कितने ही जगलों तथा मैदानो को पारकर ३६६ ईस्वी मे इस स्थान पर आया था। यहाँ पहाडी पर उसे एक प्रकाश दृष्टिगोचर हुआ जिसमे हजारों बुद्ध दिखायी दे रहे थे। लो-चुन ने यहाँ एक गुहा-विहार का निर्माण कराया। बाद में फा-लियान नाम का एक अन्य बौद्ध आचार्य पूर्व की ओर से इस स्थान पर आया, और इसने लो-चुन की गुहा के समीप एक अन्य गुहा-विहार का निर्माण कराया। इस प्रकार गुहा-विहारो की उस शृंखला का निर्माण प्रारम्भ हो गया, जो सहस्र-बुद्ध-गुहा-विहार के नाम से प्रसिद्ध हैं। लो-चुन और फा-लियान के अनुकरण में तुङ्ह्वाग् के स्थानीय शासको, प्रान्तीय शासको और उस नगरी के समृद्ध नागरिको ने भी बहुत-सी गुहाओ का निर्माण कराया और यह सिलसिला छ. सदियो तक चलता रहा। ७७५ ईस्वी से चौदहवी सदी के मध्य तक के अन्य भी अनेक अभिलेख मिले हैं जिनमे इस सहस्र-बुद्ध-गुहा-विहार के निमित्त किए गए दान, गुहा-विहार की मरम्मत व पुनर्निर्माण आदि का उल्लेख है। ये पुण्य कार्य जिन व्यक्तियो द्वारा किए गए, उनके नाम भी इन अभिलेखो मे दिए गए हैं। इनमे मगोलो का एक राजकुमार भी है।

तुङ्ह्वांग् के दक्षिण-पश्चिम मे पहाडी को काट-काट कर या खोद-खोद कर जिन गुहा-विहारो का निर्माण किया गया है, उनके दो समुदाय हैं। इनमें दक्षिण वाला गुहा-समुदाय मुख्य है। ये गुहा-विहार पहाडी की ढलान पर एक हजार गज के लगभग तक फैले हुए हैं। पहाडी की लम्बाई पर लगातार गुहाएँ खुदी हुई है, जिनमे से कुछ ऊँचाई पर हैं और कुछ निचली ओर हैं। ये गुहाएँ एक के बाद एक करके खोदी गई हैं, जिससे ये एक के ऊपर एक लटकी-सी दिखाई देती हैं। गुहा-विहारों के ऊपरी खण्ड पर पहुंचने के लिए लकडी की सीढ़ियाँ बनाई गई थी, जो अब टूट चुकी हैं। गुहा-विहार छोटे-बडे सब आकारो के हैं। एक गुहा-विहार की भीतरी गुहा मे ४५ फीट लम्बी चौकोर शाला है, जिसे ठोस चट्टान को काटकर बनाया गया है। इस शाला के बीच मे बुद्ध की एक विशाल मूर्ति है, जिसके दोनो पार्श्वों मे विविध देवताओ तथा बोधिसत्वों की मूर्तियाँ हैं। मूर्तियों के पीछे की ओर कुछ जगह प्रदक्षिणा के लिए छोड दी गई है। शाला की दीवारो पर बहुत-से भित्तिचित्र बने हुए है। चित्र बहुत सुन्दर हैं, और सुरक्षित दशा मे हैं। प्राय. सभी गुहा-विहार इसी ढंग के हैं। उनमें बुद्ध, बोधिसत्त्वों तथा देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित हैं, और उनकी दीवारो पर सुन्दर

भित्तिचित्र बने हैं। तुङ्ह्वांग् की जलवायु अत्यन्त शुष्क है। अतः नमी (आर्द्रता) का इन गुहाविहारों के भित्तिचित्रों पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा। ये गुहा-विहार तथा उनके भित्तिचित्र प्रायः उसी काल के हैं, जबकि अजन्ता के गुहामन्दिरों का निर्माण हुआ था। पर तुङ्ह्वाग् की ये कलाकृतियां अधिक सुरक्षित दशा में हैं। इसीलिए इनके द्वारा यह भलीभाँति अध्ययन किया जा सकता है, कि चीन के इस पश्चिमी प्रदेश में कला का विकास किस प्रकार हुआ था।

तुङ्-ह्वांग की कला-कृतियो (मूर्तियों तथा भित्तिचित्रो) को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—(१) जिसका सम्बन्ध बुद्ध, बोधिसत्वों, अर्हतो और देवताओं के साथ है, और (२) जिनमें सांसारिक जीवन का चित्रण किया गया है। यहाँ की सबसे पुरानी कलाकृतियो पर ग्रीस से प्रभावित गान्धार कला का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। पर बाद मे जब भारत और चीन का सम्बन्ध बहुत बढ गया और चीनी यात्री बडी संख्या मे भारत आने लगे, तो उनका गुप्त युग की भारतीय कला से भी परिचय हुआ। सातवी सदी से दसवी सदी तक जो बहुत-से चीनी यात्री भारत आये, वे केवल बौद्ध ग्रन्थो को ही अपने साथ चीन नही ले गए, अपितु बहुत-सी मूर्तियाँ तथा चित्रों की अनुकृतियाँ भी वे अपने साथ ले गए। यह स्वाभाविक था कि भारत की इन कलाकृतियों की शैली का चीन की बौद्ध कला पर प्रभाव पडे। तुङ्-ह्वाग् के गुहा-विहारो की मूर्तियो तथा भित्तिचित्रो पर यह प्रभाव स्पष्ट रूप से विद्यमान है। वहाँ बुद्ध, बोधिसत्त्वो तथा देवताओ की जो मूर्तियाँ व भित्तिचित्र हैं, वे प्रायः भारतीय शैली मे ही हैं। पर जिन चित्रो मे सांसारिक जीवन चित्रित किया गया है, वे चीनी शैली के हैं। तुङ्-ह्वाग् की कलाकृतियों मे केवल चीनी और भारतीय शैलियाँ ही नही हैं, उन पर अन्य देशो का प्रभाव भी विद्यमान है। इस स्थान की भौगोलिक स्थिति ऐसी थी, कि वहाँ पश्चिम की ओर से चीन जाने वाले विविध मार्ग परस्पर मिल जाते थे। अतः स्वाभाविक रूप से ईरान, बल्ख, सुग्ध, खोतन, कुची, मगोलिया आदि के विविध व्यापारी व यात्री वहाँ आते-जाते थे, और उन्हे वहां परस्पर मिलने तथा एक-दूसरे को प्रभावित करने का अवसर मिला करता था। इसी कारण तुङ्-ह्वाग् की कला-कृतियो पर ईरान आदि का प्रभाव भी दिखाई देता है।

तुङ्-ह्वाग् के गुहाविहारों मे विद्यमान मूर्तियों का सम्बन्ध प्राय. बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय के साथ है। यहाँ की बहुसंख्यक मूर्तियाँ आकार मे सामान्य पुरुषो के बराबर हैं, पर दो मूर्तियाँ अत्यन्त विशाल भी है। एक की ऊंचाई तो ६० फीट है। बहुत-सी मूर्तियाँ पहले सुवर्ण के रंग में रँगी हुई थी, पर यह रंग अब बहुत कम स्थानों पर ही शेष बचा है। समय के साथ-साथ बहुत-सी मूर्तियाँ खराब भी हो गई हैं, और कुछ तो मनुष्यो की पशुता की भी शिकार हुई हैं। गुहाविहारों की दीवारो पर जो भित्तिचित्र बनाए गए थे, वे अभी पर्याप्त रूप से सुरक्षित दशा मे हैं, और उनके रंग भी अधिक खराब नहीं हुए हैं। इन भित्तिचित्रो में जहाँ बुद्ध, बोधिसत्त्व, अर्हत तथा देवता बनाए गए हैं, वहाँ साथ ही सज्जा के लिए बीच-बीच में पत्र पुष्प भी चित्रित किए गए हैं, जो अत्यन्त सुन्दर तथा कलात्मक हैं। अनेक जातक कथाओं को भी

भित्तिचित्रो द्वारा चित्रित किया गया है।

तुङ्-ह्वाग् के गुहाविहारो से केवल भित्तिचित्र तथा मूर्तिया ही उपलब्ध नहीं हुईं, अपितु वहाँ पुस्तकों और चित्रो का एक बहुत बडा भण्डार भी प्राप्त हुआ है। सर स्टाइन तथा प्रो. पेलिओ ने वहाँ से पुस्तको तथा चित्रो का जो भण्डार प्राप्त किया था, उसके विषय मे इस ग्रन्थ के पाँचवे अध्याय मे लिखा जा चुका है। उसे यहाँ दोहराना उपयोगी नही होगा। तुङ्-ह्वाग् से प्राप्त ये ग्रन्थ सस्कृत, प्राकृत, तुखारी, उइगूर, तिब्बती और चीनी आदि अनेक भाषाओं मे हैं, और इनका सम्बन्ध प्राय. बौद्ध धर्म से है। फ्रांस, जर्मनी, जापान और ब्रिटेन के विद्वानो ने इनका अध्ययन करने मे परस्पर सहयोग से काम लिया है, और इनमे से अनेक ग्रन्थ या उनके परिचय प्रकाशित भी हो चुके हैं। पर अभी यह कार्य अपूर्ण है, और तुङ्-ह्वाग् से प्राचीन पुस्तको की जो अमूल्य निधि प्राप्त हुई थी, उसको पूरी तरह से प्रकाश मे नही लाया जा सका है। इन ग्रन्थो के साथ जो बहुत-से चित्र मिले हैं, वे प्राय. रेशम के पटो पर है, और कला की दृष्टि से वे अत्यन्त उत्कृष्ट तथा महत्त्वपूर्ण हैं।

तुङ्-ह्वाग के अतिरिक्त चीन मे बौद्ध कला के दो अन्य भी मुख्य केन्द्र थे, युन काग और लुंग-मेन। चीन के शान्-सी प्रान्त की पुरानी राजधानी ता-तुग थी। वेई वश के राजाओ ने पहले इसी को अपनी राजधानी बनाया था। युन-कांग के गुहा-विहार ता-तुग से छह मील पश्चिम मे है। इनके निर्माण का प्रधान श्रेय तान-याओ नाम के एक बौद्ध भिक्षु को है, जो मध्य एशिया का निवासी था और पाँचवी सदी के मध्य भाग मे चीन गया था। ता-तुग के सघाराम मे रहकर उसने बहुत-से बौद्ध ग्रन्थो का चीनी भाषा मे अनुवाद किया था, और इस कार्य में अन्य भी अनेक विद्वान् उसके सहयोगी थे। ता-तुग मे निवास करते हुए तान-याओ का ध्यान उन पर्वत-शृंखलाओ की ओर गया, जो राजधानी से छह मील दूर पश्चिम की ओर विद्यमान थीं। उसने राजा के सम्मुख यह विचार प्रस्तुत किया, कि इन पहाडियो को काट-काट कर गुहा-विहारो का निमार्ण कराया जाए। राजा ने तान-याओ के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया, और गुहाविहारो के निर्माण का कार्य उसी के सुपुर्द कर दिया। तान-याओ या तो स्वय वास्तुकलाविज्ञ था, या उसे ऐसे व्यक्तियो का सहयोग प्राप्त था जो कि विशाल चट्टानो को काट-खोद कर गुहाविहार बनाने मे प्रवीण थे। तान-याओ द्वारा यहाँ गुहाविहारो के निर्माण का जो सिलसिला प्रारम्भ हुआ, वह सम्राट् सु-त्सोग (५१६-५२८ ईस्वी) के समय तक जारी रहा। इस बीच मे जो गुहाविहार वहाँ बने, उनमे सबसे पुराने ५ गुहा-विहार तान-याओ द्वारा बनवाये हुए हैं। इनमें अन्य मूर्तियों के साथ बुद्ध की पाँच विशाल मूर्तियाँ है, जिनमे सबसे विशाल ७० फीट ऊँची है। इस बुद्ध मूर्ति को खडी हुई दशा मे बनाया गया है। कुछ मूर्तिया बैठी हुई (समाधि दशा मे) बनायी गई है। तान-याओ के बाद अन्य बहुत-से गुहा-विहार युन-कांग में बनाए गए, जिनमे से एक ७२ फीट ४ इंच लम्बा और ५८ फीट ४ इंच चौड़ा है। एक अन्य गुहा-विहार ४६ फीट ८ इंच लम्बा और ४० फीट १ इच चौडा है। इनकी दीवारो पर बुद्ध, बोधिसत्त्वो तथा विविध देवी-देवताओं के चित्र अंकित हैं, और बुद्ध

की सम्पूर्ण जीवनी को चित्रों द्वारा चित्रित किया गया है। बौद्ध देवी-देवताओं के अतिरिक्त इन गुहाविहारों की भित्तियों पर नन्दी पर आरूढ शिव, गरुड़ पर विराजमान विष्णु सदृश पौराणिक देवी-देवताओं के भी चित्र हैं। एक चित्र किसी ऐसे देवता का है, जिसके अनेक सिर तथा बहुत-सी भुजाएं हैं। युन-कांग में जो बहुत-सी मूर्तियाँ विद्यमान हैं, उनके निर्माण मे मूर्तिकला की गान्धारी शैली, मथुरा शैली तथा गुप्त युग की शैली का प्रयोग किया गया है। भारतीय कला की इन विविध शैलियों द्वारा युन-काँग में जो मूर्तियों का निर्माण किया गया, उससे सूचित होता है कि धर्म के अतिरिक्त कला के क्षेत्र में भी भारत ने चीन को बहुत प्रभावित किया था।

लुंग-मेन के गुहाविहारों की स्थिति लो-यांग के दक्षिण में ५ मील की दूरी पर है। ४६४ ई० में वेई वंश के राजाओं ने ता-तुंग के स्थान पर लो-यांग को अपनी राजधानी बना लिया था। वहाँ का राजा ह्सुअन-वू बौद्ध धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा रखता था, और उसके शासनकाल में लो-यांग बौद्ध धर्म तथा अध्ययन का प्रसिद्ध केन्द्र बन गया था। वहाँ अनेक संघारामों का निर्माण इस राजा द्वारा कराया गया, जिनमें चार अत्यन्त प्रसिद्ध थे—(१) चिग-मिंग संघाराम—इसमें १००० से ऊपर कक्ष थे और इसका निर्माण एक विशाल राजप्रासाद के सदृश किया गया था। (२) युग-मिंग संघाराम—इसका निर्माण अन्य देशो से आये हुए स्थविरो तथा भिक्षुओं के लिए किया गया था, और राजा ह्सुअन-वू के समय मे वहाँ ३००० से भी अधिक विदेशी भिक्षु निवास कर रहे थे, जिनमे बहुसख्या भारतीयो की थी। (३) याओ-कुआंग संघाराम—यह भिक्षुणियों के निवास के लिए था। (४) युग-निंग संघाराम—इसका निर्माण साम्राज्ञी लिंग द्वारा कराया गया था। यहाँ एक बहुत ऊचा स्तूप था, जिसके समीप एक विशाल भवन था जिसमे भिक्षु एकत्र हुआ करते थे। ये चारों संघाराम तो लो-यांग मे थे, पर इस नगर से ५ मील दक्षिण में पर्वत-शृंखला को काट-काट कर जिन गुहाविहारो का निर्माण कराया गया था, वे इनसे पृथक् थे। लो-यांग के दक्षिण मे विद्यमान पहाड़ियो की चट्टानो को काट-काट कर जिन छोटी-बड़ी मूर्तियो का निर्माण कराया गया था, १९१५-१६ में उनकी गिनती करायी गई थी। इस गिनती से इनकी संख्या ९७,३०६ ज्ञात हुई थी। बाद में एक बार फिर इनकी गिनती कराई गई, जिससे इनकी सख्या १,४२,२८९ तक पहुँच गई। लो-याग के गुहाविहारो में कितनी बड़ी संख्या में मूर्तियाँ अब तक भी विद्यमान हैं, इससे इसका परिचय प्राप्त किया जा सकता है। इन गुहाविहारों तथा मूर्तियों का निर्माण-समय पाँचवी सदी के अन्त से आठवीं सदी के मध्य तक माना जाता है। यहाँ बहुत-से उत्कीर्ण लेख भी मिले हैं, जिन्हें राजाओं, राजकर्मचारियों तथा भिक्षुओं द्वारा उत्कीर्ण कराया गया था।

दक्षिणी चीन में हैन-चो नामक एक अन्य स्थान है, जो प्राकृतिक दृष्टि से अत्यन्त रमणीक है। यह एक विशाल व सुन्दर झील के तट पर स्थित है। यहाँ भी बहुत-से गुहामन्दिर हैं, जिनकी दीवारों पर कलात्मक भित्तिचित्र हैं। यहाँ की मूर्तियाँ भी भारतीय शैली की हैं। हैन-चो के इन प्राचीन गुहामन्दिरों के विषय में स्थानीय लोगों में यह अनुश्रुति चली आ रही है, कि इन्हें ऐसे का ऐसा भारत से ला कर यहाँ

रख दिया गया था। इनका निर्माण कितना भारत के गुहामन्दिरों के समान हैं, इसका अनुमान इसी अनुश्रुति द्वारा किया जा सकता है।

(६) अन्य क्षेत्रों में भारतीय संस्कृति का प्रभाव

चीन के धर्म तथा कला को भारत ने किस प्रकार प्रभावित किया, यह ऊपर स्पष्ट किया गया है। पर वहाँ के सगीत पर भी भारत का प्रभाव पड़ा था। जिस प्रकार भारत का बौद्ध धर्म कुची होकर चीन मे प्रविष्ट हुआ था, वैसे ही भारत की संगीत-कला भी कुची के मार्ग से चीन गई थी। कुची बौद्ध धर्म का केन्द्र तो था ही, भारतीय सगीत को भी वहाँ के निवासियो ने अपना लिया था और अपनी प्रतिभा द्वारा उसका और अधिक विकास किया था। चीनी ग्रन्थो के अनुसार कुची के लोग सगीत मे बहुत प्रवीण थे। वीणा, मृदङ्ग, बासुरी आदि वाद्यो मे उन्हे अत्यन्त दक्षता प्राप्त थी। वर्षा काल मे बरसते हुए पानी और बहते हुए जलस्रोतों से जो ध्वनि उत्पन्न होती थी, उसे वे अविकल रूप से वाद्य यन्त्रो द्वारा उत्पन्न कर देते थे। किसी भी लय व तान को एक बार सुनकर उसकी हू-ब-हू अनुकृति कर देना उनके लिए बायें हाथ का खेल था। भारतीय सगीताचार्यों के अनेक परिवार कुची मे बसे हुए थे, और उनमे पितृ-पुत्र परम्परा द्वारा सगीत का विकास किया जा रहा था। चीनी लेखको ने एक ऐसे ब्राह्मण परिवार का नाम 'त्साओ' या झाओ लिखा है, जो सम्भवत. झा या उपाध्याय का चीनी रूप है। इस परिवार का एक सगीताचार्य, जिसका नाम चीनी ग्रन्थो मे मिआओ-ता लिखा गया है, ५५०-५५७ मे चीन गया था। उसके द्वारा वहाँ संगीत की भारतीय शैली अत्यन्त लोकप्रिय हो गई, और चीन के लोग अपने सगीत की उपेक्षा कर उसी की ओर आकृष्ट होने लगे। इस पर सम्राट् काओ-त्सू (५८१-५९५) ने राजाज्ञा द्वारा भारतीय संगीत के प्रचार को निषिद्ध करने का प्रयत्न किया, पर वह सफल नहीं हो सका। उसके उत्तराधिकारी को भारतीय सगीत का बहुत शौक था। उसने पो मिग-ता नामक सगीताचार्य को कुची से चीन आने के लिए निमन्त्रित किया, और उससे अनेक नए लयों तथा स्वरो की रचना कराई। पो मिग-ता कुची के उसी ब्राह्मण परिवार का था, जिसके अन्यतम व्यक्ति मिआओ-ता द्वारा भारतीय सगीत का चीन मे प्रवेश हुआ था।

चीनी ग्रन्थो मे लिखा है, कि संजीव नाम का एक सगीताचार्य ५६०-५७८ में कुची से चीन गया था। उस द्वारा संगीत की जिस शैली का चीन मे प्रचार हुआ, उसमें सात स्वर थे। यह स्पष्टतया भारतीय सगीत था, जो सात स्वरो पर आधारित है।

भारत की गणित तथा ज्योतिष विद्याओ ने भी चीन को बहुत प्रभावित किया। चीन के अनेक राजाओ ने अपने देश मे कालगणना के लिये पञ्चांग तैयार कराने के प्रयोजन से जो राजकीय बोर्ड स्थापित किए, उसमे भारतीय ज्योतिषियों को भी सदस्य रूप से नियुक्त किया गया था। सातवी सदी में चीन की राजधानी में भारतीय ज्योतिष के तीन सम्प्रदाय विद्यमान थे, जिनके नाम गौतम, काश्यप और कुमार थे। इनमे भारतीय ज्योतिष तथा गणित का पठन-पाठन हुआ करता था।

इस काल में अनेक भारतीय ज्योतिष ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद भी किया गया। इनमे से नवग्रह-सिद्धान्त नामक एक संस्कृत ग्रन्थ का चीनी अनुवाद इस समय भी उपलब्ध है। अन्य काल में भी बहुत-से गणित तथा ज्योतिष विषयक भारतीय ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया जाता रहा, पर दुर्भाग्यवश अब वे प्राप्य नहीं हैं।

चिकित्साशास्त्र विषय के भारतीय ग्रन्थों की भी चीन मे बहुत मांग थी। ४५५ ईस्वी का लिखा हुआ चिकित्साशास्त्रसम्बन्धी एक चीनी ग्रन्थ इस समय उपलब्ध है, जो या तो किसी एक संस्कृत ग्रन्थ का अनुवाद है, या जिसे अनेक संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर संकलित किया गया था। बौद्ध ग्रन्थो के जो संग्रह विविध समयो मे चीन मे किए गए थे, उनमे कतिपय ग्रन्थ आयुर्वेद विषयक भी हैं। बालकों के रोगो की चिकित्सा को प्रतिपादित करने वाले एक ग्रन्थ रावणकुमारचरित का ग्यारहवी सदी में चीनी भाषा मे अनुवाद किया गया था, जो अब भी प्राप्य है। दीर्घ जीवन की प्राप्ति के लिए अनेक चीनी सम्राटो ने भारत के चिकित्सकों तथा तान्त्रिकों को अपने देश में निमन्त्रित किया था। इनके भी अनेक वृत्तान्त चीनी साहित्य में पाए जाते हैं।

ताग-वश के शासनकाल (६१८-९०७ ईस्वी) मे समुद्र मार्ग द्वारा चीन और भारत के व्यापार मे बहुत वृद्धि हो गई थी। ७४९ ईस्वी मे लिखे हुए एक चीनी विवरण मे व्यापार के लिए कैन्टन नदी मे आये हुए ऐसे जहाजो का उल्लेख है, जिनके स्वामी भारत के ब्राह्मण थे। इसी विवरण से यह भी ज्ञात होता है, कि कैन्टन नगरी मे ब्राह्मणो के तीन मन्दिर भी विद्यमान थे। इससे सूचित होता है, कि भारत के हिन्दू व्यापारी बडी सख्या मे व्यापार के लिए चीन जाया करते थे, और कैन्टन जैसे बन्दरगाहो मे उन्होने अपने मन्दिर भी बना लिये थे, जहाँ अपने धर्म के अनुसार वे पूजापाठ कर सकते थे।

सातवाँ अध्याय

तिब्बत और मंगोलिया में बौद्ध धर्म तथा भारतीय संस्कृति

(१) बौद्ध धर्म और भारतीय संस्कृति का सूत्रपात

संसार के अन्य देशों के समान प्राचीन समय में तिब्बत में भी अनेक छोटे-छोटे राज्यों की सत्ता थी। सातवीं सदी मे वहाँ स्रोङ्-गचन-गस्म-पो नाम का एक शक्तिशाली राजा हुआ, जिसने तिब्बत के अन्य राज्यो को जीत कर अपनी शक्ति का विस्तार किया। इस राजा के प्रयत्न से तिब्बत एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप से परिणत हो गया। पर स्रोङ्-गचन-गस्म-पो केवल इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसने पश्चिम मे गिल्गित, उत्तर में चीनी तुर्किस्तान (पूर्वी मध्य एशिया), दक्षिण मे नेपाल और पूर्व में पश्चिम चीन तक आक्रमण किए और अपने साम्राज्य का विस्तार किया। ६५० ईस्वी मे जब उसकी मृत्यु हुई, तिब्बत के साम्राज्य की सीमा दक्षिण मे हिमालय की तराई से शुरू होकर उत्तर मे थियानशान पर्वतमाला तक विस्तीर्ण थी। जिस प्रदेशो को जीत कर इस तिब्बती सम्राट् ने अपने अधीन किया था, उन सब मे उस समय बौद्ध धर्म का प्रचार था। अत: स्वाभाविक रूप से वह बौद्ध धर्म के सम्पर्क मे आया, और अपने देश को उन्नत तथा समृद्ध बनाने के लिए उसने जिन उपायो को अपनाया, उनकी प्रेरणा उसने बौद्ध लोगो से ही प्राप्त की थी। स्रोङ्-गचन-गस्म-पो की दो रानियाँ थी, प्रथम नेपाल के राजा अंशुवर्मा की कन्या खिप्रचुन और दूसरी चीन की एक राजकुमारी कोङ्-जो। ये दोनो रानियाँ बौद्ध धर्म की अनुयायी थी, और तिब्बती सम्राट् ने उनके पूजापाठ के लिए बौद्ध मन्दिरो का निर्माण करा दिया था। तिब्बत की वर्तमान राजधानी ल्हासा भी इसी सम्राट् द्वारा अपने राज्य की राजधानी नियत की गई थी, और अपनी रानियो के लिए जो मन्दिर स्रोङ्-गचन-गस्म-पो द्वारा बनवाये गए थे, वे इस समय भी विद्यमान हैं। इस राजा ने स्वय भी बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया था, जिसके कारण तिब्बत मे भारत के इस धर्म का प्रचार प्रारम्भ हो गया। चीन और भारत से अनेक बौद्ध मूर्तियाँ इस समय तिब्बत ले जायी गईं, और उन्हे प्रतिष्ठित करने के लिए वहाँ चैत्यो व मन्दिरो का निर्माण कराया गया।

पर अपने देश में भारतीय संस्कृति के प्रवेश के सम्बन्ध मे स्रोङ्-गचन-गस्म-पो द्वारा किया हुआ अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य तिब्बती भाषा के लिए एक लिपि को तैयार कराना था, जिसे गुप्त युग की ब्राह्मी लिपि के आधार पर बनाया गया था। स्रोङ्-गचन-गस्म-पो ने जिस विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, उसके सुशासन के लिए राज्य कार्य को सुव्यवस्थित रूप देना बहुत आवश्यक था, और यह तभी सम्भव था,

जब कि राजकीय आदेश लिखित रूप से जारी किए जा सकें। तिब्बती भाषा के लिए लिपि तैयार करने का कार्य सम्भोटा के सुपुर्द किया गया, जो थोन का निवासी था और तिब्बत का अन्यतम मन्त्री था। सोलह साथियों को अपने साथ लेकर सम्भोटा भारत आया, और यहाँ रहकर उसने संस्कृत भाषा तथा बौद्ध धर्म का अध्ययन किया। सातवीं सदी में भारत में गुप्त युग की ब्राह्मी लिपि प्रचलित थी। मध्य एशिया के बहुत-से प्रदेशों मे भी तब इसी लिपि का प्रयोग किया जाता था। अतः सम्भोटा ने तिब्बती भाषा की विशेषताओं को दृष्टि में रखकर एक नई लिपि तैयार की, जिसके लिए ब्राह्मी को आधार बनाया गया था। घ, झ, ट, ध, भ और ष—इन अक्षरों के उच्चारण तिब्बती भाषा मे नही होते, अतः इन्हे छोड़ दिया गया और तिब्बती भाषा के विशेष उच्चारणों के लिए च, छ, ज और स पर विशिष्ट चिह्न लगाकर नए अक्षरों का निर्माण किया गया। इ, उ, ए और ओ के पृथक् अक्षर नही बनाए गए, अपितु ऊ अक्षर पर चिह्न लगाकर इनके उच्चारणों को प्रगट किया गया। सम्भोटा द्वारा तिब्बत के लिए जो नई लिपि तैयार की गई, उसमे कुल ३० अक्षर थे। तिब्बती भाषा के लिए एक नया व्याकरण भी सम्भोटा द्वारा बनाया गया, जो इस समय उपलब्ध है और तिब्बत के शिक्षणालयो मे अब तक भी उसका प्रयोग किया जाता है। स्रोङ्-गचन-गस्म-पो ने स्वय नई लिपि को सीखा और व्याकरण को पढकर तिब्बती अनुवादो द्वारा बौद्ध-धर्म के ग्रन्थो को पढना प्रारम्भ किया। बौद्ध ग्रन्थो के तिब्बती भाषा मे अनुवाद का कार्य इस समय शुरू हो चुका था, और उसका श्रीगणेश सम्भोटा द्वारा ही किया गया था। उसने स्वय करण्डव्यूह, रत्नमेघ और कर्मशतक के तिब्बती भाषा मे अनुवाद किए थे। विविध देशो के जो विद्वान् इस समय बौद्ध ग्रन्थो के तिब्बती भाषा मे अनुवाद के कार्य मे तत्पर हुए, उनमे भारत के कुशर (कुमार) और अनन्त, नेपाल के शीलमञ्जु, चीन के महादेव तथा तिब्बत के धर्मकोष और ल्ह-लुङ्-छोस-र्जे-दपल् के नाम अब भी सुरक्षित हैं। बौद्ध धर्म के लिए स्रोङ्-गचन-गस्म-पो द्वारा जो कार्य किया गया, वह इतने महत्त्व का था, कि बाद के तिब्बती बौद्ध उसे बोधिसत्त्व अवलोकित का अवतार मानने लगे, और उसकी नेपाली रानी को भृकुटी का तथा चीनी रानी को तारा का अवतार समझा जाने लगा।

स्रोङ्-गचन-गस्म-पो के समय में तिब्बत का जो उत्कर्ष शुरू हुआ था, उसके उत्तराधिकारियों के समय मे वह जारी रहा। तिब्बत के इन शक्तिशाली सम्राटो मे ख्रिस्रोङ् ल्दे-ब्चन (७५५-७९७ ईस्वी) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बौद्ध धर्म के प्रचार की दृष्टि से तिब्बत के इतिहास मे उसका वही स्थान है, जो भारतीय इतिहास मे अशोक का है। अपने देश मे बौद्ध धर्म की सुचारू रूप से स्थापना के लिए उसने यह आवश्यक समझा, कि भारत से किसी ऐसे प्रसिद्ध विद्वान् को तिब्बत आने के लिए निमन्त्रित किया जाये, जो धर्म तथा दर्शन का प्रकाण्ड पण्डित हो। इस प्रयोजन से उसने अपने राजप्रतिनिधि भारत भेजे। उन्होंने नालन्दा महाविहार के प्रसिद्ध आचार्य शान्तरक्षित को तिब्बत पधारने के लिए निमन्त्रित किया। तिब्बत आकर शान्तरक्षित ने राजा को बौद्ध धर्म का उपदेश दिया, और उस देश में बौद्ध धर्म को नए रूप मे

संगठित किया। यद्यपि तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रवेश हुए एक सदी बीत चुकी थी, पर अब तक वहाँ न किसी तिब्बती ने भिक्षुव्रत ग्रहण किया था, और न कोई सघाराम ही वहाँ निर्मित हुआ था। अब शान्तरक्षित द्वारा तिब्बत मे पहले विहार या महाविहार की नीव डाली गई। इसके लिए ब्रह्मपुत्र नदी से दो मील उत्तर में स्थान चुना गया, और मगध के उडतपुरी महाविहार के नमूने पर सम्-ये विहार का निर्माण प्रारम्भ किया गया। सम्-ये महाविहार के मध्य मे सुमेरु पर्वत की भाँति एक ऊँचा मन्दिर बनाया गया, और उसके चारो ओर चार महाद्वीपो और आठ उपद्वीपो की भाँति बारह गुलिङ् (द्वीप) बनाए गए, जो भिक्षुओ के निवास के लिए थे। विहार के चारो कोनों पर कुछ हट कर चार स्तूपो का निर्माण किया गया। सम्-ये का विहार बनना प्रारम्भ ही हुआ था, कि यह आवश्यकता अनुभव की जाने लगी, कि वहाँ निवास के लिए भिक्षु भी चाहिए। इसके लिए आचार्य शान्तरक्षित द्वारा नालन्दा से कुछ सर्वास्तिवादी भिक्षुओ को बुलाया गया। बौद्ध सघ के नियमो के अनुसार कोई एक व्यक्ति किसी को भिक्षुव्रत की दीक्षा नही दे सकता। सघ द्वारा ही कोई भिक्षुव्रत ग्रहण कर सकता है। नालन्दा से बारह भिक्षुओ के तिब्बत आ जाने पर जब वहाँ भिक्षुसंघ स्थापित हो गया, तो सात तिब्बती युवको ने उनसे भिक्षुव्रत ग्रहण किया। इस प्रकार शान्तरक्षित ने तिब्बत मे भी भिक्षुसंघ की स्थापना की, और भिक्षुओ के निवास के लिए विहारो का निर्माण प्रारम्भ कराया। तिब्बत मे बौद्ध धर्म को सुचारु रूप से स्थापित करने का प्रधान श्रेय शान्तरक्षित को ही दिया जाना चाहिए। पूरे सौ वर्ष की आयु मे तिब्बत मे ही उनकी मृत्यु हुई, और उनके शव को सम्-ये विहार के पूर्व में विद्यमान एक स्तूप मे रख दिया गया। साढे ग्यारह सौ वर्ष तक यह शरीर इसी स्तूप मे रहा, पर बीसवी सदी के प्रारम्भ मे वह स्तूप ढह गया, और शान्तरक्षित का शरीर नीचे गिर गया। उसके जो अंश—कपाल तक कुछ हड्डियाँ—जमा किए जा सके, उन्हे एकत्र कर सम्-ये विहार के प्रधान मन्दिर मे शीशे के एक बक्से मे रख दिया गया, जहाँ भक्त लोग उनका दर्शन कर सकते है। तिब्बत मे बौद्ध धर्म की स्थापना के कार्य मे शान्तरक्षित के प्रधान सहायक आचार्य पद्मसम्भव थे। शान्तरक्षित की मृत्यु के पश्चात् वही तिब्बत मे बौद्धो के मुख्य गुरु माने जाने लगे थे। उनके समय मे चीन देश का एक बौद्ध प्रचारक तिब्बत आया, और उसने जिस रूप मे बौद्ध धर्म तथा दर्शन का प्रचार प्रारम्भ किया, वह शान्तरक्षित के मन्तव्यो से भिन्न था। पद्मसम्भव चीनी पण्डित के मत का सन्तोषजनक रीति से प्रत्याख्यान नही कर सके, जिसके कारण तिब्बत के बौद्धो में अनेक मतभेद प्रादुर्भूत हो गए। इस दशा में पद्मसम्भव ने आचार्य शान्तरक्षित के शिष्य कमलशील को नालन्दा से तिब्बत आने के लिए निमन्त्रित किया। कमलशील भरे राजदरबार में चीन के बौद्ध प्रचारक को शास्त्रार्थ मे परास्त करने मे समर्थ हुए, और तिब्बत मे बौद्ध धर्म का वही स्वरूप सर्वमान्य हो गया, जिसका प्रतिपादन शान्तरक्षित द्वारा किया गया था।

इस प्रकार सम्राट् ठ्रि-स्रोङ्-ल्दे-ब्चन् के शासन काल में बौद्ध धर्म की जड़ तिब्बत मे भली-भाँति जम गई। तिब्बत में पुराने बोन धर्म से भी बौद्ध धर्म को संघर्ष

करना पड़ा। बोन धर्म में भूत-प्रेतों की पूजा का प्रमुख स्थान था, और तिब्बत की पिछड़ी हुई जातियाँ अपने पुराने विश्वासों तथा पूजाविधि का त्याग कर नये धर्म को अंगीकार करने के लिए सुगमता से तैयार नहीं हुई थीं। पर शान्तरक्षित, पद्मसम्भव और कमलशील जैसे आचार्यों तथा ख्रि-सोङ्-ल्दे-ब्चन् जैसे श्रद्धालु राजा के प्रयत्न से बौद्ध धर्म तिब्बत में सुचारु रूप से स्थापित हो गया। इसीलिए तिब्बती बौद्धों की दृष्टि में इन चारों का बहुत अधिक महत्त्व है। बौद्ध धर्म का संरक्षक होने के कारण ख्रि-स्रोङ्-ल्दे-ब्चन् को बोधिसत्त्व मंजुश्री का अवतार माना जाने लगा।

(२) तिब्बत में बौद्ध धर्म की प्रगति

शान्तरक्षित, पद्मसम्भव और कमलशील के अतिरिक्त अन्य भी अनेक बौद्ध विद्वान् राजा ख्रि-स्रोङ्-ल्दे-ब्चन् के समय मे तिब्बत मे निमन्त्रित किए गए। इनमे विमलमित्र, बुद्ध गुह्य, शान्तिगर्भ और विशुद्धसिंह के नाम उल्लेखनीय है। इन आचार्यों ने अपने तिब्बती शिष्यों की सहायता से अनेक बौद्ध ग्रन्थों का तिब्बती भाषा मे अनुवाद किया। साथ ही, इन आचार्यों द्वारा बौद्ध धर्म की कतिपय विशिष्ट साधनाविधियो का भी तिब्बत मे प्रवेश हुआ, जिनमे तान्त्रिक विधि प्रमुख थी। इस समय तक भारत के बौद्ध धर्म मे वज्रयान का विकास हो चुका था, और यह सम्प्रदाय अनेक गुह्य तान्त्रिक साधनाओ का प्रतिपादन करता था। भारत के पद्मसम्भव, विमलमित्र आदि आचार्यों द्वारा इनका भी इसी काल मे तिब्बत मे प्रवेश हुआ।

ख्रि-स्रोङ्-ल्दे-ब्चन् के बाद उसका पुत्र मु-ख्रि-ब्चन्-पो (७९८-८०४) तिब्बत का राजा बना। अपने पिता के समान वह भी बौद्ध धर्म मे अगाध आस्था रखता था, और उसने भी इस धर्म के उत्कर्ष के लिए कोई कसर उठा नही रखी। उसने भी अपने राज्य मे अनेक विहारो तथा स्तूपों का निर्माण कराया। मु-ख्रि-ब्चन्-पो के बाद उसका भाई ख्रि-ल्दे-ब्चन्-पो (८०४-८१६ ई०) तिब्बत के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। उसका मुख्य कार्य बौद्ध ग्रन्थो का इस ढंग से तिब्बती भाषा में अनुवाद कराना था, जिससे कि उनके अभिप्राय के सम्बन्ध मे मतभेद की कोई गुंजाइश न रहे। इस समय तक कितने ही बौद्ध ग्रन्थो का तिब्बती भाषा मे अनुवाद हो चुका था। पर अब तक हुए अनुवादो मे शब्दों तथा भाषा के लिए किन्हीं सुनिश्चित नियमों का पालन नही किया गया था। अनुवादकर्त्ता को मूल संस्कृत शब्द के लिए तिब्बती भाषा का जो शब्द समुचित प्रतीत हो, वह उसी का प्रयोग कर देता था। इससे धर्मग्रन्थों के अभिप्राय के सम्बन्ध में मतभेद हो सकते थे। अतः राजा ने यह व्यवस्था की, कि बौद्ध ग्रन्थों का सीधे संस्कृत से अनुवाद किया जाए और किस संस्कृत शब्द के लिए तिब्बती भाषा के किस शब्द को प्रयुक्त करना है, इसकी एक सूची बना ली जाए और अनुवाद करते हुए इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया जाए। बौद्ध ग्रन्थों का इस पद्धति से प्रामाणिक ढंग पर अनुवाद कराने के लिए ख्रि-ल्दे-ब्चन्-पो ने बहुत-से भारतीय पण्डितों को तिब्बत आने के लिए निमन्त्रित किया। इनमें जिनमित्र, सुरेन्द्रबोधि, शीलेन्द्रबोधि, दानशील और बोधिमित्र प्रमुख थे। इन भारतीय पण्डितों की सहायता के लिए जो अनेक तिब्बती

विद्वान् नियुक्त किए गए, उनमे रत्नरक्षित, धर्मशील, ज्ञानसेन, जयरक्षित, मञ्जुश्री-धर्मा और रत्नेन्द्रशील के नाम उल्लेखनीय हैं। राजा द्वारा निर्धारित अनुवाद की विधि का इन विद्वानो ने प्रयोग किया, और इस समय संस्कृत ग्रन्थो का ऐसे नियमबद्ध ढंग से तिब्बती भाषा में अनुवाद होने लगा, जिसके कारण उनके अभिप्राय के सम्बन्ध में मत-भेद होने की कोई गुञ्जाइश नही रही। इन तिब्बती अनुवादो से संस्कृत ग्रन्थो के मूल-पाठ का पता लगा सकना भी सम्भव हो गया है, क्योंकि किस संस्कृत शब्द के स्थान पर किस तिब्बती शब्द का प्रयोग किया गया है, यह सुनिश्चित रूप से जाना जा सकता है। अनेक बौद्ध ग्रन्थ जो केवल तिब्बती अनुवादो में ही उपलब्ध थे, अब संस्कृत मे भी उनका रूपान्तर कर लिया गया है, और संस्कृत रूपान्तर मूल संस्कृत ग्रन्थो के सदृश ही हैं। इन भारतीय और तिब्बती विद्वानों ने परस्पर सहयोग द्वारा जिन बहुत-से बौद्ध ग्रन्थों का इस काल मे तिब्बती भाषा में अनुवाद किया, उनमे नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु, चन्द्रकीर्ति, विनीतदेव, शान्तरक्षित, कमलशील आदि द्वारा विरचित अनेक गम्भीर तथा दुरूह दार्शनिक ग्रन्थ भी थे। तिब्बत के बौद्ध धर्म के इतिहास मे नौवी सदी का विशेष महत्त्व है। इस सदी मे जितना अनुवाद कार्य तिब्बत मे हुआ, उतना किसी अन्य समय मे नही हुआ।

खि-स्दे-स्त्सन्-पो के बाद रल्-प-चन् (८१७-८३९) के शासन काल मे बौद्ध धर्म के प्रति श्रद्धा एवं पक्षपात की नीति पूर्ववत् जारी रही। रल्-प-चन् भारतीय संस्कृति और भारतीयता का इतना प्रेमी था, कि उसने तोल और माप के भारतीय मानो को तिब्बत मे भी प्रयुक्त कराना प्रारम्भ किया। बौद्धधर्म तथा भारतीयता के प्रति तिब्बत के राजाओ का जो असाधारण पक्षपात था, उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया होना अस्वाभाविक नही था, विशेषतया उस दशा मे जबकि रल्-प-चन् बौद्धधर्म के प्रति अमर्यादित भक्ति प्रदर्शित करते हुए अपने राजकीय कर्त्तव्यो की भी उपेक्षा करने लग गया था और बौद्ध भिक्षुओ ने राजा पर अपने प्रभाव का दुरुपयोग कर अनुचित लाभ उठाने शुरू कर दिये थे। परिणाम यह हुआ, कि ८३९ मे रल्-प-चन् की हत्या हो गई, और उसका भाई ग्लङ्-दर्-म तिब्बत के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। यह राजा बौद्ध धर्म का कट्टर शत्रु था। सब राजकीय पदो पर उसने ऐसे व्यक्तियो की नियुक्ति की, जो बौद्धो के विरोधी थे। बौद्ध ग्रन्थो का तिब्बती भाषा मे अनुवाद करने के लिए जो अनुवादक नियुक्त थे, उनके मकान नष्ट कर दिए गए और भिक्षुओ को भिक्षुव्रत का त्याग कर गृहस्थी बन जाने की आज्ञा दी गई। जो भिक्षु इसके लिए उद्यत नही हुए, उन्हे तलवार के घाट उतार दिया गया। स्रोङ्-गचन्-गस्म-पो की नेपाली रानी के लिए जो मन्दिर बनवाया गया था, उससे बुद्ध की मूर्ति हटा दी गई और मन्दिर का द्वार बन्द करके उस पर शराब पीते हुए भिक्षुओ की प्रतिमाएँ अंकित करा दी गईं। बौद्ध विद्वानों तथा भिक्षुओ के लिए इस समय यही मार्ग रह गया था, कि वे अपने प्राणों की रक्षा के लिए तिब्बत को छोडकर अन्यत्र चले जाएँ और अपने ग्रन्थो को पहाड़ी गुफाओ मे छिपा दें। ग्लङ्-दर्-म देर तक इस ढग से बौद्धो पर अत्याचार नही कर सका। तीन साल के शासन के पश्चात् ८४२ ई० मे उसकी भी हत्या कर दी गई, और उसके बाद तिब्बत में

जो राजा हुए, बौद्ध धर्म के प्रति उनका रुख अनुकूल था। उनके समय में भारत से बौद्ध विद्वानों को फिर तिब्बत आमन्त्रित किया जाने लगा, और धर्मग्रन्थो के तिब्बती अनुवाद का कार्य फिर शुरू हो गया। पर तिब्बत के इतिहास मे यह अव्यवस्था और अशान्ति का काल था। स्रोङ्-गचन्-गस्म-पो तथा उसके बाद के प्रतापी राजाओ ने तिब्बत मे जिस शक्ति का संचार किया था, वह अब क्षीण हो गई थी, और वह देश अनेक राज्यों में विभक्त हो गया था। इस दशा में उस समय यदि वहाँ बौद्ध धर्म का भी विशेष उत्कर्ष न हुआ हो, तो यह स्वाभाविक ही था।

(३) दीपंकर श्रीज्ञान अतीश द्वारा बौद्ध धर्म का पुनरुत्थान

गुलङ्-दर-म के बाद डेढ सदी के लगभग का तिब्बती इतिहास स्पष्ट नही है। दसवीं सदी के अन्तिम भाग मे वहाँ का राजा ये-शेस्-ओद था, जो बौद्ध धर्म के प्रति श्रद्धा रखता था और जिसने स्वय बौद्ध ग्रन्थो का अध्ययन किया था। उस समय तिब्बत मे बौद्ध धर्म का जो रूप था, वह कहाँ तक शुद्ध एवं वास्तविक है, इस विषय मे उसे सन्देह हो गया था। वह देखता था, कि भिक्षु लोग न धर्मग्रन्थो का पठन-पाठन करते हैं और न आचरण के नियमों का सम्यक् रूप से पालन ही करते हैं। तन्त्र-मन्त्र का बौद्धो की साधना मे बहुत महत्त्व हो गया था, और साधना की आड़ मे उन्होंने मद्य-सेवन तथा व्यभिचार को ही धर्म के मूलतत्त्व मानना शुरू कर दिया था। ये-शेस्-ओद धर्म के वास्तविक रूप तथा सदाचरण के नियमों का सही-सही पता लगाने के लिए उत्सुक था, और इसीलिए उसने २१ तिब्बती युवको को चुनकर काश्मीर भेजा, ताकि वहाँ बौद्ध आचार्यों के पास रहकर वे बौद्ध ग्रन्थो का मूल सस्कृत मे अध्ययन करें, और फिर स्वदेश वापस लौट कर सच्चे धर्म का प्रतिपादन करें। पर काश्मीर की जलवायु उनके लिए स्वास्थ्यकर सिद्ध नही हुई। दो के अतिरिक्त अन्य सब युवक बीमार पड़ गये और काश्मीर मे ही उनकी मृत्यु हो गई। केवल रिन्-छेन्-बसङ्-पो और लेग्स-पशेष्-रब् काश्मीर मे शिक्षा समाप्त कर तिब्बत वापस लौटने में समर्थ हुए। वहाँ उन्होंने अनेक भारतीय पण्डितों की सहायता से बहुत-से बौद्धग्रन्थों का तिब्बती में अनुवाद किया। पर राजा ये-शेस्-ओद को इससे सन्तोष नही हुआ। यह देख कर कि उस द्वारा भेजे हुए इक्कीस युवकों में से उन्नीस स्वदेश वापस नही लौट सके, उसने सोचा, कि तिब्बत से विद्यार्थियों को भारत भेजने की अपेक्षा यह अधिक अच्छा होगा कि किसी प्रकाण्ड पण्डित को भारत से तिब्बत बुला लिया जाए और उस द्वारा सच्चे बौद्ध धर्म की पुनःस्थापना का प्रयत्न किया जाए। उसे ज्ञात था, कि इस प्रकार के एक पण्डित आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान अतीश हैं, जो उस समय विक्रमशिला महाविहार में निवास करते थे। उनकी कीर्ति सर्वत्र दूर-दूर तक फैली हुई थी। उनका जन्म ६८० ईस्वी में भारत के एक पूर्वी प्रदेश में हुआ था, और वहां बौद्ध तथा आस्तिक दर्शनों एवं धर्मग्रन्थों का अध्ययन कर वे सुवर्णद्वीप चले गए थे, जहां के आचार्य चन्द्रकीर्ति उस युग में अपनी विद्वत्ता के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध थे। बरमा के पूर्व में विद्यमान मलाया, सुमात्रा आदि दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रदेशों को प्राचीन समय में स्थूल रूप से सुवर्णद्वीप कहा

जाता था और चन्द्रकीर्ति वहीं पर निवास करते थे। दीपंकर श्रीज्ञान ने बारह वर्ष आचार्य चन्द्रकीर्ति के पास रहकर धर्म और दर्शन का उच्चतम ज्ञान प्राप्त किया, और जब वह भारत वापस आये, तो उनके पाण्डित्य का सर्वत्र सिक्का माना जाने लगा। उस समय भारत के बौद्ध विद्यापीठो मे विक्रमशिला का अत्यन्त उच्च स्थान था। इसका निर्माण पालवश के राजा धर्मपाल (७६६-८०६) ने करवाया था। धर्मपाल बौद्ध धर्म का अनुयायी था। उसने विक्रमशिला मे एक महाविहार बनवाकर वहा अध्यापन के लिए १०८ आचार्यों की नियुक्ति की थी। इस नये विद्यापीठ को पाल राजाओ का सरक्षण प्राप्त था, और इसका खर्च चलाने के लिए धर्मपाल और उसके उत्तराधिकारियो ने विपुल धनराशि प्रदान की थी। भारत वापस लौटने पर दीपंकर श्रीज्ञान को विक्रमशिला महाविहार के प्रमुख आचार्यों मे स्थान प्रदान किया गया, और वे वहीं रहकर अध्यापन का कार्य करने लगे।

दीपंकर श्रीज्ञान के अगाध पाण्डित्य की कीर्ति सुनकर राजा ये-शेस्-ओद ने उन्हे तिब्बत पधारने के लिए निमन्त्रित करने का निश्चय किया। इस प्रयोजन से उसने अपना एक राजदूत मगध भेजा, और आचार्य को भेट करने के लिए सुवर्ण की प्रभूत मात्रा भी उसके हाथ प्रेषित की। पर दीपंकर ने न सुवर्ण की भेंट स्वीकार की, और न ही वे तिब्बत-यात्रा के निमन्त्रण को स्वीकार कर सके। तिब्बती राजदूत उनके सम्मुख बहुत गिडगिडाया, पर वह उनके निर्णय को परिवर्तित नहो कर सका। इसके कुछ समय पश्चात् ये-शेस् ओद शत्रुओ के हाथ पड़ गया, और उन्ही की कैद मे उसकी मृत्यु भी हो गई। पर मरने से पहले उसने एक बार फिर अपने दूत दीपंकर श्रीज्ञान के पास भेजे। इस बार दूतो के मुख से ये-शेस्-ओद की बौद्ध धर्म के प्रति आस्था तथा महान् त्याग की बातें सुनकर श्रीज्ञान ने तिब्बत चलने की स्वीकृति प्रदान कर दी। १०४२ ईस्वी मे वे तिब्बत पहुँच गये, जहाँ उनका बडी धूमधाम के साथ स्वागत किया गया। उन्हे एक राजकीय जुलूस मे तिब्बत ले जाया गया। चार सेनापति और एक सौ अश्वारोही उनके साथ-साथ यात्रा कर रहे थे। वे तेरह वर्ष तिब्बत मे रहे, और यह समय उन्होंने धार्मिक सुधार तथा बौद्ध ग्रन्थो का तिब्बती भाषा मे अनुवाद करने मे व्यतीत किया। तिब्बत के बौद्ध धर्म मे जो अनेक तान्त्रिक तत्त्व प्रविष्ट हो गये थे, दीपंकर श्रीज्ञान ने उनका निराकरण किया। उन्ही के प्रयत्न का यह परिणाम हुआ, कि तिब्बत के बौद्ध धर्म से वे सब तत्त्व दूर हो गये, जिनके कारण वह भलीभाँति पनप नहीं पा रहा था। अब वहाँ बौद्ध धर्म का पुनरुत्थान हुआ, और कोई भी मत व सम्प्रदाय उसके सम्मुख नही टिक सका।

तिब्बत मे रहते हुए आचार्य दीपकर श्रीज्ञान अतीश ने जो नये बौद्ध ग्रन्थ लिखे या जिन ग्रन्थो का अनुवाद किया, उनकी सख्या २०० से भी अधिक है। १०५३ ईस्वी में ७३ वर्ष की आयु मे तिब्बत में ही उनकी मृत्यु हुई। तिब्बत मे अब तक भी उन्हे अत्यन्त सम्मानपूर्वक स्मरण किया जाता है। इसमे सन्देह नही, कि तिब्बत के बौद्ध धर्म मे सुधार कर नवजीवन का सचार करने के सम्बन्ध मे उनका कर्तृत्व अनुपम था।

(४) तिब्बत जाने वाले भारतीय विद्वान् और भारत में अध्ययन के लिए आने वाले तिब्बती विद्यार्थी

आचार्य शान्तरक्षित आठवीं सदी मे नालन्दा से तिब्बत गये थे। उनके बाद भारत के बौद्ध विद्वानो का तिब्बत जाने का सिलसिला ग्यारहवी सदी और उसके बाद तेरहवी सदी तक जारी रहा। दीपंकर श्रीज्ञान अतीश के समय तक के इन विद्वानों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उनके बाद या उनके समय में जो अन्य बहुत-से भारतीय विद्वान् धर्मप्रचार के प्रयोजन से तिब्बत गये, उनमे से कुछ के सम्बन्ध में लिखना यह प्रदर्शित करने के लिए उपयोगी होगा कि धर्म तथा संस्कृति के क्षेत्र मे भारत ने तिब्बत को किस प्रकार प्रभावित किया।

दीपकर श्रीज्ञान के तिब्बत पहुँचने से कुछ समय पूर्व सोमनाथ नाम के विद्वान् १०२७ ईस्वी मे तिब्बत गये थे। वे काश्मीर के निवासी थे और ज्योतिष के पण्डित थे। तिब्बत जाकर उन्होने ज्योतिष के ग्रन्थ कालचक्र का तिब्बती मे अनुवाद किया, जिसके कारण तिब्बत के लोगो ने सवत्सरो तथा उनसे निर्मित चक्रो की उस प्रणाली को अपनाया, जो भारत के ज्योतिषियो मे प्रचलित थी। सोमनाथ के साथ लक्ष्मीकर, दानश्री और चन्द्रराहुल नामक अन्य भारतीय विद्वान् भी तिब्बत गये थे।

१०७४ ईस्वी मे पण्डित गयाधर तिब्बत गये। वे वैशाली के निवासी थे, और दीपकर श्रीज्ञान के गुरु महापण्डित सिद्ध अवधूतिपा के शिष्य थे। गयाधर पाँच वर्ष तिब्बत मे रहे, और वहाँ रहकर उन्होंने बहुत-से तन्त्रग्रन्थों का तिब्बती भाषा मे अनुवाद किया। ग्यारहवी सदी मे ही स्मृतिज्ञानकीर्ति और विभूतिचन्द्र नाम के दो अन्य भारतीय विद्वान् तिब्बत के राजा के निमन्त्रण पर वहाँ गये। तिब्बती भाषा का उन्हे इतना अधिक ज्ञान था, कि किसी तिब्बती की सहायता के बिना ही उन्होने बहुत-से बौद्ध ग्रन्थों का तिब्बती भाषा मे अनुवाद किया। इसी काल में सुनयश्री नाम के एक अन्य भारतीय विद्वान् तिब्बत गये, और उन्होने भी बौद्ध ग्रन्थो के तिब्बती अनुवाद के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

१०७६ ई० मे ब्लो-ल्दन्-शेस्-रब् नामक तिब्बती विद्यार्थी उच्च शिक्षा के लिए काश्मीर आया, और १०९२ तक वहाँ रहकर उसने न्याय तथा योगाचार दर्शनों का अध्ययन किया। न्याय दर्शन के उसके गुरु पण्डित परहितभद्र और भव्यराज थे। योगाचार दर्शन उसने अमरगोमी और सज्जन से पढा था। काश्मीर मे रहते हुए इस तिब्बती विद्वान् ने धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक और प्रमाणविनिश्चय जैसे ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद भी किया। अपने देश को वापस जाकर भी इस विद्वान् ने अनुवाद कार्य को जारी रखा। वहाँ अतुलदास, सुमतिकीर्ति, अमरचन्द्र और कुमार-कलश जैसे भारतीय पण्डितों की सहायता उसे प्राप्त थी। ग्यारहवीं सदी में ही त्रि-म-ग्रग्स् (रविकीर्ति) नाम का एक अन्य तिब्बती युवक काश्मीर गया, और तेईस वर्ष वहाँ रहकर उसने धर्म तथा दर्शन का अध्ययन किया। गम्भीर दार्शनिक ग्रन्थों को तिब्बती भाषा मे अनूदित करने के सम्बन्ध में जो कार्य इस विद्वान् ने किया, उसका अनुमान इस बात से किया जा सकता है, कि इस द्वारा अनुवाद किए गए ग्रन्थों में

चन्द्रकीर्ति, पूर्णवर्धन् और आर्यदेव जैसे आचार्यों के अत्यन्त गम्भीर ग्रन्थ भी हैं। बारहवीं सदी के आरम्भ मे द्कोन-र्ग्यल्ने-व-रि नामक तिब्बती विद्वान् भारत गया, और बोधगया जाकर उसने आचार्य अभयाकर गुप्त से शिक्षा प्राप्त की। अभयाकर गुप्त पालवशी राजा रामपाल (१०५७-११०२) के गुरु थे, और मगध के महाविहारों—नालन्दा और विक्रमशिला—के महापण्डित माने जाते थे। उनसे धर्म तथा दर्शन का अध्ययन कर द्कोन-र्ग्यल्ने-व-रि ने आचार्य दिङ्नाग के न्यायप्रवेश और चण्डमहारोषणतंत्र आदि अनेक ग्रन्थो का तिब्बती भाषा मे अनुवाद किया।

बारहवी सदी के अन्तिम भाग मे तुर्क-अफगानो के भारत पर आक्रमण प्रारम्भ हुए, और उनका एक सेनापति मुहम्मद-बिन्-बख्तियार पूर्व मे बिहार तक चला गया और वहाँ जाकर उसने नालन्दा और विक्रमशिला के महाविहारो (बौद्ध विद्यापीठो) का ध्वस किया। उस समय विक्रमशिला के प्रधान स्थविर आचार्य शाक्य श्रीभद्र (११२७-१२२५) थे। उनका जन्म काश्मीर मे हुआ था, पर मगध के प्रसिद्ध विद्या-केन्द्रो मे निवास कर वहाँ के प्रसिद्ध विद्वानो से उन्होने धर्म तथा दर्शन का अध्ययन किया था। बाद मे वे विक्रमशिला के प्रधान स्थविर के पद पर नियुक्त हो गए। मुहम्मद बिन बख्तियार द्वारा विक्रमशिला के विनष्ट कर दिए जाने पर श्रीभद्र जगत्तला (बगाल मे) के विहार मे चले गये। पर वे वहाँ भी चैन से नही रह सके। तुर्क-अफगानो ने वहाँ भी आक्रमण किए, जिसके कारण आचार्य श्रीभद्र जगत्तला विहार के अनेक अन्य विद्वानो के साथ नेपाल चले गए। वहाँ उनकी भेंट ख्यम्स्-प-द्पल् नामक तिब्बती विद्वान् से हुई, जो उन्हे अपने साथ तिब्बत ले गया। उन दिनो तिब्बत मे स-स्क्या विहार बहुत प्रसिद्ध था, और विद्या का महत्त्वपूर्ण केन्द्र माना जाता था। इस विहार की स्थापना १०७३ ई० मे द्कोन्-र्ग्यल् नामक सम्पन्न गृहस्थ द्वारा की गई थी। श्रीभद्र स-स्क्या विहार मे रहकर गम्भीर दार्शनिक ग्रन्थों का अध्यापन करने लगे, और कितने ही तिब्बती विद्वान् वहाँ उनके शिष्य बने। श्रीभद्र दस साल तिब्बत मे रह कर अपनी जन्मभूमि काश्मीर वापस आ गए, और १२२५ ई० मे ९८ वर्ष की आयु मे वही उनकी मृत्यु हुई। पर विभूतिचन्द्र, दानशील आदि जो अन्य अनेक भारतीय पण्डित उनके साथ तिब्बत गए थे, वे बाद मे भी वही रहते रहे और उन द्वारा बहुत-से सस्कृत ग्रन्थो का तिब्बती भाषा मे अनुवाद किया गया।

सभवत, श्रीभद्र अन्तिम बौद्ध आचार्य थे, जो मगध के महाविहारों से तिब्बत गए थे। तुर्क-अफगानो के आक्रमणो के कारण बारहवी सदी के अन्तिम भाग मे उत्तरी भारत के प्राय सभी बौद्ध विद्या-केन्द्र विनष्ट हो गए थे, और इस देश मे बौद्ध-धर्म का ह्रास प्रारम्भ हो गया था। पर तिब्बत मे इसके बाद भी बौद्ध-धर्म फलता-फूलता रहा, और वहाँ बौद्ध-ग्रन्थो का अध्ययन-अध्यापन पूर्ववत् जारी रहा। भारत के नालन्दा और विक्रमशिला के महाविहारो के नमूने पर सम्-ये और स-स्क्या जैसे महाविहार वहाँ स्थापित हो चुके थे, और बाद की सदियों मे अन्य भी अनेक महाविहार वहाँ कायम हुए। बौद्ध-धर्म और दार्शनिक चिन्तन का जो दीपक तुर्क-अफगान आक्रमणो के झन्झावात से भारत मे बुझ गया था, तिब्बत को वह आलोकित करता रहा। भारत

में जो थोड़े-बहुत बौद्ध-विद्वान् बारहवी सदी के बाद भी बच रहे थे, उनमे से भी अनेक समय-समय पर नेपाल और तिब्बत जाते रहे। इनमे अन्तिम सम्भवत. पण्डित नवरत्न (१३८४-१४६८) थे, जो पूर्वी भारत के निवासी थे। बीस वर्ष की आयु मे वे लका चले गए थे, और छ. साल तक वहा अध्ययन करते रहे। वही उन्होने आचार्य धर्म-कीर्ति से भिक्षुव्रत ग्रहण किया। लंका से नेपाल होते हुए वे तिब्बत गए, और वहाँ रहकर उन्होने अनेक बौद्ध-ग्रन्थों का तिब्बती भाषा मे अनुवाद किया।

भारत से बौद्ध धर्म का अब प्राय लोप हो चुका है। पर वह तिब्बत का अब भी प्रधान धर्म है। भारतीय आचार्यों, स्थविरो और भिक्षुओं द्वारा ही वहाँ इस धर्म का प्रचार किया गया, और प्राय उन्ही द्वारा बौद्ध-ग्रन्थो का तिब्बती भाषा मे अनुवाद किया गया। चीन मे बौद्ध धर्म के प्रचार-कार्य मे भारतीय विद्वानों के अतिरिक्त बल्ख, सुग्ध, पार्थिया, खोतन, कुची आदि के प्रचारको ने भी हाथ बँटाया था। पर तिब्बत मे यह कार्य प्रधानतया भारतीयो द्वारा ही किया गया। इसीलिए धर्म के साथ-साथ संस्कृति, लिपि, साहित्य एव कला आदि के सभी क्षेत्रो मे तिब्बत पर भारत के प्रभाव की सत्ता है। नालन्दा और विक्रमशिला के महाविहारो मे भारतीयो ने शिक्षा की जिस पद्धति का विकास किया था, भारत से अब उसका अन्त हो गया है, पर तिब्बत के महाविहारो मे आधुनिक युग तक भी उसी शिक्षा-प्रणाली का अनुसरण किया जाता रहा है। वहाँ के छात्रो, शिक्षको तथा स्नातको की वेशभूषा, रहन-सहन आदि भी भारत के पुराने विद्यापीठो से लिए गए हैं। भारत के जो बहुत-से प्राचीन ग्रन्थ तुर्क-अफगानो की बर्बरता के कारण नष्ट हो गए थे और जिनके मूल सस्कृत रूप इस समय प्राप्त नही होते, वे तिब्बती अनुवादो के रूप मे अब भी तिब्बत मे विद्यमान हैं, और उन्हे तिब्बती मे अनूदित करने के लिए जिस विशिष्ट प्रणाली को अपनाया गया था, उसके कारण उन्हे फिर से मूल सस्कृत रूप प्रदान कर सकना भी सर्वथा सम्भव है। तिब्बती मे अनूदित ग्रन्थो द्वारा भारत के विलुप्त वाङ्मय को फिर से प्राप्त किया जा सकता है, यह बात हमारे देश के इतिहास, दर्शन, धर्म व चिन्तन के लिए अत्यन्त महत्त्व की है।

(५) मंगोलिया में बौद्ध-धर्म का प्रचार

चीन की प्राचीन विशाल दीवार के उत्तर और साइबीरिया के दक्षिण में विद्यमान सुविस्तृत प्रदेश को मगोलिया कहते हैं। राजनीतिक दृष्टि से वर्तमान समय मे इसके दो भाग हैं, बाह्य मगोलिया और आभ्यन्तर मगोलिया। आभ्यन्तर मंगोलिया चीन के अन्तर्गत है, और बाह्य मगोलिया एक पृथक् एवं स्वतन्त्र गणराज्य है। बहुत प्राचीन काल से इस देश मे ऐसी घुमन्तू जातियो का निवास रहा है, जो समय-समय पर पडोस के उन्नत व सभ्य राज्यो पर आक्रमण करने मे तत्पर रहा करती थी। मंगोलिया के क्षेत्र मे घुमन्तू जीवन बिताने वाले हूणों के आक्रमणो से देश की रक्षा करने के प्रयोजन से ही चीन की विशाल दीवार का निर्माण कराया गया था। तुर्कों के समान मंगोलो का उद्भव भी हूणों से ही हुआ था, या वे भी हूणो की ही अन्यतम

शाखा थे। एक मंगोल कबीले मे चगेज खा नाम के एक साहसी एवं वीर पुरुष का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने तेरहवी सदी मे पडोस के सब राज्यो को जीतकर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। उसके साम्राज्य की पूर्वी सीमा प्रशान्त महासागर और पश्चिमी सीमा कैस्पियन सागर से भी परे काला सागर (ब्लैक सी) तक थी। दक्षिण मे ईरान और सिन्ध तक के प्रदेश चंगेज खा के मगोल साम्राज्य के अन्तर्गत थे। चीन उसके अधीन था, और मध्य एशिया के विविध प्रदेशो को भी जीतकर उसने अपने अधीन कर लिया था।

चगेज खा के उत्तराधिकारी भी उसी के समान प्रतापी थे। उसके पौत्र हुलगू-खा ने पश्चिमी एशिया मे मगोलो की शक्ति का विस्तार किया, और बगदाद की विजय की। कुबले खाँ (१२५८-६४) के शासन काल मे मगोल साम्राज्य उन्नति की सीमा को पहुच गया था। शुरू के मगोल सम्राट् बौद्ध धर्म के अनुयायी नही थे, क्योकि तेरहवी सदी से पूर्व मगोलिया मे बौद्ध धर्म का प्रवेश नही हुआ था। चगेज खा विविध देवी-देवताओ मे विश्वास रखता था, और उनकी पूजा के लिए विविध प्रकार के अनुष्ठान किया करता था। पर उसके समय मे बौद्ध प्रचारक चीन के उत्तर मे स्थित मगोलिया के क्षेत्र मे भी जाने लग गये थे, और मगोल सम्राटो को भी अपने साम्राज्य के विविध प्रदेशो मे प्रचलित बौद्ध धर्म से परिचय प्राप्त करने का अवसर मिलने लग गया था। मगोलो के विशाल साम्राज्य मे बौद्ध धर्म के अतिरिक्त इस्लाम, क्रिश्चिएनिटी, ताओ (चीन के क्षेत्र का एक प्राचीन धर्म) आदि अन्य भी अनेक धर्मों की सत्ता थी, और इन सब के प्रचारक मगोल सम्राटो को अपना अनुयायी बनाने के लिए प्रयत्नशील थे। मगोल सम्राट् भी इन धर्मों से परिचय प्राप्त करने के लिए इच्छुक थे। इसीलिए मगू खा ने १२५४ ई० मे अपनी राजधानी कराकुरम मे एक धर्मसम्मेलन का आयोजन किया, जिसमे विविध धर्मों के आचार्य एकत्र हुए। इसी प्रकार के सम्मेलन १२५५ और १२५६ मे भी आयोजित कराए गए। मगू खा इन सम्मेलनो मे विविध धर्मों के मन्तव्यो का श्रवण कर बौद्ध धर्म से बहुत प्रभावित हुआ।

१२५८ई० मे मंगू खा के उत्तराधिकारी कुबले खाँ ने विविध धर्मों का एक सम्मेलन बुलाया, जिसमे ३००० बौद्ध भिक्षु तथा २०० ताओ धर्म के विद्वान् भी सम्मिलित हुए थे। बौद्धो के जो प्रमुख आचार्य इस सम्मेलन मे उपस्थित थे, उनमे सर्वप्रधान फग्स-पा थे, जो तिब्बत के एक महाविहार के प्रधान स्थविर थे। इस सम्मेलन मे ताओ आचार्यों को शास्त्रार्थ मे बौद्धो ने परास्त किया, और बहुत-से ताओ विद्वानों ने बौद्ध धर्म को अंगीकार कर लिया। बाद मे कुबले खाँ ने फग्स-पा को अपना राजगुरु बनाया, और तिब्बत का शासन भी उनके सुपुर्द कर दिया। फग्स-पा के पाण्डित्य और सदाचरण से प्रभावित होकर कुबले खाँ स्वय भी बौद्ध-धर्म का अनुयायी बन गया। इस प्रकार उस प्रतिस्पर्धा का अन्त हुआ, जो मंगोलो को अपने-अपने धर्म मे दीक्षित करने के लिए विविध धर्माचार्यों मे चल रही थी। पर इस प्रसग मे यह ध्यान मे रखना चाहिए, कि मंगोल साम्राज्य की राजनीतिक एकता देर तक कायम नही रह सकी थी। कुबले खाँ के बाद यह साम्राज्य अनेक राज्यो मे विभक्त हो गया था—(१) चीन और मगोलिया

का राज्य। (२) रूस का मगोल राज्य। (३) साइबीरिया का मंगोल राज्य। (४) तुर्किस्तान या मध्य एशिया का मगोल राज्य। (५) पश्चिमी एशिया का मंगोल राज्य। उस युग मे मध्य एशिया तथा पश्चिमी एशिया के प्रदेशो मे इस्लाम का प्रचार हो चुका था। अतः वहाँ के मंगोल शासको ने इस्लाम के सम्पर्क मे आकर हजरत मुहम्मद के धर्म को अपना लिया था। पर चीन और मंगोलिया मे जिन मंगोलो का शासन रहा, बौद्ध आचार्यों और प्रचारको के प्रभाव के कारण वे भगवान् बुद्ध के अनुयायी हो गए थे। यहाँ हमे इन्ही मगोलो मे बौद्ध-धर्म के प्रचार पर प्रकाश डालना है।

सम्राट् कुबले खाँ के बौद्ध धर्म मे दीक्षित हो जाने (१२६० ई०) पर चीन तथा मगोलिया के मगोल राज्य के सभी खानो व सरदारो ने बौद्ध-धर्म को अपना लिया। मगोलो मे बौद्ध धर्म के प्रचार का प्रधान श्रेय यद्यपि फग्स-पा को ही दिया जाना चाहिए, पर उनसे पहले भी कुछ बौद्ध प्रचारक मगोलिया मे गए थे। इनमे सर्व-प्रथम स-क्या महाविहार के आचार्य आनन्दध्वज थे, जो १२२२ ई० मे मगोलिया गए थे। पर तब उन्हे अपने उद्देश्य मे अधिक सफलता प्राप्त नही हो सकी थी।

फग्स-पा बारह वर्ष तक चीन के मगोल राज्य मे रहे। वहाँ रहकर उन्होने अनेक बौद्ध ग्रन्थो का मगोल भाषा मे अनुवाद किया, और उसे लिखने के लिए एक नई लिपि भी बनाई। यह लिपि भारत तथा तिब्बत की लिपियो के समान शब्दो व अक्षरो के उच्चारणो के अनुसार थी। कुबले खाँ के राजदरबार तथा परिवार पर बौद्ध धर्म तथा भारतीय सस्कृति का इतना अधिक प्रभाव था, कि उसने अपने एक पुत्र का नाम मगल खाँ और एक पोते का नाम आनन्द खाँ रखा था। उसकी एक पुत्रवधू का नाम भी धर्मश्री था।

मगोल भाषा मे बौद्ध ग्रन्थो का अनुवाद प्राय. तिब्बती ग्रन्थो से ही किया गया। सस्कृत ग्रन्थो के तिब्बती अनुवादो का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उन्ही से इन धर्मग्रन्थो को मगोल भाषा मे अनूदित किया गया, और यह कार्य प्रधानतया उन मगोल विद्वानो ने किया, जिन्होने कि तिब्बत के महाविहारो मे रहकर बौद्ध धर्म, दर्शन तथा साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया था। नालन्दा और विक्रमशिला के नमूने पर जो अनेक महाविहार तिब्बत मे स्थापित थे, चौदहवी सदी मे उनमे हजारो मगोल विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने के लिए जाने लगे थे, और वे ही अपने देश लौट कर बौद्ध धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थो का मगोल भाषा मे अनुवाद करने का कार्य किया करते थे। मगोल राजा तिब्बत के इन महाविहारो की आर्थिक सहायता के लिए सदा तत्पर रहते थे। सन् १३६८ मे चीन से चगेज खाँ के मगोल वंशजो का शासन समाप्त हो गया, और वहाँ मिंग वश का शासन प्रारम्भ हुआ। पर १३६८ के बाद भी मंगोलिया के राजा (खान) तिब्बत के महाविहारो की सहायता करते रहे। तिब्बत के तृतीय दलाई लामा मगोलिया भी गए थे, क्योकि उस देश मे बौद्ध धर्म का रूप प्राय वही था जो तिब्बत में था, और तिब्बत के प्रचारको द्वारा ही वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार किया गया था। तृतीय दलाई लामा का देहान्त भी मगोलिया मे ही हुआ था, और उनके बाद जिस बालक को चतुर्थ दलाई लामा नियुक्त किया गया था, उसका अवतरण मंगोलिया

के ही एक परिवार में हुआ था। क्योकि मंगोलिया की भौगोलिक स्थिति तिब्बत से बहुत दूर है और ल्हासा मे रहते हुए धर्माचार्य (दलाई लामा) उस देश की धार्मिक आवश्यकताओ को भली-भाँति पूर्ण नही कर सकते थे, अतः मगोलिया की राजधानी उलान्बातूर मे एक अन्य लामा की गद्दी स्थापित की गई, जिसे तिब्बत के अन्यतम लामा तारानाथ का अवतार माना जाता है। इस प्रकार मगोलिया मे भी अवतारी लामाओ की परम्परा उसी प्रकार प्रराम्भ हो गई जैसी कि वह तिब्बत मे थी।

तिब्बती भाषा मे बौद्ध ग्रन्थो के दो सग्रह है, जिन्हे कन्-जूर और तन्-जूर कहते हैं। मगोल भाषा मे इनके अन्तर्गत विविध ग्रन्थो का अनुवाद कराया गया। कन्-जूर का अनुवाद चहर (आभ्यन्तर मगोलिया का अन्यतम प्रान्त) के कगान (खान) लेग्-दन्-ऊ-तुकतू (१६०३-३४) ने शासन काल मे कराया गया था। मञ्चू वश के सम्राट् चियेन-लुग (१७३६-९५) द्वारा तन्-जूर के अन्तर्गत ग्रन्थो के अनुवाद कराए गए थे। ये सब अनुवाद सस्कृत के मूल ग्रन्थो के बजाय उनके तिब्बती अनुवादो मे ही किए गए थे। मगोल भाषा मे कतिपय ऐसे भारतीय ग्रन्थो के अनुवाद भी विद्यमान हैं, जो तिब्बती भाषा मे नही है। ऐसा एक ग्रन्थ काश्यप मातग का द्विचत्वारिंशत्सूत्र है, जिसे चीनी से मगोल भाषा मे अनूदित किया गया था। उइगूर सदृश अन्य भी कतिपय ग्रन्थो का मगोल भाषा मे अनुवाद हुआ था।

यह सही है, कि मगोलिया मे जो बौद्ध धर्म गया, या भारतीय सस्कृति के कतिपय तत्त्वो का वहाँ जो प्रवेश हुआ, वह सीधा भारत से न जाकर तिब्बत द्वारा वहाँ गया था। पर मगोल लोगो के धर्म तथा सस्कृति का मूल स्रोत भारत ही है और मगोल इसे भली-भाँति जानते भी है।

आठवां अध्याय

कोरिया और जापान में बौद्ध धर्म का प्रचार

(१) कोरिया

तिब्बत और मंगोलिया के समान कोरिया और जापान के लोग भी बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं। पर इन देशो मे बौद्ध धर्म का प्रचार सीधे भारतीयो द्वारा न होकर चीन के प्रचारको द्वारा हुआ था। चौथी सदी (३७२ ईस्वी के लगभग) मे चीन से अनेक बौद्ध भिक्षु धर्म का प्रचार करते हुए कोरिया गए थे, और उन्हीं के प्रयत्न से वहाँ के निवासियो ने बौद्ध धर्म को अपनाना प्रारम्भ किया था। पर कोरिया के बौद्ध विद्वानों मे भारत आकर मूल सस्कृत ग्रन्थो के अध्ययन की इच्छा का होना सर्वथा स्वाभाविक था। अत कोरिया के अनेक भिक्षु भारत आए, और इस देश में रहकर उन्होंने सस्कृत भाषा तथा बौद्ध ग्रन्थो का अध्ययन किया। चीनी यात्री यि-त्सिग के यात्रा-वृत्तान्त से ज्ञात होता है, कि सातवी सदी मे कोरिया के पाँच भिक्षु भारत आए थे। इनमे से दो ६३८ ईस्वी मे अपने देश से चले थे, और भारत आ कर वे नालन्दा महाविहार मे रहे थे। उनकी मृत्यु भी नालन्दा मे हुई थी। सर्वज्ञानदेव नाम का कोरिया का एक भिक्षु तिब्बत और नेपाल के मार्ग से ६५० ईस्वी मे भारत आया था। कोरिया का एक अन्य भिक्षु, जिसका नाम प्रज्ञावर्मन् था, दस साल तक भारत मे रहा था। यि-त्सिग ने कोरिया के एक अन्य भिक्षु का भी उल्लेख किया है, जिसकी मृत्यु भी भारत मे ही हुई थी। कोरिया के दो भिक्षुओ का भारत आते हुए मार्ग मे ही देहावसान हो गया था। भारत से यदि कोई स्थविर व भिक्षु कोरिया गए होगे, तो उनके सम्बन्ध मे कोई जानकारी अब तक प्राप्त नही हो सकी है। पर इसमे सन्देह नही, कि पूर्वी एशिया के अन्य देशो के समान कोरिया मे भी बौद्ध धर्म तथा उसके साथ भारतीय सस्कृति का सूत्रपात हुआ था, और वहाँ भी अनेक विहार, चैत्य तथा स्तूप स्थापित किए गए थे। इनके निर्माण के लिए प्रधानतया काष्ठ का प्रयोग किया गया था, जिस कारण वर्तमान समय मे कोरिया मे पुराने विहार व चैत्य आदि अधिक सख्या मे उपलब्ध नही हैं। पर इस देश के मध्य मे विद्यमान वज्रपर्वत (कोङ्-गो-सान्) मे अनेक प्राचीन विहारो के अवशेष इस समय भी पाए जाते है। इनमे एक फू-चुन विहार है, जिसकी स्थापना चौथी या पाँचवी सदी मे हुई थी। वहाँ की पुरानी इमारतें तो अब नष्ट हो चुकी हैं, पर वहाँ एक ऐसा चैत्य अभी तक भी है जो तीन सौ वर्ष पुराना है। इस स्थान पर पत्थर का बना एक स्तूप भी है, जो ६ फीट के लगभग ऊँचा है। यह स्तूप बहुत प्राचीन है, और पत्थर का बना होने पर भी बहुत जीर्ण-शीर्ण दशा मे है।

वज्रपर्वत के क्षेत्र मे ही एक अन्य प्राचीन विहार है, जिसे यू-देन्-जी विहार कहते हैं। इसकी स्थापना भी चौथी सदी मे ही हुई थी। एक पुरानी स्थानीय अनुश्रुति के अनुसार यह विहार उसी स्थान पर बनाया गया था, जहाँ धर्म प्रचार के लिए आए भारतीय भिक्षुओ को नवनागो ने डराकर भगाना चाहा था। इन भारतीय भिक्षुओ के क्या नाम थे, और ये कहाँ से व किस प्रकार कोरिया के वज्रपर्वत पर पहुँचे थे, यह ज्ञात नही है। यहाँ भी पत्थरो से बनाया हुआ एक चौकोर स्तूप है, जिसे चौथी सदी का माना जाता है। वज्रपर्वत के क्षेत्र मे ही प्यव-हुन-शा विहार है, जिसकी स्थापना भिक्षु प्यव-हुन द्वारा ६७७ ईस्वी मे की गई थी। वर्तमान समय मे कोरिया मे जो अन्य विहार है, वे अधिक पुराने नही है। पर इसमे सन्देह नही, कि चौथी सदी के बाद वहाँ बौद्ध धर्म निरन्तर फलता-फूलता रहा।

कोरिया मे लिखने-पढने के लिए जिस लिपि का प्रयोग किया जाता रहा है, वह उच्चारणनुरूप (फोनेटिक) न होकर सकेत लिपि है, और चीनी लिपि पर आधारित है। चीन की लिपि सकेत या भाव को सूचित करती है। ० यह सकेत शून्य का है, जिसे अग्रेजी जानने वाला जीरो पढ लेगा और उर्दू जानने वाला सिफर। एक ही सकेत को भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलने वाले व्यक्ति भिन्न-भिन्न ढग से पढेगे। क्योकि चीनी भाषा मे अनूदित बौद्ध ग्रन्थ सकेत लिपि मे लिखे हुए थे, और कोरिया मे भी सकेत लिपि ही प्रचलित थी, अत. कोरिया के लोगो को उन्हे पढने और समझने मे कठिनाई नही हुई, और उन्होने कोरिया की भाषा मे उनका अनुवाद करने की आवश्यकता भी अनुभव नही की।

(२) जापान

जापान मे बौद्ध धर्म का सूत्रपात कोरिया द्वारा हुआ था। जापान कोरिया से अधिक दूर नही हैं, और सिमोनोसाकी से कोरिया के समुद्रतट की दूरी केवल १२२ मील है। बीच के समुद्र मे भी अनेक द्वीपो की सत्ता है, जिनके कारण जलमार्ग द्वारा कोरिया से जापान जाना-आना बहुत सुगम रहा है। इसी कारण बहुत प्राचीन समय से कोरिया और जापान मे राजनीतिक तथा सास्कृतिक सम्बन्ध कायम थे। छठी सदी मे कोरिया मे अनेक राज्य थे, जिनमे एक कुदारा था। कुदारा का यह राज्य दक्षिणी कोरिया मे था। ५३८ ईस्वी मे कुदारा के राजा ने अपने दूत जापान के राजा की सेवा मे भेजे, जिनके हाथ एक पत्र के साथ कुछ बौद्ध ग्रन्थ, बुद्ध और अर्हतों की मूर्तियाँ तथा पूजासामग्री भी प्रेषित की गई। कुदार के राजा द्वारा भेजे गए पत्र की कुछ पक्तियाँ इस प्रकार थी—"यह धर्म सबसे उत्तम है, और इसे अवगत करना भी कठिन है। चीन के मुनियो के लिए भी इसे समझ सकना सुगम नही था। पर इसके अनुयायी असीम सुख के भागी तथा बुद्धत्व की प्राप्ति के अधिकारी होते हैं। जैसे चिन्तामणि को सब कामनाओ को पूरा करने वाली समझा जाता है, वैसे ही यह बहुमूल्य रत्न मनुष्यो की अभिलाषाओ को अवश्य पूर्ण करता है। यह धर्म सुदूर भारत से कोरिया मे आया है, और बीच के देशो के सभी लोग इसके पक्के अनुयायी हैं।"

चौथी सदी मे कोरिया में बौद्ध धर्म का सूत्रपात हो चुका था, और पाँचवीं सदी के अन्त तक वहाँ इस धर्म का भलीभाँति प्रचार हो गया था। यही कारण है, जो कुदारा के राजा ने जापान के राजा के नाम भेजे हुए पत्र में बौद्ध धर्म की प्रशंसा की थी। पर जापान का राजदरबार अभी इस धर्म को अपनाने के लिए उद्यत नही था। कुदारा के राजा द्वारा भेजे हुए उपहारो को स्वीकार करने के प्रश्न पर राजदरबार मे मतभेद हो गया। पर इससे जापान में बौद्ध धर्म का प्रवेश रुका नही। अनेक सामन्तो, सम्भ्रान्त कुलों और राजपदाधिकारियो का विरोध होते हुए भी वहाँ धीरे-धीरे इस धर्म का प्रचार होता रहा। इसी का यह परिणाम हुआ, कि छठी सदी के अन्तिम चरण मे जापान के राजा सुशून तेन्नो और उसकी रानी ने व्यक्तिगत रूप से बौद्ध धर्म को अपना लिया, और उनका पुत्र शोतोकू ५६२ ईस्वी मे जब राजसिंहासन पर आरूढ हुआ, तो उसने बौद्ध धर्म को जापान का राजधर्म घोषित कर दिया। जापान के प्राचीन इतिहास मे शोतोकू का स्थान अत्यन्त महत्व का है। वह एक कुशल शासक था, और उसके शासनकाल मे जापान की बहुत उन्नति हुई। साथ ही, बौद्ध धर्म मे उसकी अगाध श्रद्धा थी, और धर्मग्रन्थों का अनुशीलन कर वह उनका उपदेश भी किया करता था। उसने कतिपय बौद्ध ग्रन्थो पर व्याख्याएँ भी लिखी थी, जिनमे सद्धर्मपुण्डरीक पर लिखी व्याख्या अब तक भी उपलब्ध है। शोतोकू द्वारा अनेक विहारो तथा मन्दिरो का भी निर्माण कराया गया था, जिनमे होर्योजी मन्दिर सबसे प्रसिद्ध है। जापान के बौद्ध इसे बोधगया के समान ही मानते है।

शोतोकू के बाद बौद्ध धर्म ने जापान मे बहुत तेजी के साथ उन्नति की। वहाँ बहुत-से विहारो तथा चैत्यो का निर्माण कराया गया, जिनमे बुद्ध, बोधिसत्त्वो, अर्हतो और देवी-देवताओ की विशाल तथा कलात्मक मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित की गई। जापान मे बौद्ध-धर्म के प्रसार एवं विकास का विवरण इस ग्रन्थ मे लिख सकना न सम्भव है, और न उसकी आवश्यकता ही है। वर्तमान समय तक भी जापान मे उसी ढग से बौद्ध धर्म विद्यमान है, जैसे कि लका और बरमा सदृश अन्य बौद्ध देशो मे है। बौद्ध धर्म के साथ-साथ जापान मे उस कला तथा सस्कृति का भी प्रवेश हुआ, जिसका मूल स्रोत भारत था। भारत से यह सस्कृति चीन गई थी, और वहाँ से कोरिया तथा जापान मे। जिस प्रकार चीन के बौद्ध विद्वान् तथा भिक्षु अपनी ज्ञानपिपासा को शान्त करने लिए भारत आया करते थे, वैसे ही जापान के लोग चीन की यात्रा किया करते थे। दो-शो (६२९-७००) नामक जापानी भिक्षु ने चीन जाकर ह्यु एन्-त्साग से शिक्षा ग्रहण की थी, और यह प्रसिद्ध चीनी विद्वान् भारत से जिन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो को अपने साथ ले गया था उनके चीनी अनुवादो को दो-शो जापान ले गया था। दो-शो के सामान अन्य भी कितने ही जापानियों ने चीन की यात्रा की थी।

यद्यपि जापान मे बौद्ध धर्म का सूत्रपात कोरिया और चीन के भिक्षुओ द्वारा हुआ था, पर कतिपय भारतीय भी वहाँ धर्मप्रचार के लिए गये थे। इनमें बोधिसेन सर्वप्रधान थे, और उनके व्यक्तित्त्व तथा कृतित्त्व का जापान के प्राचीन ग्रन्थों से अच्छा परिचय प्राप्त होता है। वे दक्षिणी भारत के एक ब्राह्मणकुल मे उत्पन्न हुए थे, और

उसका गोत्र बरचि (भरद्वाज) था। उन्होने समुद्र के मार्ग से चीन के लिए प्रस्थान किया, और वहाँ जाते हुए चम्पा के एक भिक्षु से उनकी भेंट हुई, जिसका नाम बुत्तेत्सु था। बोधिसेन और बुत्तेत्सु ७३३ ईस्वी मे चीन पहुँच गये। चीन में वे मंजुश्री नामक आचार्य से भेंट करना चाहते थे। पर मजुश्री वहाँ नही थे। यह जानकर कि वे जापान गये हुए है, बोधिसेन ने जापान जाने का निश्चय किया। चीन के राजदरबार मे स्थित एक जापानी राजदूत तब अपने देश जा रहा था। जब उसे ज्ञात हुआ, कि बोधिसेन भी जापान जाना चाहते है, तो उसने उन्हे अपने साथ चलने के लिए निमन्त्रित किया। इस प्रकार बोधिसेन और बुत्तेत्सु ७३६ ईस्वी मे जापानी राजदूत के साथ जापान पहुँच गये। जब वे ननीवा (ओसोका) के बन्दरगाह पर पहुँचे तो वहाँ उनका बडी धूमधाम के साथ स्वागत हुआ। उनके पाण्डित्य की कीर्ति उनसे पहले ही जापान पहुँच चुकी थी, अत वहाँ के राजा ने बहुत-से उच्च राजपदाधिकारी उनके स्वागत के लिए भेजे। जापान के अनेक बौद्ध स्थविर और भिक्षु भी उनके स्वागत के लिए बन्दरगाह पर उपस्थित थे। बौद्ध धर्म के साथ-साथ सस्कृत भाषा का भी जापान मे प्रवेश हो चुका था, और वहाँ के स्थविर इस भारतीय भाषा का समुचित ज्ञान रखते थे। यह इस बात से सूचित होता हे, कि बोधिसेन का स्वागत करते हुए जापानी स्थविर ने सस्कृत और जापानी—दोनो भाषाओ का प्रयोग किया था। बोधिसेन के निवास की व्यवस्था एक विहार मे की गई की, और उनकी सब आवश्यकताओ की पूर्ति का प्रबन्ध राजा की ओर से किया गया था।

७४६ ईस्वी मे जापान मे बुद्ध वैरोचन की एक विशाल मूर्ति प्रतिष्ठापित की गई थी, और बोधिसेन ने ही इसे प्रतिष्ठापित करने की विधि को सम्पादित किया था। चम्पा का भिक्षु बुत्तेत्सु सगीत मे बहुत प्रवीण था। मूर्ति-प्रतिष्ठा के समय सगीत का जो आयोजन हुआ, उसकी व्यवस्था बुत्तेत्सु द्वारा की गई थी। ७५० ईस्वी मे बोधिसेन को जापान के बौद्ध सघ का प्रधान स्थविर नियुक्त किया गया, और वे वहाँ 'बरमन सोजो' (ब्राह्मण स्थविर) नाम से प्रसिद्ध हुए। अपना शेष जीवन उन्होने जापान मे ही व्यतीत किया, और वहाँ के विविध विहारो में सस्कृत भाषा तथा महायान सम्प्रदाय के सिद्धान्तो का अध्यापन करने मे वे अपने समय का सदुपयोग करते रहे। ७६० ईस्वी मे ५७ वर्ष की आयु मे उनका देहावसान हुआ। जापान मे उनका सम्मान इतना अधिक था, कि उनकी अस्थियो पर एक स्तूप का निर्माण किया गया, और उनके एक शिष्य ने एक शिलालेख भी उत्कीर्ण कराया।

इसी समय मे चीन और कोरिया के भी कतिपय भिक्षु जापान गए थे। जापान मे बौद्ध धर्म के प्रचार मे उनका स्थान भी अत्यन्त महत्त्व का है। कोरिया का जिन्-जो नाम का भिक्षु आठवी सदी के द्वितीय चरण मे जापान गया था, और वहाँ उसने एक नए बौद्ध सम्प्रदाय की स्थापना की थी। ७५४ ईस्वी मे चीनी भिक्षु कजिन् जापान गए थे। उन्होने भी वहाँ एक नए सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया था, और जनता के हित-कल्याण का सम्पादन करने के प्रयोजन से स्थान-स्थान पर धर्मार्थ चिकित्सालयो तथा-औषध-उद्यानो की स्थापना करायी थी। जापान मे उनका इतना अधिक सम्मान हुआ,

कि उन्हें राजगुरु के पद पर नियुक्त कर दिया गया। ७६३ ईस्वी में जापान में ही उनकी मृत्यु हुई।

बौद्ध धर्म के प्रचार के कारण जापान मे बुद्ध, बोधिसत्वों, अर्हतों और देवी-देवताओं की मूर्तियों का निर्माण प्रारम्भ हुआ, और उन्हें प्रतिष्ठापित करने के लिए बहुत-से मन्दिर बनवाये गए। जापान के निवासी अब तक भी बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं, अत: बौद्ध विहारो तथा चैत्यो की परम्परा वहाँ अविच्छिन्न रूप से विद्यमान हैं। वहाँ के अनेक विहार अत्यन्त विशाल है, और साथ ही वे प्राचीन भी हैं। होर्योजी विहार का निर्माण छठी सदी के अन्तिम भाग मे शोतोकू द्वारा कराया गया था। इसे बनाने मे काष्ठ का प्रचुरता के साथ उपयोग किया गया है। लकडी की दीवारो पर पलास्तर करके उस पर चित्र बनाये गए हैं, जो अजन्ता की चित्रकला का स्मरण दिलाते हैं। छठी सदी मे भारत की चित्रकला सभी बौद्ध देशो मे प्रचलित थी। होर्योजी मे भी भित्तिचित्रो के निर्माण के लिए चित्रकला की इसी शैली का अनुसरण किया गया था। स्थानीय अनुश्रुति के अनुसार इस विहार की मूर्तियो के निर्माण के लिए मिट्टी भारत से लायी गई थी। इस बात मे यदि सचाई न भी हो, तो भी इससे यह तो सूचित हो ही जाता है, कि जापान के बौद्धो की दृष्टि मे भारत-भूमि कितनी पवित्र थी। ७०६ ईस्वी मे सम्राट् शोमू ने नारा को अपनी राजधानी बनाया था। उसी द्वारा वहाँ अनेक मन्दिरो तथा विहारो का निर्माण कराया गया, जो जापान के प्राचीन बौद्ध केन्द्रो में अत्यन्त महत्त्व के है। ७५२ मे इस श्रद्धालु राजा ने दाईवुत्सु (महाबुद्ध) की एक बैठी मूर्ति ढलवाई थी, जिसके लिए १२,२७५ मन पीतल, ६० मन पारा तथा १०½ मन सोना प्रयुक्त किया गया था। इस मूर्ति की ऊँचाई ५३½ फीट और परिधि ६६ फीट है। यहाँ एक मृगदाव (हिरणो का वन) भी है, जिसे सारनाथ के प्राचीन मृगदाव से प्रेरणा प्राप्त कर बनवाया गया था। जापान मे अन्य भी बहुत-से प्राचीन विहार तथा बौद्ध मन्दिर है, जिनमे बुद्ध, बोधित्सवो आदि की हजारो कलात्मक मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित हैं। ६८० ईस्वी मे निर्मित याकुसी-जी विहार के साथ बने एक मन्दिर मे भैषज्यगुरु बुद्ध की एक मूर्ति है, जिसके प्रभामण्डल मे सस्कृत के कुछ वाक्य उस लिपि मे लिखे हैं, जो हर्षवर्धन के समय मे भारत के मध्यदेश मे प्रयुक्त होती थी। जापान मे बौद्ध धर्म का एक सम्प्रदाय है, जिसे 'शिगोन सम्प्रदाय' कहते है। इसके प्रवर्तक कोबो थाइसी थे, जिसका जन्म ७७४ ई० मे हुआ। वर्तमान समय मे इसके १२ हजार से भी अधिक मन्दिर जापान में विद्यमान हैं। शिगोन सम्प्रदाय के भिक्षुओ के लिए सस्कृत के मन्त्रों तथा सातवी सदी में उत्तरी भारत मे प्रचलित लिपि को सीखना आवश्यक समझा जाता है, क्योकि उनकी पूजाविधि इन्ही पर आधारित है। ये सब बाते जापान पर भारतीय धर्म तथा सस्कृति के प्रभाव को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं।

जापान की अपनी लिपि मे ५० अक्षर हैं, जो उच्चारण पर आधारित (फोनेटिक) हैं। अनेक जापानी विद्वानो के मत मे जापान की इस वर्णमाला का निर्माण बोधिसेन द्वारा किया गया था। पर यह मत सब कोई को स्वीकार्य नही है। पर इसमे सन्देह नही, कि बोधिसेन के समय (आठवी सदी का पूर्वार्ध) से भी पहले जापान में

भारत की वर्णमाला प्रयुक्त होने लग गई थी। जापान के कतिपय मठों मे ताड-पत्रो पर लिखे हुए ऐसे ग्रन्थो के पृष्ठ विद्यमान है, जो चौथी सदी मे भारत मे प्रचलित लिपि मे लिखे हुए है। होर्योजी के विहार मे विद्यमान एक हस्तलिखित ग्रन्थ ६०६ ईस्वी मे जापान ले जाया गया था। यह भी ताड-पत्रो पर लिखा हुआ है, और भारतीय लिपि में हैं। जापान मे इतने पुराने भारतीय लिपि मे लिखित ग्रन्थो की सत्ता इस बात का प्रमाण है, कि आठवी सदी से भी पहले भारत की वर्णमाला तथा लिपि वहाँ प्रविष्ट हो चुकी थी, और यदि उन द्वारा जापान की अपनी वर्णमाला तथा लिपि प्रभावित हुई हो, तो यह सर्वथा स्वाभाविक था।

बुत्तेत्सू का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। बोधिसेन के साथ जापान जाने वाला चम्पा का यह भिक्षु सगीत मे पारंगत था। सम्राट् शोमू ने नारा मे जो विहार स्थापित किया था, बुत्तेत्सू चिरकाल तक वहाँ सगीत और नृत्यकला का शिक्षक रहा, और उसी द्वारा वहाँ सप्तस्वरो पर आधारित भारतीय सगीत का सूत्रपात हुआ। बोधिसेन के समान बुत्तेत्सू भी सस्कृत का प्रकाण्ड पण्डित था। उसने सस्कृत सिखाने के लिए एक पुस्तिका भी लिखी थी, जिसे जापान के शिक्षणालयो मे आदर की दृष्टि से देखा जाता था।

नवाँ अध्याय

सुदूर पूर्व के अन्य देशों में भारतीय संस्कृति

(१) हिन्द-चीन (इण्डोचायना) का क्षेत्र

सामान्यतया सुदूर-पूर्व से चीन और जापान का ही ग्रहण होता है, और हिन्द-चीन, इन्डोनेसिया, मलायीशिया, सिंगापुर, बरमा आदि को दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्तर्गत माना जाता है। दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रदेशों में भारतीय सस्कृति के प्रसार के विषय पर हमने एक पृथक् ग्रन्थ मे विशद रूप से प्रकाश डाला है। पर हिन्द-चीन के क्षेत्र (जिसमे वर्तमान समय के वियतनाम, कम्बोडिया और लाओस के राज्यो की स्थिति है) और इन्डोनीसिया के प्रदेशो के साथ प्राचीन समय मे चीन का घनिष्ठ सम्बन्ध था, और इन प्रदेशो से भारतीय धर्मों के प्रचारक तथा विद्वान् अच्छी बडी सख्या में सुदूर पूर्व के देशो मे जाते-आते रहते थे, अत यह उपयोगी होगा कि इन प्रदेशों में भारतीय सस्कृति के प्रसार का इस ग्रन्थ मे भी सक्षेप के साथ उल्लेख कर दिया जाए।

फूनान—विएतनाम के पश्चिम मे स्थित कम्बोडिया राज्य मे प्राचीन समय में एक भारतीय राज्य की सत्ता थी, जिसका नाम फूनान था। वहाँ के मूल निवासी असभ्य और जंगली थे। ईसा की पहली सदी मे जावा से जाकर कुछ भारतीय वहाँ बसे, और उन्होंने वहाँ सभ्यता का सूत्रपात किया। फूनान मे पहला राज्य-संस्थापक राजा कौण्डिन्य नाम का एक ब्राह्मण था। उसने वहाँ के मूल निवासियो की रानी सोमा के साथ विवाह कर एक नये राजवश की स्थापना की। कौण्डिन्य अकेला फूनान नही गया था, उसके साथ अन्य भी बहुत-से भारतीय वहाँ जाकर बसे थे जो सदा के लिए अपनी मातृभूमि को प्रणाम कर फूनान मे बस गये थे।

कौण्डिन्य के बाद के राजा फान्-चे-मन् (मृत्युकाल २२५ ईस्वी) ने फूनान राज्य का बहुत विस्तार किया, और मलाया तक के प्रदेश को जीत लिया। २४० ई० प० के लगभग फूनान के राजदूत भारत आये थे, और पाटलिपुत्र के मूलुन (मुरुण्ड) राजा के दरबार मे गये थे। फूनान के राजा शैव धर्म के अनुयायी थे, और उनकी भाषा सस्कृत थी। वहाँ के राजाओं द्वारा उत्कीर्ण कराये हुए अनेक शिलालेख इस समय भी उपलब्ध हैं। ये लेख शुद्ध सस्कृत भाषा मे हैं, और इनके अध्ययन से ज्ञात होता है, कि पाँचवीं-छठी सदियो के फूनान मे शैव धर्म के साथ-साथ वैष्णव और बौद्ध धर्मों का भी प्रचार था।

कम्बुज राज्य—यह राज्य वर्तमान कम्बोडिया के उत्तरी भाग में स्थित था। यह भी भारतीयों का ही एक उपनिवेश था, और शुरू में फूनान के राज्य के अन्तर्गत था। जिस राजा ने कम्बुज के उत्कर्ष का प्रारम्भ किया, उसका नाम भववर्मा था।

फूनान को परास्त कर उसने जो अमित सम्पत्ति प्राप्त की थी, वही उसके वंश के उत्कर्ष मे सहायक हुई। सियाम के सीमान्त पर एक शिवलिङ्ग मिला है, जिसकी पीठिका पर यह लेख उत्कीर्ण है—"धनुष के पराक्रम से जीती निधियो को प्रदान कर उभय लोक कर-धारी राजा श्री भववर्मा ने त्र्यम्बक के इस लिङ्ग की प्रतिष्ठा की।" इसी समय का एक अन्य लेख मिला है, जो इस प्रकार है—"वह श्री भववर्मा की भगिनी तथा श्री वीरवर्मा की पुत्री थी, जो अपने पति और धर्म की भक्ति मे दूसरी अरुन्धती थी। उसी हिरण्यवर्मा की माता को जिसने पत्नी के रूप मे ग्रहण किया, उस ब्राह्मणो मे सोमसमान स्वामी···सामवेदवित् अग्रणी श्री सोमशर्मा ने पूजाविधि और अतुलदान के साथ सूर्य और त्रिभुवनेश्वर की प्रतिष्ठा की। प्रतिदिन अखण्ड पाठ के लिए उसने रामायण और पुराण के साथ सम्पूर्ण (महा) भारत को प्रदान किया।" ये लेख यह समझने के लिए पर्याप्त है, कि छठी सदी मे कम्बुज देश की संस्कृति और धर्म का क्या स्वरूप था। उस युग मे यह प्रदेश पूर्णरूप से भारतीय था, और वहाँ के राजा एक भारतीय धर्म (शैव धर्म) के अनुयायी थे। भववर्मा के बाद महेन्द्रवर्मा कम्बुज राज्य का स्वामी बना। उसके एक शिलालेख मे 'शिवपद' के दान का वर्णन है। भारत मे विष्णुपद की पूजा तो अब तक होती है, गया मे विष्णुपद विद्यमान भी है, पर 'शिवपद' की पूजा नही होती। परन्तु वर्तमान कम्बोडिया मे सातवी सदी मे शिवपद की पूजा भी प्रचलित थी, और राजा महेन्द्रवर्मा ने उसकी प्रतिष्ठा कर एक शिलालेख उत्कीर्ण कराया था।

महेन्द्रवर्मा के बाद ईशानवर्मा कम्बुज राज्य के राजसिंहासन पर आरूढ हुआ। उसकी राजधानी का नाम 'ईशानपुर' था, जिसकी स्थापना सम्भवत· उसी ने अपने नाम पर की थी। वह भारत के सम्राट् हर्षवर्धन का समकालीन था, और उसने ६१६ ईस्वी मे अपना एक दूतमण्डल चीन भेजा था। चीन की ऐतिहासिक अनुश्रुति मे इस राजा का उल्लेख है। ईशानवर्मा के उत्तराधिकारियो के शासन-काल के भी अनेक उत्कीर्ण लेख कम्बोडिया से उपलब्ध हुए है, जिनमे शकाब्द का प्रयोग किया गया है। भारत के समान कम्बुज के प्राचीन लेखो मे भी शकाब्द का प्रयोग इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के सुदूरवर्ती इस राज्य का भारत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था, और कम्बुज न केवल धर्म, भाषा और संस्कृति की दृष्टि मे ही भारतीय था, अपितु वहाँ की ऐतिहासिक परम्परा भी भारतीय थी।

सातवी सदी मे जावा (यवद्वीप) के शैलेन्द्रवंशी राजाओ ने अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए कम्बुज पर भी आक्रमण किया, और उसे जीतकर अपने अधीन कर लिया। पर कम्बुज देर तक शैलेन्द्र साम्राज्य की अधीनता मे नही रहा। नवी सदी के प्रारम्भ (८०२ ईस्वी) मे वहाँ एक ऐसे वीर पुरुष का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने एक बार फिर कम्बुज को स्वतन्त्र किया। इस वीर पुरुष का नाम जयवर्मा था। इसके शासन-काल से कम्बुज राज्य के सुवर्ण-युग का प्रारम्भ हुआ, और इस देश ने बहुत उन्नति की। जयवर्मा के साथ सम्बन्ध रखने वाले अनेक शिलालेख कम्बुज मे उपलब्ध हुए हैं, और उनसे उसकी कीर्ति, वीरता और समृद्धि का भली-भाँति परिचय मिलता है।

जयवर्मा के बाद उसके पुत्र जयवर्धन (८६९-८७७) ने और फिर इन्द्रवर्मा (८७७-८८९) ने कम्बुज का शासन किया। इन्द्रवर्मा के बाद उसका पुत्र यशोवर्मा (८८९-९०९) कम्बुज का राजा बना। इन्द्रवर्मा बड़ा प्रतापी राजा था। उसने पूर्व की ओर आक्रमण कर चम्पा के राज्य को जीत लिया। इस विजय से कम्बुज की शक्ति बहुत बढ़ गयी। कम्बोडिया मे सस्कृत भाषा के बहुत-से शिलालेख उपलब्ध हुए हैं, जो इन राजाओं द्वारा उत्कीर्ण कराये गये थे। इनको पढ़ने से ज्ञात होता है, कि कम्बुज देश मे इन सदियो मे सस्कृत की वही स्थिति थी, जो भारत मे थी। समुद्रगुप्त और रुद्रदामा की प्रशस्तियो के समान कम्बुज देश के ये शिलालेख भी संस्कृत की साहित्यिक शैली के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

तेरहवी सदी के अन्त तक कम्बुज के भारतीय उपनिवेश की स्वतन्त्रता कायम रही। मगोल सम्राट् कुबले खाँ ने १२९६ मे उसे जीतकर अपने अधीन कर लिया, और तब उसकी स्वतन्त्र सत्ता का अन्त हुआ।

कम्बुज भारतीय सस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। शिव, विष्णु, दुर्गा आदि पौराणिक देवी-देवताओं की वहाँ पूजा हुआ करती थी। वेद, पुराण, रामायण, महाभारत आदि का वहाँ उसी प्रकार अध्ययन होता था, जैसा कि भारत मे। राजा ईशानवर्मा ने कम्बुज मे अनेक आश्रम बनवाये। जैसे बौद्ध धर्म के मठ विहार कहाते थे, वैसे ही पौराणिक धर्म के मठो को आश्रम कहते थे। इनमे सन्यासी लोग निवास करते थे, और बौद्ध भिक्षुओ की तरह धर्म प्रचार, विद्याध्ययन तथा शिक्षण कार्य मे व्यापृत रहते थे। राजा ईशानवर्मा के समय मे ही कम्बुज मे शिव (हर) और विष्णु (हरि) की सम्मिलित मूर्ति बनाई गयी। इससे सूचित होता है, कि कम्बुज देश के शैव और वैष्णव शिव और विष्णु मे अभेद और अविरोध मानते थे। नवी सदी मे कम्बुज का राजा यशोवर्मा था। उसने यशोधरपुर नाम से अपनी नयी राजधानी बनायी थी। उसके भग्नावशेष अगकोरथोम मे उपलब्ध हैं। इस नगरी के चारो ओर ३३० फीट चौडी खाई है, जिसके भीतर की ओर एक विशाल प्राचीर बनी हुई है। नगर वर्गाकार है, जिसकी प्रत्येक भुजा लम्बाई मे दो मील से भी अधिक है। नगर के महाद्वार विशाल व सुन्दर है। इनके दोनो ओर रक्षको के लिए मकान बने हैं। तीन सिर वाले विशाल हाथी द्वारो की मीनारो को अपनी पीठ पर थामे हुए हैं। सौ फीट चौड़े और मील भर लम्बे पाँच राजमार्ग द्वारो से नगर के मध्य तक गये हैं। पक्की चिनाई के भिन्न-भिन्न आकृतिवाले अनेक सरोवर अब तक भी अंगकोरथोम के खण्डहरो मे विद्यमान है। नगर के ठीक बीच में शिव का एक विशाल मन्दिर है। इसके तीन खण्ड हैं। प्रत्येक खण्ड पर एक-एक ऊँची मीनार है। बीच की मीनार की ऊँचाई भग्न दशा मे भी १५० फीट के लगभग है। ऊँची मीनार के चारो ओर बहुत-सी छोटी-छोटी मीनारें हैं। इनके चारो ओर एक-एक नरमूर्ति बनी हुई है, जो समाधिस्थ शिव की मूर्तिया है। इस विशाल शिव मन्दिर मे स्थान-स्थान पर सुन्दर चित्रकारी की गई है। पौराणिक धर्म के किसी मन्दिर के इतने पुराने और विशाल अवशेष भारत मे कहीं उपलब्ध नही होते। बारहवीं सदी के पूर्वार्ध मे कम्बुज देश का राजा सूर्यवर्मा द्वितीय था। उसने एक

विशाल विष्णु मन्दिर का निर्माण कराया, जो अंगकोर वात के रूप मे अब तक भी विद्यमान है। इसके चारों ओर की खाई की चौडाई ७०० फीट है। झील के समान चौडी इस खाई को पार करने के लिए पश्चिम की ओर एक पुल बना है। पुल पार करने पर एक विशाल द्वार आता है, जिसकी चौडाई १००० फीट से भी अधिक है। खाई और महाद्वार को पार करने पर जो मन्दिर है, वह भी विशाल है।

अंगकोरथोम और अगकोरवात के अतिरिक्त अन्य भी बहुत-से प्राचीन अवशेष कम्बोडिया मे विद्यमान है, जो प्राय भग्न मन्दिरो, शीर्ण राजप्रासादो और उजडी हुई नगरियो के रूप मे है। ये सब अवशेष जिस युग के स्मारक है, उसमे कम्बोडिया पूर्ण रूप से भारतीय उपनिवेश था, और उसकी भाषा, धर्म, सस्कृति आदि सब भारतीय थे। इस देश के धर्म मे पहले पौराणिक हिन्दू-धर्म की प्रधानता थी, पर बाद मे उस का ह्रास होकर बौद्ध-धर्म का जोर बढ गया।

चम्पा—विएत-नाम के क्षेत्र मे भारत का सबसे पुराना उपनिवेश चम्पा था। यह ईस्वी सन् के प्रारम्भिक भाग मे स्थापित हुआ था। चीनी ऐतिहासिक अनुश्रुति के अनुसार चम्पा की स्थापना १९२ ईस्वी के लगभग हुई थी। इस उपनिवेश की स्थिति कम्बोडिया (कम्बुज) के पूर्व मे और विएत-नाम के दक्षिणी भाग मे थी। चम्पा का पहला भारतीय राजा श्रीमार था। इसका समय दूसरी सदी ई० प० के अन्तिम भाग मे था। श्रीमार और उसके उत्तराधिकारी विशुद्ध भारतीय राजा थे। उनकी भाषा सस्कृत थी, और उनका धर्म शैव था। इन राजाओ द्वारा उत्कीर्ण कराये हुए सस्कृत भाषा के अनेक शिलालेख दक्षिणी विएत-नाम मे उपलब्ध हुए हैं।

चीनी ऐतिहासिक अनुश्रुति से ज्ञात होता है, कि फनवेन नाम के चम्पा के एक भारतीय राजा ने ३४० ई० मे चीन के सम्राट् के पास एक राजदूत भेजा था। उसने अपने दूत से यह कहलवाया कि चीन और चम्पा के राज्यों के बीच की सीमा होन-सोन पर्वतमाला को निश्चित कर दिया जाय। इस नई सीमा के अनुसार न्हुत-नाम का उपजाऊ प्रदेश चम्पा के राज्य मे सम्मिलित हो जाता था। चीनी सम्राट् इसके लिए तैयार नहीं हुआ। इसपर ३४७ ई० मे फनवेन ने चीन पर आक्रमण कर दिया, और न्हुत-नाम को जीतकर चम्पा के राज्य को होन-सोन पर्वतमाला तक विस्तृत कर दिया। यद्यपि इस युद्ध मे चम्पा के राजा फनवेन की मृत्यु हो गयी, पर उसके प्रयत्नो के कारण चम्पा का राज्य बहुत समृद्ध तथा शक्तिशाली हो गया। चीन और चम्पा का सघर्ष फनवेन के बाद भी जारी रहा। चम्पा के राजा फन फो (३४९ से ३९० ई० प० तक) के शासनकाल मे चीन अपने खोये हुए प्रदेश (न्हुत-नाम) को पुन. जीत लेने के लिए निरन्तर प्रयत्न करता रहा। यह यत्न फन हुता (३९० से ४१३ ई० प० तक) के समय मे भी जारी रहा।

यह ध्यान मे रखना चाहिए, कि चम्पा के राजाओ के फनवेन आदि जो नाम हमने दिए है, वे चीनी अनुश्रुति के अनुसार है। राजा फन-हुता का असली नाम धर्म-महाराज श्री भद्रवर्मा था। इस राजा के अनेक लेख चम्पा मे उपलब्ध हुए हैं। श्रीभद्रवर्मा वेदो का परम विद्वान् और महापण्डित था। उसने शिव के एक विशाल

मन्दिर का निर्माण करवाया, और उसमे भद्रेश्वरस्वामी शिव की मूर्ति की प्रतिष्ठा की। यह मन्दिर चम्पा मे धर्म और सस्कृति का केन्द्र बन गया, और इसकी कीर्ति देर तक स्थिर रही। भद्रवर्मा का उत्तराधिकारी गगाराज (४१३ से ४१५ ई० प० तक) था। उसके शासनकाल मे चम्पा मे अव्यवस्था फैल गयी, और वह राजसिंहासन का परित्याग कर गगावास के लिए भारत चला आया। चम्पा के ये राजा धर्म, भाषा, सस्कृति आदि मे पूर्णतया भारतीय थे। वहाँ के अन्यतम राजा इन्द्रवर्मा तृतीय (६११-६७२) के एक शिलालेख मे उसे षड्दर्शन, बौद्ध-दर्शन, काशिकावृत्ति सहित पाणिनीय व्याकरण, आख्यान तथा शैव उत्तरकल्प का प्रकाण्ड पण्डित कहा गया है। (मीमासा षट्तर्क जिनेन्द्रसूर्मिस्सकाशिकाव्याकरणोदकौघ.। आख्यानशैवोत्तरकल्पमीन: पटिष्ठ एतेष्विति सत्कवीनाम् ।।)।

(२) मलायीसिया तथा इन्डोनेसिया के प्रदेश

मलाया—दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशो के समान मलाया (मलयद्वीप) मे भी भारतीयो ने अपने अनेक उपनिवेश प्राचीन समय मे स्थापित किये थे। अनुश्रुति के अनुसार पाटलिपुत्र के राजवश का कोई राजकुमार तीसरी सदी ई० प० में समुद्रमार्ग द्वारा मलाया गया था, और वहाँ उसने अपना शासन स्थापित किया था। मलाया मे इस भारतीय राजकुमार का नाम 'मरोङ्' प्रसिद्ध है। मरोङ् के बाद मलाया मे महापोदिसत (महाबोधिसत्व) और श्रीमहावश आदि राजा हुए। मरोङ् द्वारा स्थापित भारतीय उपनिवेश का नाम लकाशुक था। इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेक भारतीय राज्य मलाया मे विद्यमान थे। यही कारण है, कि वहाँ बहुत-से ऐसे अवशेष उपलब्ध हुए है, जिनका सम्बन्ध भारतीय धर्म और सस्कृति के साथ है। गनोङ् जिराई के समीप सुँगइवन की जमीदारी मे एक हिन्दू मन्दिर के अवशेष और अनेक प्रस्तर-मूर्तियाँ मिली है। इसके समीप ही चौथी सदी मे बने एक बौद्ध मन्दिर के अवशेष प्राप्त हुए हैं, जिनके साथ सस्कृत का एक शिलालेख भी है। मलाया के वेल्जली जिले के उत्तरी भाग मे बौद्ध-मन्दिरो के बहुत-से स्तम्भ मिले हैं, जो उनपर उत्कीर्ण अक्षरो से चौथी-पाँचवी सदी के माने जाते हैं। पेराक राज्य के शलिनसिङ् स्थान से गरुडारूढ़ विष्णु की मूर्ति प्राप्त हुई है, जिसके साथ सोने का एक आभूषण भी है। प्राचीन युग के ये और इसी प्रकार के अन्य अवशेष इस बात के ठोस प्रमाण है, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य प्रदेशो के समान मलाया मे भी प्राचीन काल मे भारतीय धर्म, भाषा और सस्कृति का प्रचार था।

सुमात्रा (सुवर्णद्वीप)—हिन्द महासागर के द्वीपो मे भी प्राचीन समय मे भारतीयो ने अपने उपनिवेश स्थापित किये थे। इन द्वीपो को आजकल सामूहिक रूप से इण्डोनेशिया कहते हैं। इण्डोनेशिया के अन्तर्गत द्वीपों मे सुमात्रा का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसे प्राचीन समय मे सुवर्णद्वीप कहते थे, और इसका सबसे पुराना राजनीतिक केन्द्र श्रीविजय था, जो कम्पर नदी के तट पर स्थित था। श्रीविजय की स्थापना चौथी सदी ईस्वी से पहले ही हो चुकी थी। पर सातवी सदी मे इसने बहुत

अधिक उन्नति की, और इसके प्रतापी राजाओं ने पडोस के अनेक प्रदेशो को जीतकर अपने अधीन कर लिया। ६८४ ईस्वी मे श्रीविजय के राजसिंहासन पर जयनाग का अधिकार था, जो धर्म से बौद्ध था। ६८६ मे उसने जावा (यवद्वीप) की विजय के लिए सेनाएँ भेजी। श्रीविजय के राजनीतिक इतिहास को यहाँ लिखना उपयोगी नही है, पर महत्त्व की बात यह है, कि यह नगर धर्म, सस्कृति और ज्ञान का बडा केंद्र था। चीनी यात्री यि-त्सिग सात साल (६८८ से ६९५ ई० प०) तक यहाँ रहा था, और यहीं रहकर उसने सस्कृत भाषा का अध्ययन किया था। यि-त्सिग के अनुसार चीनी यात्री भारत जाते हुए पहले श्रीविजय रहकर सस्कृत का ज्ञान प्राप्त किया करते थे। सस्कृत के बहुत-से शिलालेख श्रीविजय और सुमात्रा के अन्य स्थानो से उपलब्ध हुए हैं।

जावा (यवद्वीप)—इण्डोनेशिया के अन्तर्गत द्वीपो में जावा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका प्राचीन नाम यवद्वीप था। दूसरी सदी तक वहाँ भारतीय लोग बस चुके थे। चीनी अनुश्रुति के अनुसार ६५ ई० प० के लगभग भारतीयो ने इस द्वीप मे बसना प्रारम्भ किया था। १३२ ईस्वी मे जावा का राजा देववर्मा था, जिसने अपना राजदूत चीन के सम्राट् की राजसभा मे भेजा था। पाँचवी सदी के शुरू (४१४ ई० प०) मे जब प्रसिद्ध चीनी यात्री फाइयान भारत से चीन लौटा, तो वह मार्ग मे यवद्वीप भी ठहरा। फाइयान के यात्रा-विवरण मे सूचित होता है, कि इस द्वीप मे भारतीय लोग अच्छी बडी सख्या मे निवास करते थे, और उनमे से बहुत-से शैव धर्म के अनुयायी थे। फाइयान जिस जहाज से यवद्वीप गया था, उसमे २०० भारतीय व्यापारी भी थे।

पाँचवी सदी मे यवद्वीप व उसके समीपवर्ती अन्य द्वीपो मे बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। इसका प्रधान श्रेय गुणवर्मा को है। गुणवर्मा का स्थान उन प्रचारको में बहुत ऊँचा है, जिन्होने विदेशो मे बौद्ध-धर्म का प्रचार किया। तीस वर्ष की आयु मे वह लका गया, और कुछ समय वहाँ रहकर फिर उसने जावा के लिए प्रस्थान किया। जावा की राजमाता शीघ्र ही उसके प्रभाव मे आ गयी, और उसने बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर लिया। माता की प्रेरणा से जावा के राजा ने भी बौद्ध-धर्म की दीक्षा ली। इसी समय किसी विदेशी सेना ने जावा पर आक्रमण किया। अहिंसा-प्रधान बौद्ध-धर्म के अनुयायी राजा के सम्मुख यह समस्या उपस्थित हुई, कि इस आक्रमण का मुकाबला करने के लिए युद्ध करना चाहिए या नही। इस समस्या का समाधान गुणवर्मा ने किया। उसने कहा कि दस्युओ को नष्ट करना हिंसा नही है, और उनसे युद्ध करना सबका धर्म है। आक्रमण करने वाली शत्रु-सेनाएँ परास्त हो गयी, और जावा की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रही। गुणवर्मा की कीर्ति जावा के समीप के सब भारतीय उपनिवेशो मे फैल गयी थी। चीन मे भी उसके ज्ञान और गुण का यश पहुँच गया था। चीनी भिक्षुओ ने अपने राजा से प्रार्थना की, कि गुणवर्मा को चीन निमन्त्रित किया जाए। भिक्षुओ का आवेदन स्वीकार कर चीन के सम्राट् ने अपना दूत जावा के राजा और गुणवर्मा के पास भेजा और यह प्रार्थना की कि आचार्य चीन पधारें। चीन के सम्राट् की प्रार्थना को गुणवर्मा ने स्वीकार कर लिया, और ४३१ ईस्वी में वह

दक्षिणी चीन में नानकिंग पहुँच गया। जिस जहाज पर गुणवर्मा चीन गया था, वह नन्दी नाम के भारतीय व्यापारी का था, जो भारत का माल बेचने के लिए चीन जा रहा था। जावा और समीप के अन्य द्वीपो में बौद्ध-धर्म के प्रचार मे गुणवर्मा का कर्तृत्व बहुत अधिक है।

जावा मे संस्कृत भाषा में लिखे हुए अनेक शिलालेख उपलब्ध हुए हैं। इनमें से चार लेख पाँचवी सदी के मध्य भाग के हैं, जिन्हें राजा पूर्णवर्मा ने उत्कीर्ण कराया था। पूर्णवर्मा की राजधानी तारूमा थी, जो वर्तमान जाकर्ता के समीप ही स्थित थी। इन लेखो से यह भी सूचित होता है, कि पूर्णवर्मा के पूर्वज राजाधिराज ने चन्द्रभागा नामक नहर खुदवाकर उसे समुद्र तक पहुँचवाया था। पूर्णवर्मा ने स्वयं भी गोमती नाम की एक नहर खुदवाई थी।

शैलेन्द्र वंश—सातवी सदी मे श्रीविजय (सुमात्रा मे) के प्रतापी शैलेन्द्रवंशी राजाओं ने जावा को जीतकर अपने साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिया। शैलेन्द्र वश के राजा बडे महत्त्वाकाक्षी और प्रतापी थे। उन्होने न केवल जावा को अपने अधीन किया, अपितु मलाया, कम्बोडिया और दक्षिण वर्मा को भी जीत लिया। सातवी सदी से बारहवी सदी तक शैलेन्द्र वंश के राजा दक्षिण-पूर्वी एशिया के बहुत-से प्रदेशो और द्वीपो पर शासन करते रहे। इन राजाओ के शिलालेख न केवल सुमात्रा मे अपितु जावा आदि अन्य द्वीपो मे भी अच्छी बडी सख्या मे उपलब्ध हुए हैं। ये सब लेख संस्कृत मे हैं, और इनसे शैलेन्द्र राजाओं के वैभव और शक्ति का सुचारु रूप से परिचय प्राप्त होता है। ये राजा बौद्ध-धर्म के अनुयायी थे, और उनके संरक्षण के कारण दक्षिण-पूर्वी एशिया मे बौद्ध-धर्म का बहुत अधिक उत्कर्ष हुआ। उन्होंने इस क्षेत्र में बहुत-से बौद्ध विहार व चैत्यो का भी निर्माण कराया। शैलेन्द्र वश की दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्राचीन इतिहास में वही स्थिति है, जो कि भारत के इतिहास मे गुप्तवंश की थी। इन राजाओं ने न केवल इण्डोनेशिया के प्राय: सब द्वीपो को अपितु इण्डोचायना के बडे भाग, मलाया और दक्षिण बरमा को भी जीतकर अपने साम्राज्य मे सम्मिलित किया। भारत के साथ भी इन शैलेन्द्र राजाओं का घनिष्ट सम्बन्ध था। यही कारण है, कि जहाँ इन राजाओ के उत्कीर्ण लेख जावा, सुमात्रा, मलाया आदि मे उपलब्ध होते हैं, वहाँ भारत में भी इनके साथ सम्बन्ध रखने वाले कुछ लेख मिले हैं। चीनी और अरब लेखकों ने भी इनके विषय मे बहुत कुछ लिखा है। अरब लेखक इब्न रोस्ता (६०३ ई० प०) ने लिखा था, कि "जावक (जावा) का महान् शासक महाराज कहलाता है। वह भारत के राजाओं मे सबसे बडा इसलिए नही माना जाता, क्योकि वह द्वीपो का स्वामी है। उस जैसा धनी एवं शक्तिशाली दूसरा कोई राजा नहीं है, और न किसी की उतनी बडी आमदनी ही है।" भारत मे नालन्दा की खुदाई से एक ताम्रपत्र मिला है, जिसमें श्रीविजय के शैलेन्द्र राजा का वर्णन है। इस ताम्रपत्र मे यह उल्लेख किया गया है, कि शैलेन्द्रवंशतिलक यवभूमिपाल महाराज श्री बालपुत्र देव ने नालन्दा में एक विहार का निर्माण कराया, और उसके लिए राजा देवपाल से कहकर राजगृह विषय (जिले) के नन्दिवनक, मणिवाटक, नाटिकाग्राम तथा हस्तिग्राम और गया विषय (जिले) के पामालक गाँव का

दान किया। पालवंशी भारतीय राजाओ के सामान श्रीविजय के शैलेन्द्र राजा भी नालन्दा के महाविहार के सरक्षक थे, यह इस ताम्रपत्र से सूचित होता है।

शैलेन्द्र वंश के राजाओ की कीर्ति और प्रताप के स्मारकरूप अनेक स्तूप व विहार अब तक भी दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध प्रदेशों मे विद्यमान हैं। उनका सबसे पुराना अवशेष कलसन-मदिर है, जो आठवी सदी मे बना था। इसे शैलेन्द्र राजा पर्णकरण ने ७७८ ई० मे बनवाया था, और कलसगाँव नाम के एक ग्राम के साथ उसे भिक्षुसघ को दान किया था। यह मन्दिर बृहत्तर भारत की वास्तु-कला का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। पर शैलेन्द्रयुग की सबसे महत्त्वपूर्ण कृति बरोबदूर का महाचैत्य है, जो साँची के स्तूप के समान एक पहाडी पर स्थित है। जावा मे विद्यमान यह विशाल स्तूप चारो ओर एक के ऊपर एक सीढीनुमा नौ चक्करो से मिलकर बना है, जिनमे ऊपर की ओर का प्रत्येक चक्कर अपने से नीचे वाले चक्कर से थोडा भीतर की ओर सिमटा हुआ है। सबसे ऊपर के चक्कर के ऊपर घटाकार चैत्य है। सबसे नीचे के चक्कर की लम्बाई १३१ गज है, और सबसे ऊपर के चक्कर की ३० गज। अगकोरथोम के मन्दिर के समान बरोबदूर का यह चैत्य भी वस्तुत एक अद्भुत और विशाल इमारत है, जो दर्शको को आश्चर्य मे डाल देती है। इस चैत्य के विविध गलियारो मे सब मिलाकर १५०० चित्रावलियाँ चित्रित हैं, जिनका सम्बन्ध बौद्ध कथाओ के साथ है।

बाली द्वीप—जावा के पूर्व मे बाली नाम का छोटा-सा द्वीप है, जिसकी जनसख्या दस लाख के लगभग है। इन्डोनेशिया के अन्य द्वीपो से तो इस समय हिन्दू-धर्म का लोप हो चुका है, पर बाली मे वह अब तक भी जीवित रूप मे विद्यमान है। चीनी अनुश्रुति द्वारा ज्ञात होता है, कि छठी सदी ईस्वी मे बाली द्वीप मे भारतीयो का निवास था, और वहाँ के राजवश का नाम कौण्डिन्य था। ५१८ ई० प० मे बाली के भारतीय राजा ने अपना एक राजदूत चीन के सम्राट् की सेवा मे भी भेजा था। इण्डोनेसिया के अन्य द्वीपो के समान बाली से भी संस्कृत भाषा मे लिखे हुए अनेक शिलालेख उपलब्ध हुए हैं।

बोर्नियो—इण्डोनेशिया के द्वीपो मे बोर्नियो सबसे बडा है। इस द्वीप के सबसे पुराने उत्कीर्ण लेख महकम नदी के तट पर उपलब्ध हुए हैं, जिनसे सूचित होता है कि प्राचीन समय मे वहाँ भी भारतीयो का उपनिवेश विद्यमान था। ४०० ईस्वी मे लग-भग के चार शिलालेख इस द्वीप से मिले हैं, जिनमे राजा अश्ववर्मा के पुत्र मूलवर्मा के दान-पुण्य और यज्ञो का वर्णन है। संस्कृत भाषा के ये लेख जिन स्तम्भो पर उत्कीर्ण हैं, वे राजा मूलवर्मा के यज्ञो मे यूप के तौर पर प्रयुक्त होने के लिए बनाए गए थे। इन यज्ञो के अवसर पर वप्रकेश्वर तीर्थ मे बीस हजार गौएँ और बहुत-सा धन दान दिया गया था।

पूर्वी बोर्नियो मे भी बहुत-से ऐसे ध्वंसावशेष मिले हैं, जो इस द्वीप मे हिन्दू-संस्कृति की सत्ता के अकाट्य प्रमाण हैं। इनमें कोम्बेङ की गुफा सबसे महत्त्वपूर्ण है। यह गुफा तेलेन नदी की ऊपरी धारा के पूर्व मे स्थित है। गुफा मे दो कोठरियाँ हैं। पिछली कोठरी मे बलुए पत्थर से बनी हुई बारह मूर्तियाँ हैं, जो शिव, गणेश, नन्दी, अगस्त्य, नन्दीश्वर, ब्रह्मा, स्कन्द और महाकाल की हैं।

शब्दानुक्रमणिका